॥ ॐ अर्हम् ॥

सहस्रावधानी काली सरस्वती विरुद्धारक युगप्रधान
आचार्य श्री मुनिसुन्दर सूरीश्वरजी रचित

अध्यात्म कल्पद्रुमाभिधानः

विवेचक :
फतहचन्द महात्मा

॥ ॐ २४ नमः ॥

सहस्रावधानी काली सरस्वती विरुद्धारक युगप्रधान
आचार्य श्री मुनिसुन्दर सूरीश्वरजी विरचित

अध्यात्म कल्पद्रुमाभिधान ग्रन्थः

(मूल, श्लोकार्थ, विवेचन)

विवेचक

फतहचन्द श्रीलालजी महात्मा

प्रकाशक

फतहचन्द श्रीलालजी महात्मा

व्यवस्थापक—श्री सातवीस देवरी जैन मंदिर

किला चित्तौड़गढ़

तथा

श्री जैन धर्मशाला स्टेशन चित्तौड़गढ़ (राजस्थान)

वीर संवत् २४८४	प्रथमावृत्ति १०००	रक्षाबन्धन
विक्रम संवत् २०१५	मूल्य—पांच रुपये	२९ अगस्त १९५८

अग्रिम ग्राहकों की सेवा में डाक खर्च सहित ५) में।

व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती,
रोगाश्च शत्रव इव ग्रहरन्ति देहम् ।
आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भो,
लोकस्तथाऽप्यहितमाचरतीति चित्रम्।।

वृद्धावस्था भयङ्कर बाघिनी की तरह सामने खड़ी है। रोग शत्रुओं की तरह आक्रमण कर रहे हैं, आयु फूटे हुए घड़े के पानी की तरह निकली जा रही है। आश्चर्य की बात है, फिर भी लोग वही काम करते हैं, जिससे उनका अनिष्ट हो।

वै. श. १०६

—भर्तृहरि

विद्युत लक्ष्मी प्रभुता पतंग, आयुष्य ते तो जलना तरंग ।
पुरंदरी चाप अनंग रंग, शुंराचिए त्यां क्षण नो प्रसंग ।।

—श्रीमद् राजचन्द्र

मुद्रक
प्रतापसिंह लूणिया
जोब प्रिंटिंग प्रेस, ब्रह्मपुरो; अजमेर
इस स्वजातीय प्रेस में सब प्रकार की छपाई का काम बहुत
उमदा सस्ता और जल्दी होता है

संचालक—जीतमल लूणिया

विषयसूची

विषय (शुरू के ४० पृष्ठों की सूची)	पृष्ठ सं०
प्रयोजन	७
धर्मऋण	१४
उपकार	१५
आभार	१६
दक्षिण भारत के संस्मरण	१८
आशीर्वाद	२२
अग्रिम ग्राहकों की सूची	२५
जैनधर्म परकतिपय सम्मतियां	३३
भूमिका	३५
दो शब्द (ग्रंथ तथा महात्माजाति)	१
ग्रन्थ तथा ग्रन्थकर्ता	८
श्लोकों की परिभाषा	१६
प्रथम अधिकार—समता	१७
द्वितीय अधिकार—स्त्री ममत्व मोचन	७४
तृतीय अधिकार—अपत्य ममत्व मोचन	८७
चतुर्थ अधिकार—धन ममत्व मोचन	९४
पंचम अधिकार—देह ममत्व मोचन	१०६
षष्ठ अधिकार—विषय प्रमाद त्याग	११९
सप्तम अधिकार—कषाय त्याग	१३२
अष्टम अधिकार—शास्त्राभ्यास	१५४
नवम अधिकार—चित्त दमन	१७७
दशम अधिकार—वैराग्योपदेश	१९५

विषय	पृष्ठ सं०
मनुष्यभव की दुर्लभता के ११ दृष्टांत	२११
एकादश अधिकार—धर्म शुद्धि	२३७
द्वादश अधिकार— गुरु शुद्धि	२५४
त्रयोदश अधिकार—यति शिक्षा	२७४
आठ सिद्धियां	२९८
बाईस परीषह	३२१
चरण सित्तरी के ७० भेद	३२४
करण सित्तरी के ७० भेद	३२६
चतुर्दश अधिकार—मिथ्यात्वादि निरोध	३५०
पञ्चदश अधिकार—शुभवृत्ति	३८०
षोडश अधिकार—साम्य सर्वस्व	३९३
मनुष्य भव की दुर्लभता के १० दृष्टांत—श्री सिंदूर प्रकरम से	४०३
सुभाषित संग्रह (१) श्री उत्तराध्ययन सूत्र से	४१०
,, (२) श्री सूत्रकृतांग से	४१७
,, (३) श्री आचारांग सूत्र से	४२४
,, (४) श्री दशवैकालिक सूत्र से	४३०
,, (५) श्री कुंदकुंदाचार्य के समयसार से	४३६
,, (६) ,, ,, प्रवचनसार से	४३८
संकलित—बारह भावनाओं का सरूप श्लोकों में	४४३
मन के विषय में पद्य—श्री यशोविजयजी कृत	४४५
,, ,, श्री विनयविजयजी कृत	४४५
वैराग्योपदेशक पद्य—श्री ज्ञान विमलसूरि कृत	४४६
श्री आनन्दघनजी कृत पद्य ४	४४७
गीत—पल पल बीते उमरिया—श्री केवलमुनिजी	४४९
नज़म—सब ठाठ पड़ा रह जावेगा—श्री नज़ीर	४५०

समर्पण

पंजाब देशोद्धारक न्यायांभोनिधि स्व० आ० श्री १००८ विजयानन्दजी (आत्मारामजी) महाराज के पट्टधर पंजाब केसरी मरुधर देशोद्धारक, विद्यावारिधी ज्ञानप्रकाशक स्व० आ० श्री विजयवल्लभसूरीश्वर के पुनीत चरणों में यह विवेचन ग्रथ समर्पण कर अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पण करता हूं। आपके करकमलों द्वारा स्थापित विद्यादात्री माता आत्मानन्द जैन गुरुकुल गुजरांवाला की गोद में मैं पला हूं अतः उसे भी शतसः अभिनन्दन करता हूं।

गुरुचरणोपासक

फतहचन्द महात्मा

दुर्लभं प्राप्य मानुष्यं विधेयं हितमात्मनः ।
करोत्य कांड एवेह मृत्युः सर्वं न किंचन ।।
सत्ये तस्मिन्न सारासु संपत्स्वविहिता ग्रहः ।
पर्यन्त दारुणा सूच्चैर्धर्मः कार्यो महात्मभिः ।।

अर्थ—दुर्लभ मनुष्य जन्म प्राप्त करके आत्मा का हित करना चाहिए; कारण कि मृत्यु अकस्मात आकर के सब कुछ नष्ट कर देती है ।

ऐसी मृत्यु से असार और परिणाम से दारुण भय देने वाली सम्पत्ति में जो मोह नहीं धरता है वैसे महात्मा को उच्च प्रकार से धर्म करना चाहिए ।

धर्मबिंदु—हरिभद्रसूरिकृत

प्रयोजन

पूर्व पुण्य के बिना प्राणी को सद्ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है। अनादि काल से चले आते हुए संसार में जीव अज्ञान दशा से चौरासी लाख योनियों में जन्मता है व मरता है। काल का शासन सर्वोपरि है। सतत बहने वाली महा नदी के समान यह तो निरंतर बहता ही रहता है, इसकी कोई मर्यादा या सीमा नहीं है। एकेंन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के प्राणी को अपना किया हुआ भुगतना पड़ता है। मोह दशा के कारण जीव अपना भान भूला हुवा है इसीलिए उसका पुनर्जन्म होता है। जीवन मरण की यह श्रङ्खला एक पहेली है। इस पहेली को सुलझाना ही तप है, योग है, ज्ञान है या परमात्मपद की प्राप्ति है। इस पहेली को सुगमता से समझने के लिए यह ग्रन्थ "अध्यात्मकल्पद्रुम" मार्गदर्शक है।

इस नाशवान, परिवर्तनशील संतप्त संसार में कौन अमर रहा है। जो जन्में हैं उनको मरना ही है यह तो ध्रुव सत्य है। चाहे हम पारिवारिक मोह से या नाटक सिनेमा के रंगीले वातावरण से इसको भुलाना चाहें तो भी कालदेव एक न एक दिन इसको सत्य करके बताएगा। इस दुःखभरे संसार की कैसी विचित्रता है। एक प्राणी अपना पेट भरने के लिए दूसरे जीवों को खाने के लिए दर से बाहर निकलता है तो दूसरा उसीसे अपनी भूख मिटा लेता है। एक अधिक धन के लोभ से बाजार में सट्टा खेलता है और चाहता है कि मैं भी आलीशान बंगले व मोटर रखूं

परन्तु क्षणमात्र में उसको अपना पुराना मकान व सारा सामान तक बेच डालना पड़ता है फिर भी ऋण अदा नहीं होता है। एक, संसार के कपट व्यवहार से या कुटुम्ब के विषैले वातावरण से गृहत्यागी बनता है परन्तु धीरे-धीरे अपने मायाजाल में फंस जाता है। यही संसार की परिपाटी है।

कोई अंधा है कोई बहरा है, कोई लूला है कोई लंगड़ा है, कोई असाध्य रोगी है तो कोई बहुपरिवार वाला दरिद्री है। कोई निसंतान वाला धनी है तो कोई बहुसतान निर्धन है। अतः इस दुःख भरे संसार में से अपने आपको निकालना चाहिए। सुबह से शाम तक की शारीरिक महनत, या मानसिक पीड़ा सहते हुए भी हम जो धन कमाते हैं वह हमारे लिए नहीं है। उसका भोगने वाला कोई दूसरा ही है, अतः इस व्यवसायं में से बचाकर थोड़ा सा समय हमें अपने लिए, अपनी आत्मा के लिए निकालना चाहिए नहीं तो जैसे आए थे वैसे ही चले जाएंगे। आत्म शांति की प्यास बुझ नहीं पाएगी अतः इस असंतोष के कारण अनेक भवों में दुख उठाना पड़ेगा पुनः मानव भव पाना दुर्लभ होजाएगा अत स्वयं को संतुष्ट करने वाली वस्तु जो अध्यात्म ज्ञान है, उसका पठन पाठन श्रवण नितांत आवश्यक हैं। यह ग्रन्थ आत्म शांति के लिए अजोड़ है। हमें संसार में से जाना है ही फिर जाने से पूर्व क्यों न अपने आपको पहचान कर अनन्त आनन्द का अनुभव किया जाय। क्यों न ऐसे स्थान पर पहुँचा जाय जहां से फिर आया ही न जाय। उस स्थान (मोक्ष) के लिए अध्यात्म

ज्ञान, मनन व तप की आवश्यकता है। यह ग्रंथ मोक्ष का सोपान है। आयु तो पूरी होगी ही चाहे अच्छी करणी करते हुए बिताओ चाहे पाप करणी करते हुए परन्तु फल दोनों का अलग अलग होगा, अतः विवेक द्वारा सोचकर मोक्ष की तरफ बढ़ते हुए आयु को बिताना चाहिए।

इस अमूल्य ग्रंथ के पढ़ने का उपदेश मुझे श्री मंगलविजय जी महाराज सा० (नीति सूरीश्वरजी के प्रशिष्य) ने दिया था जिनका मैं ऋणी हूँ। इस अपूर्व ग्रन्थ को रचना परम अध्यात्मयोगी, अनेक ग्रन्थों के रचयिता, तथा 'संतिकरं स्तवन' के कर्ता श्री मुनिसुन्दर सूरिजी ने प्रायः वि० सं० १४७५ से १५०० के बीच में की थी। श्री धनविजयगणिजी ने इस पर एक टीकालिखी थी जिसे बहुत वर्ष व्यतीत होगए। वर्तमान में इस पर विस्तृत विवेचन स्वनाम धन्य, साक्षर, अध्यात्म चिंतक स्व० श्री मोतीचन्द भाई गिरधरलाल कापड़िया ने गुजराती भाषा में किया और श्री जैन धर्म प्रसारक सभा भावनगर ने वि० सं० १९६५ में इसका प्रकाशन किया। यह विवेचन ग्रन्थ बहुत ही विस्तृत है। इसमें प्रत्येक विषय का प्रतिपादन बहुत गहराई से किया गयाहै। इसे पढ़ते-पढ़ते मुझे आंतरिक प्रेरणा हुई कि क्यों न मैं भी हिंदी भाषा में इसका स्वतन्त्र विवेचन करूँ जो अधिक विस्तृत न होकर सरल हो और हिन्दी पाठकों के उपयोगी हो। फलतः वि० सं० २०१३ विजयादशमी के मंगल प्रभात में मैंने इसका प्रारंभ किया और वि० सं० २०१४ माघ शक्ला १० के शुभ दिन में इतिश्री किया। पश्चात् इसको

सुधराने की भावना से मैं अहमदाबाद गया। आचार्य श्री महेंन्द्र-सूरिजी महाराज साहब ने इसको बड़ी खुशी से देखा व इस पर अपनीसम्मति लिखदी। पश्चात् आगम प्रभाकर श्रीपुण्यविजयजी महाराज साहब ने भी आशीर्वाद लिखा। इतना होचुकने के पश्चात इसके प्रकाशन की व्यवस्था के लिए में मारवाड़ की तरफ आया। सद्भाग्य से आयंबिल व पूजा करने की भावना से चैत्री पूनम को तखतगढ़ उतरा वहां श्री रूपविजयजो व भानु-विजयजी महाराज के दर्शन हुए और उनके उपदेश से संघवी सांकलचन्दजी भाई ने रु० १०१) से शुरुआत की पीछे तो सिलसिला शुरू हुआ बाद में परमोपकारी गुरुदेव श्रीमहेन्द्रसूरिजी का पत्र लेकर में मद्रास गया वहां श्री ऋषभदासजी (स्वामीजी) के सहयोग से ग्राहक बनाता हुआ बैंगलोर, मैसूर, रायचूर आदि गया इन सबका आभार अलग लिख कर मानूँगा।

सुज्ञ बन्धुओ ! मेरा यह प्रयास केवल भावना के वशीभूत होकर ही हुआ है। न तो मैं विद्वान हूँ, न अध्यात्मज्ञान ही मुझ में है न वैराग्य की भावना ही है, भाषा ज्ञान भी साधारण है परन्तु जैसे वसंत ऋतु से कोयल को प्रेरणा मिलती है और वह जहां तहां आम के वृक्ष पर बैठकर पंचमराग में टुहुक-टुहुक करती है वैसे ही इसी ग्रन्थ ने स्वयं ने ही मुझे यह प्रेरणा प्रदान की और यह भगीरथ कार्य सम्पन्न हुवा है।

विवेचन करते हुए पहले मैंने श्रीमोतीचन्द भाई के गुजराती के विस्तृत विवेचन को पढ़ा है, पश्चात उसकी महत्वपूर्ण वस्तुओं को न छोड़ते हुए संक्षेप से अपने शब्दों में अपनी विचार धारा

सहित इसको लिखा है। अत्यन्त महत्व के विषयों को तो कहीं कहीं पर शब्दशः अनुवाद करके लिख दिया है ।

पूज्य पाठको ! यह जो कुछ आप श्री के करकमलों में उपस्थित है वह आपके ही एक धर्मबंधु द्वारा अर्पण है। मुझ में कुछ भी शक्ति नहीं है। यह सब मेरे परमोपकारी पंजाब केसरी, विद्याप्रेमी स्व० आ० श्री विजयवल्लभसूरिजी की कृपा का परिणाम है जिनके द्वारा स्थापित श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल गुजरांवाला पंजाब का मैं तथा मेरे भाई श्री दीपचंदजी हुकमचंदजी व धर्मचंदजी स्नातक हैं।

ऐसे उच्चकोटि के अध्यात्म संबंधी ग्रन्थ के साथ मेरा नाम लगाते हुए मुझे लज्जा प्रतीत होरही है। कहां तो प्रखर विद्वान् कालिसरस्वती विरुदधारक श्री मुनिसुन्दर सूरीश्वरजी महाराज तथा श्री मोतीचन्द भाई और कहां अल्प बुद्धि मैं । वे सूर्य-चन्द्र हैं, मैं उनके समक्ष छोटा दीपक भी नहीं हूँ। परंतु इस ग्रन्थ के रचयिता ने संतकरं स्तवन की रचना जिस पुण्य पवित्र भूमि में की थी वही भूमि देलवाड़ा मेवाड़ मेरी भी जन्मदातृ है अतः स्वाभाविक ही इस ग्रन्थ के प्रति मेरा आकर्षण है और मैं गन्थकर्ता का दो तरह से ऋणी हूँ।

ग्रंथ का विवेचन करते हुए मुझे कहीं-कहीं पर कटु शब्दों का प्रयोग भी करना पड़ा है और विशेषकर यति शिक्षा के अध्ययन में तो इसकी अधिकता है। यह अध्ययन वास्तव में बहुत ही महत्व का है और इस पर कुछ लिखना श्रावक के लिए अनाधिकार चेष्टा है। ग्रन्थकार ने श्लोकों द्वारा जो उपदेश दिया है

वही पर्याप्त है, यह जानते हुए भी श्रीमोतीचंद भाई ने भावार्थ में अपनी विचारधारा प्रस्तुत की है और मैंने भी वैसा ही दुःसाहस किया है। ग्रन्थ में सच्चे गुरू को सिंह की उपमा दी है जबकि कुगुरु को सियार बताया है। मोतीचंद भाई के लेखन काल को आज लगभग ५० वर्ष होगए हैं। इस समय में और उस समय में बहुत अन्तर पड़ गया है। इस अर्ध-शताब्दी में जैनसमाज, जैनाचार्य और जैन साधु-यति आदि त्यागी वर्ग में बड़ा परिवर्तन होगया है। समाज के कर्णधार कुम्भकर्णी निद्रा में सो रहे हैं, उन्हें जागृत करने वाले जैनाचार्य ही कुसंप के वातावरण में पनप रहे हैं, तथा द्वेषाग्नि से दग्ध हो रहे हैं अतः समयोचित शब्दों में जो कुछ मैंने निवेदन किया है उसका असर यदि उनपर हुआ तो समाज के सद्भाग्य जागे जानिये।

सच्ची बात कहने व लिखने वाला प्रायः शत्रु गिना जाता है तथा उसके प्रति विपरीत प्रचार किया जाता है जैसा कि मोतीचन्द भाई के विरुद्ध भी मैंने कहीं-कहीं पढ़ा है। यही तो सच्चे व झूठे की पहचान की कसौटी है। जो सच्चा आत्मार्थी है, वह वास्तविक बात पर खिन्न नहीं होगा वरन् अपने आपको सुधारने का प्रयत्न करेगा परन्तु जो बाहर से और तथा अन्दर से और है वह अपनी कुत्सितता का प्रदर्शन करने के लिए जो कुछ अनुचित न करे करावे वह थोड़ा है। इसके ज्वलंत व प्रत्यक्ष प्रमाण समाज के समक्ष हैं। समाज छिन्न भिन्न हो रहा है।

ग्रंथकर्ता की भावना शुद्ध थी, वे सभी का हित चाहते थे अतः उन्होंने ऐसे उपयोगी ग्रन्थ की रचना की थी। उसी

भावना के वशीभूत होकर उसको पुष्टि मे श्री मोतीचन्दभाई ने विवेचन किया एवं उसी दृष्टि से मैंने भी यह अल्प प्रयास किया है।

जीवमात्र के कल्याण की दृष्टि से प्रेरित होकर अपनी तुच्छ बुद्धि का मैंने परिचय दिया है जो कि विद्वानों के लिए तो हंसी का पात्र हो सकता है परन्तु मेरे जैसे उनअल्पबुद्धि वाले तथा साधारण मनुष्यों के लिए यह उपयोगी है जिनके पास पूरा ज्ञान का कोष नहीं है तथा जो उदर पूर्ति का साधन करते हुए पर्याप्त समय भी नहीं निकाल सकते हैं। अन्त में श्री वीतराग परमात्मा से सभी जीवों के कल्याण को कामना करता हुआ सभी जीवों से क्षमा माँगता हुआ मैं अपने कल्याण की प्रार्थना करता हूँ। आप इस ग्रन्थ का अधिक से अधिक लाभ उठावें यही अभ्यर्थना है।

सुखी रहें सब जीव जगत के कोई कभी न घबरावे।
वैर पाप अभिमान छोड़ जग नित्य नए मङ्गल गावे॥
घर घर चर्चा रहे धर्म की दुष्कृति दुस्कर होजावे।
ज्ञान चरित उन्नत कर अपना मनुज जन्मफल सब पावें॥

खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे;
मित्ती मे सव्व-भूएसु, वैरं मज्झ न केणई॥

ओ३म् शांति ! शांति !! शांति !!!

फतहचन्द महात्मा
विजयदशमी २०१५
ता० २२-१०-५८

सातवीसदेवरी जैन
मंदिर, किला
चित्तौड़गढ़ (राज०)

धर्म-ऋण

(१) शासन नायक वीतराग परमात्मा श्री महावीर प्रभु का मैं ऋणी हूं। भवोभव भटकते ए पुण्योदय से इस भव में आपके वचनों का पठन, वांचन व लेखन सुलभ हुवा है अतः आ मुक्त ऋणी हूं।

(२) ग्रन्थ के कर्ता श्री मुनि सुन्दरसूरीश्वरजी तथा उनके गतानुगत पट्टधर–श्री विजयानन्दसूरिजी के शिष्य विद्यानुरागी पंजाब केसरी स्व० आचार्य श्री विजयवल्लभसूरिजी का मैं ऋणी हूं जिनके कर कमलों द्वारा स्थापित श्री आत्मानंद जैन गुरुकुल गुजरांवाला (पंजाब) में मैंने शिक्षा प्राप्त की थी। जीवन में जो भी है वह सब उन्हीं गुरुदेव की देन है।

(३) स्नेहमयी स्वर्गीया दादीजी श्री हगामबाईजी तथा चिरायु अपेक्षित पूज्यवर पिताजी श्री श्रीलालजी व माताजी सरदारबाई का ऋणी हूं जिन्होंने बाल्यकाल से आज पर्यन्त मेरी धर्म भावना का पोषण किया है।

उपकार

(१) श्री रैवताचल तथा चितौड़गढ तीर्थोद्धारक स्व० आचार्य श्री विजय नीतिसूरीश्वरजो के शिष्य आचार्य श्री हर्षसूरिजी के शिष्य आ० श्री महेंद्रसूरिजी महाराज का उपकार मानता हूं जिनकी कृपा पत्रिका से मद्रास में पुस्तकों का अग्रिम विक्रय हुवा, तथा जिन्होंने पुस्तक का अवलोकन कर सम्मत्ति रूप आशीर्वाद वचन लिखे हैं जो अन्यत्र छपे हैं।

(२) पंजाब केसरी स्व० आ० विजयवल्लभसूरीश्वरजी महाराज सा० के पट्टधर आ० श्री समुद्रसूरीश्वरजी महाराज साहब तथा श्री जनकविजयजी गणि का उपकार मानता हूं जिन्होंने इस ग्रंथ को देखकर वचनामृत लिखे हैं।

(३) परमोपकारी गुरुदेव श्री विजयवल्लभसूरीश्वरजी के आज्ञावर्ती आगम प्रभाकर मुनिराज श्री पुण्य विजयजी का उपकार मानता हूं जिन्होंने सर्व प्रथम इस ग्रंथ का अवलोकन कर आशीर्वाद प्रदान किया। आपका उपकार जैन समाज नहीं भूल सकता है। जैसलमेर के ज्ञान भंडारों को व्यवस्थित करने में भगीरथ प्रयत्न आपने किया है। अतः मैं भी आपका दोनों तरह से उपकार मानता हूं।

(४) परम तपस्वी मुनिराज श्री रूपविजयजी, श्री भानुविजयजो, श्री विशारदविजयजी श्री जयविजयजी (वल्लभसूरीजी के शिष्य), श्री पं० यशोभद्रविजयजी गणि, श्री कांतिसागरजी आदि गुरुवरों ने व्याख्यानों में उपदेश देकर पुस्तक की अनुमोदना की अतः सबका उपकार मानता हूं।

आभार

इस अपूर्व ग्रंथ की भूमिका लिखकर श्री यशपालजी जैन ने अपनी सरलता, साहित्याभिरूचि व धर्म भावना का परिचय दिया है। सतत साहित्य सेवा में सलंग्न रहते हुए भी मेरी प्रार्थना पर अवकाश निकाल कर जो अनुकम्पा आपने की है मैं उसका आभारी हूं। हिन्दी के पाठक आपसे चिरपरिचित हैं आप स्वनाम धन्य हैं।

श्री जयभिखु (बालाभाई वीरचन्द देसाई शाह अहमदाबाद) जिन्होंने मेरी प्रार्थना पर ध्यान देकर अपना अमूल्य समय निकाल कर इस पुस्तक पर दो शब्द लिखे हैं अतः मैं आभारी हूं। गुजराती जनता आपकी कथाओं को चातक दृष्टि से देखती है। दोनों साहित्यिक महारथियों द्वारा दिए गए समय के दान के लिए मैं फिर आभार मानता हूं।

इस ग्रन्थ के मुद्रण के लिए श्री जोब प्रिंटिंग प्रेस व हिंदी साहित्य मन्दिर अजमेर के मालिक वयोवृद्ध शांत दांत श्री जीतमलजी लूणिया व उनके निराभिमानी साक्षर सुपुत्र श्री प्रतापसिंहजी का मैं आभारीहूं। इस ग्रंथ की मेरी हस्तलिखित कॉपी अस्तव्यस्त, कटीफटी व कठिनाई से पढ़ी जाने वाली थी एवं प्रूफ में कई हेर फेर मैंने किए परन्तु इन तमाम मुसीबतों का आपने शांति से सामना किया तथा बड़ी सावधानी से मुद्रण कार्य सम्पन्न क्रिया अतः मैं आपका पुनः आभार मानता हूं।

अपनी पेढ़ी के शेठ श्री भोगीलालजी मगनलालजी तथा शेठ श्री फकीरचन्दजी, हिम्मतलालजी बचुभाई पिता भगुभाई अहमदाबाद वालों का भी मैं आभारी हूं जो मुझे साहित्य के प्रकाशन की व्यवस्था के लिए सर्वदा सुविधा देते हैं।

श्री जोरावरमलजी लोढ़ा उदयपुर वालों ने अपने स्वर्गीय युवा पुत्र श्री नवरत्नमलजी (भंवरलालजी) की स्मृति में साहित्य प्रकाशन के लिए ५००) देने का वचन देकर मेरा उत्साह बढ़ाया है जिसके लिए में उनका आभार मानता हूं। उनकी प्रेरणा से मैंने यह साहस किया है अतः इसका श्रेय उनको है।

मद्रास में स्वनामधन्य श्री रिखबदासजो भभूतमलजी (प्रागवाट् कंपनी वाले) जो वहां स्वामीजी के नाम से प्रसिद्ध हैं उनका भी आभार मानता हूं। पुस्तक के ग्राहक बनवाने में सब तरह से मुझे सहायता दी है। उनका घर एक तपोवन है।

आपके देख रेख में मद्रास में कई प्रवृत्तियां चलती हैं। जैन मिशन सोसायटी नामक संस्था बहुत ही जागृत है। इसके अन्तर्गत साहित्य प्रचार, साधर्मिक उद्धार, शिक्षा प्रसार, उद्योग, आम जनता की सेवा, कतल खाने बंद कराने का काम, कसाई खानों में कमी कराने का काम, कला निकेतन, संस्कृति रक्षण, जैन स्कूल, जैन गुरुकुल तथा तीर्थों की रक्षा आदि का काम होता है : श्री लालचन्दजी ढढ़ा, श्री पुखराजजी (धन्नालालजो मंछालालजी), श्री पुखराजजी (जेठमलजो सुकनराजजी वाले), श्री कपूरचन्दजी, श्रो सरदारमलजी, मूलचन्दजी, श्री अमृतलालजी, श्रो धनराजजो, श्रो देवीचन्दजी, को मैं नहीं भूल सकता हूं जिन्होंने मुझे हर तरह से सहायता दी इनका व अन्य सबका मैं आभार मानता हूं।

दक्षिण भारत के संस्मरण

मद्रास की धार्मिक प्रजा प्रतिवर्ष हजारों रुपये धार्मिक काम में लगाती है। इन्द्रपुरी सभी यह नगरी अपना अलौकिक स्वरूप रखती है। यहां पर कई परोपकार के स्थान हैं जिनमें मुख्य ये हैं—

दयासदन—यहां प्रायः ७०० दर्दी, निराश्रित व संतप्त लोग रखे गये हैं। उन्हें नास्ता, भोजन, औषधि तथा वस्त्र दिये जाते हैं। लावारिस बच्चों को पढ़ाया जाता है। उद्योग मन्दिर भी इसीमें है जिसमें स्लेटें, स्लेट पेंसलें व एलुमेनम के चम्मच व वस्त्र बनाने के काम हो रहे हैं। इसका उद्घाटन प्रायः ३ वर्ष पूर्व श्री लक्ष्मणसूरिजी महाराज व राजगोपालाचारी के द्वारा हुवा था। जीवन के करुण चित्र व संसार का सच्चा प्रदर्शन देखना हो एवं धन का वास्तविक उपयोग करना हो तो यह स्थान एक ही है। इसमें जैनों की व सरकार की सहायता है।

पांजरापोल—मनुष्यों के स्वार्थ से निचोड़ी जा चुकी दुग्ध शुष्का गौमाताओं का यह आश्रय स्थान है। बहुत विस्तृत स्थान में अनेक पशुओं को रखा जाकर उनकी संभाल की जाती है। दुग्धशाला भी इसीके अंतर्गत चलती है। यहां अशक्त व सशक्त दोनों प्रकार की गाय भैंसें हैं। मद्रास का यह काम अनुसरणीय है।

दादावाड़ी जैन मन्दिर—बहुत ही विशाल व रमणीय स्थान में यह मन्दिर है। मोतीशाह सेठ ने बहुत ही दूरदर्शिता से इस स्थान को अपनाया था। कम्पाऊंड के बीच में सुन्दर मन्दिर व कुवा है। यहां प्रकृति देवी की कृपा है। स्थान देख कर मैंने श्री पुखराजजी (जेठमलजी सुकनराजजी वाले) से यह भावना प्रगट की थी कि क्या ही अच्छा हो आपके शहर के अन्दर चलता हुवा जैन स्कूल यहां आकर गुरुकुल के रूप में व्यवस्थित हो जाय और भावी महापुरुषों का निर्माण करे।

पोडल रेड् हिल्स—यह प्राचीन मद्रास की राजधानी थी। ६ मील लंबे तालाब के पास ही एक नीची पहाड़ी का सिलसला है। जमीन लाल है। यहां कई प्राचीन स्मारक नजर आते ह। कुछ बंगले भी बने हुए हैं। श्री जैन मन्दिर ही इस क्षेत्र का मुख्य आकर्षण है। २००० वर्ष पूर्व पल्लव राजाओं द्वारा इसका निर्माण हुवा था। मूलनायकजी यादवों के समय के हैं। भूमिदान के शिलालेख १२—१३ वीं शताब्दी के उपलब्ध हैं। मन्दिर बड़ा ही रमणीय है। अंदर धर्मशाला भी बनी हुई है। अभी २ श्री रिखबदासजी द्वारा एक गुरुकुल की शुरुआत हुई है जिसका मूल उद्देश्य जैन संस्कृति का संरक्षण है उनकी भावना ऐसे गुरुकुल अन्यत्र भी खोलने की है। जुलाई के द्वितीय सप्ताह में मैं वहाँ गया था तब श्री नवकार महामंत्र के नौलाख जापों का अनुष्ठान वहां चल रहा था। १७ तपस्वी इस धर्मयज्ञ में सम्मलित थे और भी आने वाले थे। इस तरह से वह स्थान बड़ा शांत, पवित्र व आत्मार्थी के

लिए उपयोगी बना हुवा है। इस स्थान पर स्वामीजी की संस्पूर्ण दृष्टि है अतः गुरुकुल, मन्दिर व अनुष्ठान का कार्य सतत सुव्यवस्थित रहने की संभावना है। इसीलिए तो रत्नाकर भारत भूमि के चरण यहां पर चूमता है। दक्षिण भारत वंदनीय है।

बैंगलोर—बैंगलोर कपड़े के व्यापार का व अनेक सरकारी उद्योगों का केन्द्र है। सर्दी खूब पड़ती है। लोगों में धर्म के प्रति बड़ी श्रद्धा है। अंग्रेजी में जैन साहित्य का प्रकाशन होकर जैन मिशन द्वारा विदेशों में भेजा जाता है।

श्रवण बेलगोला–(मैसूर) श्री बाहुबलीजी की ५८ फुट की मूर्ति के दर्शनों का सौभाग्य मिला। इंद्रगिरि पर यह मूर्ति विद्यमान है। आदिनाथ व शांतिनाथ के दो अन्य मन्दिर भी हैं। एक ही पहाड़ में से काट कर बनाई गई इस आश्चर्यमयी मूर्ति को देखकर जीवन कृतार्थ हुवा। चंद्रगिरि पर १६ जैन मन्दिर हैं जिनमें १६ से लेकर २८ फुट तक की मूर्तियां भी हैं। इस गांव में जैन ब्राह्मणों (माहण-महात्मा) के बहुत घर हैं। भट्टारकजी भी माहण ही हैं। उनका मन्दिर बड़ा सुन्दर है। इस प्रांत में माहणों के बहुत घर हैं। यहां तथा मैसूर में भी जैन ब्राह्मण छात्रालय हैं। दक्षिण के माहण दिगंबर हैं जब कि उत्तर के माहण (महात्मा) श्वेताम्बर हैं।

मैसूर—यहाँ का राजवाड़ा या राजमहल बहुत सुन्दर हैं। शहर आकर्षक है। जैन मन्दिर बड़ा सुन्दर हैं। यहां से १८ मील दूर कृष्ण सागर बांध व कदंबवाडी देखकर मैं आत्म-

विभोर हो गया। प्रकृति पर मानव की विजय का गौरव यहां अनुभव में आता है। कदंबवाड़ा का दृश्य जीवन में कभी नहीं भूला जा सकता है। चारों तरफ फव्वारे चलते हैं। हरित, पीत, रक्त विद्युत शाखाओं (ट्यूब) की शोभा अपूर्व है। लताएं तो बस अपने स्वामी रूप जड़वंश (बांस) से वेष्ठित होकर एक पक्षीय प्रेम का स्वरूप बता रही थी और आत्मा को एकाकीपन का, व निरालंब का पाठ पढा रही हैं। विद्युत के प्रकाश से ही उद्दीप्त वह देव मण्डप सा मनोहर स्थान कई आत्माओं की तृप्ति कर उन्हें कह रहा था कि हे मानव तू इसीमें लुब्ध मत हो जाना, यदि इसीमें लुब्ध हो गया तो बस इस आवागमन के चक्र में से निकल न सकेगा। इस वक्त मैं जैसा प्रकाशित हूं व मेरे क्षेत्र में प्रकाश फैला है वैसा तू भी बन, अपनी आत्मा में प्रकाश की किरणें उत्पन्न कर और अपनी चिर शोभा को बढ़ा। पानी के अंदर भी अनेक रंग की बिजली रखी गई है। फव्वारे भी कई रंगों के छूट रहे हैं। वह स्थान दर्शनीय है। प्रति शनिवार व रविवार को ही रोशनी होती है। मैसूर का चंदन के तेल का कारखाना व रेशम का कारखाना दर्शनीय है।

वास्तव मे दक्षिण भारत की नैसर्गिक, आध्यात्मिक, धार्मिक व वैयक्तिक भावनाओं से मैं बहुत प्रभावित हुवा हूं अतैव इस पाठ से इस पुस्तक का सम्बन्ध न होते हुए भी लिखने के लोभ को नहीं रोक सका हूं अतः पाठक मुझे क्षमा करें।

॥ श्री ॥

पंजाब केसरी आ० मा० श्री वल्लभसूरी के पट्टधर आ० मा० श्री १००८ श्री समुद्रविजयजी का

आशीर्वाद !

धर्मलाभ साथ विदित किया जाता है कि महात्मा फतेहचन्दजी, स्वर्गवासी गुरुदेव पंजाब केसरी युगवीर आचार्य श्री १००८ श्रीमद् विजय वल्लभसूरीश्वरजी महाराज के गुणानुरागी और आत्मानन्द जैन गुरुकुल गुजरानवाला पंजाब के विद्यार्थी हैं। इन्होंने गुरुकुल में रहकर धार्मिक अभ्यास अच्छा किया है ये श्रद्धालु व क्रिया प्रिय हैं, एवम् इनमें धार्मिक संस्कार होने से जैन साहित्य के प्रति अच्छा रस लेते हैं, और आगे भी साहित्य की सेवा करते रहें ऐसा हमारा आशीर्वाद है।

इन्होंने कई पुस्तकें भी लिखी हैं जो मैंने देखी हैं, और अति प्राचीन ग्रंथ 'अध्यात्म कल्पद्रुम' का हिन्दी में स्वतन्त्र विवेचन किया है जो सुन्दर, सरल तथा उत्तम शैली से लिखा है।

मैंने इस 'अध्यात्म कल्पद्रुम' को सुना है जो कि श्रद्धालु के लिए पढ़ने और मनन करने योग्य है, अतः इस उत्तम कार्य में उनको सहायता देकर ज्ञान में वृद्धि कर धर्म की जागृति करे, इस पुस्तक की कम से कम एक-एक प्रति तो हरेक घर में अवश्य होनी ही चाहिए।

लि० समुद्रसूरी का धर्मलाभ

सं०२०१५ वैसाख कृष्णा ३ गाम-चांदराई (राज०)

शांतमूर्ति आचार्यदेव श्रीमद् विजय समुद्रसूरीश्वरजी म० सा० की आज्ञा से —जनकविजय

।। जयन्तु वीतरागाः ।।

पंजाब केसरी स्व० आ० श्री विजयवल्लभसूरीश्वरजी के विद्वान शिष्य जेसलमेर ज्ञान भंडार के उद्धारक आगम प्रभाकर मुनिजी श्री १०८ श्री पुण्यविजयजी म. सा. का

आशीर्वाद !

"शुभे यथाशक्ति यतनीयम्" इस महावाक्य को खयाल में रखते हुए प्रत्येक मानवने सत्कार्य में प्रवृत्त होना ही चाहिए और यही मानव जीवन की सफलता है, यही मानव जीवन का एक उच्च आदर्श है ।

भाई श्री फतहचन्द्रजी श्रीलालजी महात्मा ने अपनी कुछ रचनायें मेरे को दिखलाई हैं । मैं उनको हार्दिक धन्यवाद देता हूं कि वे अपने समय का सदुपयोग अच्छे कार्य में कर रहे हैं । उनका निजी ध्येय आम साधारण जनता को आध्यात्मिक मार्ग का निदर्शन कराने का है और इस विषय में वे यथा शक्ति प्रयत्न भी कर रहे हैं, जो स्तुत्य है । अध्यात्मकल्पद्रुम ग्रन्थ का विवेचन भी उन्होंने किया है जो सामान्यतया जनता को जरूर लाभप्रद होगा ऐसी आशा है ।

लि० मुनि पुण्यविजय

सं. २०१५ चैत्र शुक्ला एकादशी चन्द्रवार अहमदाबाद

आ. मा. सा. श्री नीतिसूरीश्वरजी के प्रशिष्य आ. म.
श्री १००८ श्री महेन्द्रसूरीजो का

आशीर्वाद !

महात्मा फतहचन्द भाई ने हिन्दी भाषा में अध्यात्म कल्पद्रुम के उपर जो विवेचन लिखा है वह आकर्षक है। यदि वह छापा जाय तो जनता को बहुत उपयोगी होगा ऐसा मैं मानता हूं। उन्होंने हृदय के उत्साह से निःस्वार्थ भाव से यह पुस्तक लिखी है जो उत्साह देने योग्य है। यति हित शिक्षा प्रकरण आदि मैंने देखा है।

द० आ० वि० महेन्द्रसूरिम

सं. २०१५ चैत्र सुद १३ अहमदाबाद

अग्रिम ग्राहकों की गामवार नामावली

निम्नलिखित महानुभाव इस ग्रंथ के प्रथम से ही ग्राहक बने हैं अतः उन्हें मैं ज्ञान रुचि व साहित्य प्रकाशन के प्रति प्रोत्साहन की भावना के लिए धन्यवाद देता हूं।

तखतगढ़ (राजस्थान)

(परम पूज्य पं० रूपविजयजी व भानुविजय के उपदेश से)

पुस्तक संख्या	नाम
२५	सेठ साकलचन्दजी कपूरचंदजी संघवी
६	,, गुलाबचन्दजी जवानमलजी
१	,, अखेचन्दजी जैरूपजी

(पादरड़ी राजस्थान)

२	श्री आत्मानंद जैन पुस्तकालय
४	सेठ बाबुलालजी तिलोकचन्दजी
१	,, रिखबचन्दजी वरदीचन्दजी
१	,, हीराचन्दजी कस्तुरचन्दजी
१	,, हजारीमलजी ताराचन्दजी

चाँदराई (राजस्थान)

(परम पूज्य मुनिराज श्री जयविजय जी के उपदेश से)

पुस्तक संख्या	नाम
१५	सेठ हेमराजजी जसराजजी (चेयरमेन)
५	,, मोतीजी जवानमलजी संघवी
१	,, पन्नालालजी कस्तुरचन्दजी

पावा (राजस्थान)

१	सेठ महता जीवराजजी तिलोकचंदजी

बापला (डीसा) गुजरात

३	सेठ वीरचन्दजी पूनमचंदजी दलाजी
२	,, छोगाजी जेठाजी
१	,, उमेदाजी बाघाजी
१	,, ताराजी हीराजी

बांकड़िया वड़गांव (राजस्थान)

(बाबुलाल तलकाजी के सौजन्य से)

पुस्तक संख्या	नाम
५	सेठ गुलाबचन्दजी मनरूपजी
५	,, देवाजी तलकाजी
५	,, दानाजी जवाजी
३	,, मालाजी मनरूपजी
३	,, ऊकाजी जवाजी
२	,, कपूरजी पारख
२	,, छोगाजी गोदाजी
२	,, धूड़ाजी भगाजी
२	,, बाबुलाल चमनाजी
२	,, मलूकजी मघाजी
१	,, मूलाजी नगाजी
१	,, कस्तूरजी खेताजी
१	,, पूनमचन्द केसराजी
१	,, प्रतापजी भाणाजी

आजोधर (राजस्थान)

२ सेठ हिंदुजी प्रागाजी

मालवाड़ा (राजस्थान)

१ श्री रंजनविजयजी जैन पुस्तकालय

पांथावाड़ा (गुजरात)

५ सेठ लखमीचन्दजी धनाजी

पुस्तक संख्या	नाम
२	,, मालाजी धर्माजी
२	,, छगनलालजी कस्तुरचन्दजी
१	,, सांकलचन्दजी पीथाजी
१	,, गोमाजी पाताजी
१	,, रूपाजी अजबाजी

अजमेर

२ सेठ गोपीचन्दजी धाडीवाल

भोनमाल (राजस्थान)

(सर्वश्री सुखराजजी, देवीचदजी, सज्जनराजजी के सौजन्य से)

२ सेठ सुखराजजी जुगराजजी
२ ,, आवूजी खूमाजी
१ ,, सज्जनराजजी भणसाली
१ ,, देवीचन्दजी छगनलालजी
१ ,, कपूरचंदजी मुलचंदजी

जोधपुर (राजस्थान)

६ सेठ पूनमचंदजी भूरचंदजी
१ ,, मानचंदजी भंडारी

कोसीलाव (राजस्थान)

(परम पूज्य आचार्यश्री समुद्रसूरिजी व जनक विजयजी गणि के उपदेशसे)

५ सेठ सरदारमलजी सेंसमलजी

पुस्तक संख्या	नाम
२	सेठ देवीचंदजी मिसरीमलजी
२	,, पूनमचंदजी धूलाजी
२	,, मेघराजजी दीपचंदजी
२	,, भगवानदासजी जवानमलजी
२	,, खूमाजी जेताजी
१	,, अचलदासजी पूनमचंदजी
१	,, सूरजमलजी भगवानजी ललवानी
१	,, सागरमलजी चौथमलजी

राणी (राजस्थान)

१	सेठ जुवारमलजी फूलचंदजी
१	श्री शांति सेवा समाज

फालना (राजस्थान)

१	सेठ जसराजजी धनरूपजी
१	,, पुखराजजी गुलाबचंदजी
१	,, श्री पार्श्व उम्मेद जैन कॉलेज

सादड़ी मारवाड़ (राज०)

(परम पूज्य मुनिराज श्री विशारद विजयजी के उपदेश से)

२	सेठ चंदनमलजी पूनमचंदजी
१	,, चून्नीलालजी तेजमलजी बाफना
१	,, गुमानचंदजी चूनीलालजी पोरवाल
१	,, हजारीमलजी शेरमलजी
१	,, हमीरमलजी सरदारमलजी
१	,, चूनीलालजी संतोषचंदजी पोरवाल
१	,, चून्नीलालजी वीरचंदजी
१	,, भीखमचंदजी पृथ्वीराजजी
१	,, फुटरमलजी हिम्मतमलजी
१	,, हीराचंदजी पूनमचंदजी

पाली (राजस्थान)

(परम पूज्य आचार्यश्री समुद्रसूरीजी व जनकविजयजी गणि के उपदेश से)

५	सेठ मीठालालजी कानमलजी
१	,, पन्नालालजी जालोरी
१	,, राजमलजी कोठारी
१	,, प्रेमचंदजी श्रीश्रीमाल
१	,, रतनचंदजी समीरमलजी
१	,, छोगालालजी लोढ़ा नीमचवाला

बालोतरा

१	श्री लक्ष्मणदासजी बोथरा एडवोकेट

कालेंद्री (सिरोही)

१०	श्री मंछालालजी भगवानजी

चित्तौड़गढ़ (राजस्थान)

पुस्तक संख्या — नाम

१ सेठ गोकलचंदजी मोतीलालजी
१ ,, नाथूलालजी चीपड़

उदयपुर

२ सेठ रोशनलालजी चतुर
१ ,, तेजपालजी गोकलचन्दजी
१ ,, कालूलालजी मारवाड़ी

बखतगढ (इन्दौर)

१ सेठ फूलचन्दजी जसराजजी दरड़ा

नयागाँव जावदरोड़

(मध्यप्रदेश)

२ सेठ शोभालालजी नानालालजी

जावद (मध्यप्रदेश)

२ सेठ मन्नालालजी शंकरलालजी घीया
२ ,, मन्नालालजी तलेसरा

निम्बाहेड़ा

१ सेठ श्रीनिवासजी शारदा (चेयरमेन)
१ ,, बापूलालजी चोरड़िया
१ ,, पन्नालालजी चोपड़ा
१ ,, फतेलालजी मारू
१ ,, सोहनलालजी बोथरा

रतलाम

पुस्तक संख्या — नाम

१ सेठ हस्तीमलजी समरथमलजी
१ ,, भंवरलालजी चम्पालालजी

विजयनगर (राजस्थान)

६ सेठ हुकमसिंहजी कोठारी

जयपुर

२ केशवलाल एण्ड कम्पनी

खेरालू वाया महसाणा

१ सेठ शांतिलाल चिमनलाल

महसाणा (गुजरात)

१ सेठ केशवलालजी माणकचन्दजी

पालीताणा

२ सेठ भभूतमलजी रिखबदासजी आरीसा भुवनवाला

खरंजा (बारसी-बम्बई)

१ सेठ गुलाबचंदजी किशनलालजी कोठारी

कोल्हापुर (बम्बई)

१ सेठ बाबूभाई मांसिंगजी परमार

कोटकपुरा (पंजाब)

पुस्तक संख्या — नाम

१ सेठ मेघराजजी जैन प्रेसिडेंट मु० कमेटी

कलकत्ता

१० सेठ ठाकुरदास सुरेका-सलकिया

२ श्रीमती तारा कुंवरी श्री हरकचंद जी कांकरिया की धर्मपत्नि

बम्बई

१ परम पूज्य पन्यासजी श्री प्रियंकर विजयजी गणि को अर्पणार्थ एक श्रावक

२ सेठ देवचंदजी गोपालजी

१ ,, मोतीलालजी वरदीचंदजी

१ ,, पुखराजजी लालचंदजी

१ ,, मोतीलालजी जेठमलजी

रायचूर (करनाटक)

(यति श्री मदनचंदजी चित्तौड़वाले तथा अमोलखचन्दजी के सौजन्य से)

५ सेठ बस्तीमलजी नौरतनमलजी

२ ,, कालूरामजी चाँदमलजी

२ ,, राजमलजी खेमराजजी भंडारी

२ ,, दलीचंदजी जसराजजी

२ ,, कालूरामजी हस्तीमलजी

२ ,, तेजमलजी उदेरामजी

पुस्तक संख्या — नाम

१ सेठ चतुरभुजजी तेजकरणजी

१ ,, बोरा केवलचंदजी मोहनलालजी

१ ,, सोनराजजी संपतराजजी मूथा

१ ,, अमोलखचंदजी मोहनलालजी

१ ,, विशनचंदजी नेमीचंदजी दफ्तरी

मद्रास

(श्री रिखबदासजी (स्वामीजी) के सौजन्य से)

२५ सेठ श्री लालचंदजी ढढा–ढढा कंपनी

२० ,, फतहचंदजी गोमराजजी

२० ,, ताराचंदजी मांगीलालजी

१५ ,, अमरचंदजी शोभाचंदजी

११ ,, फौजमलजी रिखबदासजी

११ ,, रिखबदासजी छगनलालजी

११ ,, जोधाजी मनीरामजी

१० ,, धन्नालालजी मंछालालजी

१० ,, रतनचंदजी कपूरचन्दजी

१० ,, जेठमलजी सुकनराजजी

१० ,, जैन मिशन सोसायटी (हस्ते श्री रिखबदासजी)

१० ,, जेठमलजी गेनमलजी

१० ,, भूरमलजी भभूतमलजी

१० ,, रिखबदासजी भूरमलजी

१० ,, कुन्दनमलजी मिसरीमलजी

१० ,, हरकचंदजी रूपचंदजी

पुस्तक संख्या	नाम
१०	सेठ श्री हजारीमलजी पुखराजजी
७	,, सोनमलजी हस्तीमलजी
७	,, कस्तुरचंदजी तेजराजजी
६	,, नैनमलजी नथमलजी वेदमुथा
५	,, देवीचंदजी माणकचंदजी बेताला
५	,, जोधाजी भलेचन्दजी
५	,, जावंतराज एण्ड कम्पनी
५	,, राजपूताना ट्रेडिंग कम्पनी
५	,, भूताजी भभूतमलजी
५	,, मिसरीमलजी मुलतानमलजी
५	,, सिंघवी ब्रदर्स
५	,, हंसराजजी अभेचंदजी
५	,, सागरमलजी शंकरलालजी
३	,, समेरमलजी जेठमलजी
३	,, बाबूलालजी मनरूपजी
३	,, रासाजी सांकलचंदजी
३	,, रिखबदासजी पुखराजजी
३	,, केसरीचंदजी मगनमलजी
२	,, तुलसीरामजी पुखराजजी
२	,, टी. के देवराजजी
२	,, भगाजी सोनमलजी
२	,, शंकरजी मूलजी
२	,, वक्तावरमलजी नथमलजी
२	,, जे. हजारीमलजी
२	,, लालचंदजी मूलचंदजी
२	सेठ श्री जवेरचंदजी मूलचंदजी
१	,, नथमलजी सागरमलजी
१	,, एच. चंदनमलजी
१	,, लालचंदजी भीमराजजी
१	,, एच. भभूतमलजी
१	,, वागरेचा एण्ड कम्पनी
१	,, हजारीमलजी रूपचन्दजी

बैंगलोर सिटी

(पूज्यवर पं० श्री यशोभद्र विजयजी गणि के उपदेश तथा श्री सेंसमलजी हिन्दुस्तान ज्वेलरीमार्ट के सौजन्य से)

११	सेठ श्री हजारीमलजी जवानमलजी
७	,, शंभुमलजी गंगारामजी
५	,, वी. अमीचंदजी एण्ड संस
५	,, देवीचंदजी मिसरीमलची
५	,, देवीचन्दजी जेठमलजी
५	,, हीराचंदजी फूलचन्दजी
५	,, मुलतानमलजी हस्तीमलजी
५	,, मिसरीमलजी भभूतमलजी एण्ड ब्रदर्स
५	,, बस्तीमलजी भानाजी एण्ड कम्पनी
४	,, मानमलजी राजाजी एण्ड कम्पनी

पुस्तक संख्या	नाम
४	सेठ श्री देवीचंदजी पन्नाजी एण्ड कम्पनी
४	,, गणेशमलजी दीपचंदजी
३	,, माणकचन्दजी मिसरीमलजी
३	,, हरकचंदजी तिलोकचंदजी
३	,, वागरेचा एण्ड कम्पनी
३	,, जेठमलजी हीराचन्दजी
३	,, मगनाजी मसरीमलजी
२	,, पारसमलजी मेगाजी (बालवाड़ा वाला)
२	,, चन्दनमलजी जुगराजजी
२	,, मिसरीमलजी छगनराजजी
२	,, बालाजी मोतीजी एंड कंपनी
२	,, भूरमलजी फूलचन्दजी
२	,, चुनीलालजी वीसाजी
२	,, मिश्रीमलजी बछराजजी एण्ड कम्पनी
२	,, दीपचन्दजी जुरमलजी
२	,, पुकराजजी पारसमलजी
२	,, सरूपचन्दजी सांकलचन्दजी
२	,, मुनीलालजी सुकराजजी
२	,, दीपचन्दजी चन्दनमलजी
२	,, हिमतमलजी सरूपचन्दजी
२	,, मिसरीमलजी सोहनराजजी एण्ड सन्स
२	श्री हिन्दुस्तान ज्वेलेरी मार्ट
१	,, सरेमलजी पूनमचन्दजी
१	,, जी. बाबूलालजी
१	,, चूनीलालजी आसूजी
१	,, जी. अनराजजी समदड़िया
१	,, मुथा सेंसमलजी वनराजजी
१	,, राजमलजी हस्मीमलजी एण्ड ब्रदर्स
१	,, वक्तावरमलजी हेमराजजी (केटान्मेंट)
१	,, सागरमलजी चम्पालालजी
१	,, लक्ष्मीचन्दजी जेठमलजी (खलासपालिया)
१	,, गणेशमलजी जुगराजजी (अंबिका)
१	,, मगराजजी सरेमलजी
१	,, हीराचन्दजी जवानमलजी एण्ड कम्पनी
१	,, मोहनलालजी मीठालालजी
१	,, एम. एम. जरावाला
१	,, के. एम. कोचेटा एण्ड सन्स
१	,, एस हस्तीमल एण्ड कम्पनी
१	,, पूनमचन्दजी भूबाजी

मैसूर

(परम पूज्य पं० श्री कांतिसागरजी महाराज के उपदेश से)

पुस्तक संख्या	नाम
२	सेठ श्री जवेरचन्दजी रूपाजी
१	,, बाबूलालजी ऊमाजी
१	,, सेंसमलजी भूरमलजी
१	,, केसरीमलजी पेमाजी
१	,, गुलाबचन्दजी सुमेरमलजी
१	,, तगराजजी हीराचन्दजी
१	,, पूंजमलजी लालचन्दजी
१	सेठ श्री छगनराजजी मंगलचन्दजी
१	,, सूरजमलजी लक्ष्मीचन्दजी
१	,, जसराजजी बादरमलजी
१	,, केसरीमलजी भभूतमलजी
१	,, गुलाबचन्दजी नेमीचन्दजी
१	,, बाबुलालजी भंवरलालजी
१	,. नेमीचन्दजी मिठाजी
१	,, तेजराजजी सजनराजजी
१	,, गणेशमलजी घेवरमलजी
१	,, रिखबचन्दजी मिठालालजी

पुस्तक संख्या	नाम

नीमच (म. प्र.)

१ सेठ चिमनलालजी टोकरसीभाई

भीलवाड़ा (राजस्थान)

१ पं० श्री भूरालालजी महात्मा

१ श्रीयुत नेमीचंदजी जैन बेगुंवाले

देलवाड़ा (राजस्थान)

१ सेठ अंबालालजी सिरोहिया

करनोल (आंध्र)

१ सेठ कस्तूरचंदजी देवाजी

घाणेराव (राजस्थान)

२ श्री हितसत्क ज्ञान मंदिर

शिकारपुर (शिमोगा-मैसूर)

१ ,, भंवरलालजी चम्पालालजी गदिया

जैनधर्म पर कतिपय सम्मतियां

जैनधर्म अने संस्कृति गौरव

(गुजराती पुस्तक से साभार अनुवादित)

✦

भारत वर्ष में जैन धर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसके अनुयायी साधुओं और आचार्यों में से अनेक जनोंने धर्मोपदेश के साथ ही साथ अपना समस्त जीवन ग्रंथ रचना और ग्रंथसंग्रह में खर्च कर दिया है। बीकानेर, जेसलमेर और पाटण आदि स्थानों में गाड़ियों, हस्त लिखित पुस्तकें अब भी सुरक्षित पायी जाती हैं। यदि जर्मनी, फ्रांस और इंगलैंड के कुछ विद्यानुरागी विशेषज्ञ जैनों के धर्म ग्रंथ आदि की आलोचना न करते, ये यदि उनके कुछ ग्रंथों का प्रकाशन न करते और यदि ये जैनों के प्राचीन लेखों की महत्ता न प्रकट करते तो हम शायद आज भी पूर्ववत ही अज्ञान के अंधकार में ही डूबे रहते।

—पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

ब्राह्मण धर्म को जैन धर्म ने ही अहिंसा धर्म बताया। ब्राह्मण व हिन्दु धर्म में जैनधर्म के प्रताप से मांस भक्षण व मदिरापान बन्द हो गया। पूर्व काल में अनेक ब्राह्मण जैन पंडित जैन धर्म के धुरन्धर विद्वान हो गए हैं।

—लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

यदि किसी ने भी अहिंसा के सिद्धान्त को सम्पूर्ण रूप से विकसित किया हो, जीवन में उतारा ही तो वह भगवंत महावीर स्वामी ही थे। परन्तु वर्त्तमान जनसमूह भगवंत के इस सिद्धान्त का अनुसरण करता हुआ नजर नहीं आता है। मैं भगवंत महावीर के शिक्षा वचनों को समझने की अपील करता हूँ और भारपूर्वक कहता हूं कि इस सिद्धान्त का बराबर विचार करो और इसे जीवन में उतारो।

—महात्मा गांधी (राष्ट्रपिता)

जैनों का महान संस्कृत साहित्य यदि अलग कर दिया जाय, तो मै नहीं कह सकता कि संस्कृत साहित्य की फिर क्या दशा हो। जैसे २ मैं इस साहित्य को विशेष रूप से जानता जाता हूँ वैसे वैसे मेरा आनन्द बढ़ता जाता है, इसको विशेष रूप से जानने की इच्छा होती जाती है।

—डा० हर्टल जर्मन विद्वान

महावीर ने १२ वर्ष के तप और त्याग के पीछे अहिंसा का खूब संदेश दिया। उस समय देश में खूब हिंसा होती थी। हरेक घर में यज्ञ होता था। अगर उन्होंने अहिंसा का उपदेश न दिया होता तो आज हिन्दुस्तान में अहिंसा का नाम भी न लिया जाता।

—धर्मानन्द कौसम्बी

ई० स० पूर्व के प्रथम सैके में जैनों के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव की पूजा करने वाले लोग थे ऐसी प्रतीति होती है। इसमें संदेह नहीं कि श्री वर्धमान अथवा श्री पार्श्वनाथ के पहले भी जैनधर्म प्रवर्तता था यजुर्वेद में इन तीन तीर्थंकरों के नाम आते हैं। श्री ऋषभदेव, श्री अजितनाथ, और श्री अरिष्टनेमि। भागवत पुराण में उल्लेख है कि जैन धर्म के आद्यस्थापक श्री ऋषभदेव थ।

—डा० सर्वपल्ली राधाकृष्ण

मैं अपने देश वासियों को दिखाऊंगा कि कैसे उत्तम नियम और ऊंचे विचार जैन धर्म और जैनाचार्यों में हैं। जैन का साहित्य बौद्धों से बहुत बढ़कर है और ज्यों २ मैं जैनधर्म और उसके साहित्य को समझता हूं त्यों त्यों उनको अधिक पसंद करता हूं। जैनधर्म में व्याप्त-मान हुए सुदृढ़नीति प्रमाणिकता के मूल तत्व, शील और सर्व प्राणियों पर प्रेम रखना—इन गुणों की मैं बहुत प्रशंसा करता हूं। जैन पुस्तकों में जिस अहिंसा धर्म की सिफारिश की और शिक्षा दी है उसे मैं यथार्थ में श्लाघनीय समझता हूं।

—डा० जीहन्नेस हर्टल, जर्मनी

भूमिका

बंधुवर फतहचन्दजी ने जब इस पुस्तक की भूमिका लिखने का बार-बार आग्रह किया तो मैं बड़ी द्विविधा में पड़ गया, कारण कि एक तो मैं अपने को इस काम के लिए अधिकारी नहीं मानता, दूसरे, मुझे इस प्रकार के ग्रन्थ के लिए किसी भी 'प्रशस्ति' अथवा 'प्रमाण-पत्र' का औचित्य नहीं जान पड़ता, फिर भी मैं उनके अनुरोध को नहीं टाल सका। आज के भौतिकता—परायण युग में ऐसे ग्रन्थों का प्रकाशन करना, जिनके पीछे आर्थिक लाभ की संकीर्ण दृष्टि न होकर लोकहित की उदात्त भावना हो, यज्ञ करने के समान है और भारतीय संस्कृति की अपेक्षा है कि हमें यज्ञों में अपना योगदान देना ही चाहिए।

प्राचीन काल से हमारा देश धर्मपरायण देश माना जाता रहा है। एक समय था, जब कि उसकी संस्कृति और आध्यात्मिकता ने अन्य देशों को भी प्रभावित किया था और यह तब की बात है जबकि यातायात की सुविधाएं नहीं थीं और एक देश का दूसरे के साथ सम्पर्क स्थापित करना बहुत ही कठिन था, लेकिन इस भूमि की विशेषता थी कि उन बाधाओं को पार कर उसका संदेश बाहर पहुंचा और अनेक देशों के निवासियों की विचार-धारा पर अपना असर डाला।

लेकिन अब स्थिति भिन्न है। विज्ञान की कृपा और यातायात के साधनों के विकास से आज दुनिया बहुत ही छोटी हो गई है और कोई भी राष्ट्र अपने आप में सीमित होकर नहीं रह सकता।

मानना होगा कि पारस्परिक सम्पर्कों से हमारे देश को एक ओर अपने विकास का लाभ मिला तो दूसरी ओर एक हानि भी हुई। उसका झुकाव पश्चिमी विचार-धारा की ओर हो गया और वह जीवन की सफलता का मूल्यांकन साँसारिक उपलब्धियों के आधार पर करने लगा। शायद यह स्वाभाविक था, क्योंकि लम्बी दासता के कारण भारत की चेतना कुंठित हो गई थी और वह भूल गया था कि उसकी भूमि ने भौतिकता की उपासिका योग-प्रधान संस्कृति को कभी महत्व नहीं दिया, बल्कि सदा उसके विरुद्ध ही अपना स्वर ऊंचा किया।

इसमें कोई संदेह नहीं कि अब हम पिछले ज़माने में नहीं जा सकते। आज परिस्थितियां बदल गई हैं और नये मूल्यों से एकदम इन्कार नहीं किया जा सकता, लेकिन साथ ही हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यदि हम अपनी विशेषताओं को छोड़ देंगे तो हम उसी पंक्ति में जा खड़े होंगे, जिसमें आज के पश्चिमी देश खड़े हैं और बड़ी अशांति अनुभव कर रहे हैं।

आज जब कि भौतिक आकर्षण उत्तरोत्तर बढ़ रहा है और हमारा जीवन अधिकाधिक बहिर्मुखी होता जा रहा है,

ऐसे साहित्य का प्रसार अत्यन्त आवश्यक है, जो जीवन का सही दृष्टिकोण प्रस्तुत कर सके और जो लोगों को बता सके कि हम किस मार्ग पर चल कर अपने जीवन को धन्य और कृतार्थ बना सकते हैं, उस परमानन्द को प्राप्त कर सकते हैं, जिसके सम्मुख संसार के सारे आनन्द फीके हो उठते हैं।

इस दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक एक अभिनंदनीय प्रकाशन है। उसकी रचना विक्रम संवत १४७५ से १५०० के बीच हुई थी। उसके रचयिता मुनिवर सुन्दरसूरिजी उच्च कोटि के अध्यात्म-योगी और विद्वान् पुरुष थे। उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर देश के महान् पण्डितों ने उन्हें 'काली सरस्वती' का विरुद प्रदान किया था। वह सहस्रावधानो थे। इस पुस्तक की रचना उन्होंने श्लोकों में की है और उसके सोलह अध्यायों में विभिन्न विषयों का सविस्तर प्रतिपादन किया है। सबसे पहले अध्याय मैं उन्होंने 'समता' पर प्रकाश डाला है, क्योंकि वह 'समस्त गुणों का बीज है, जिसका फल मोक्ष है" वस्तुतः चित्त को सम रखना आध्यात्मिक जीवन की प्रारम्भिक भूमिका है। अतः विद्वान् लेखक ने शुरू के ७३ पृष्ठों में उसीकी व्यापक रूप से चर्चा की है। बाद के चार अध्यायों में उन्होंने क्रमशः स्त्री, संतान, धन तथा देह के ममत्व की बाधाओं तथा उनके निवारण को दृष्टि प्रदान की है। मानव का सबसे बड़ा शत्रु प्रमाद है। उसके तथा विभिन्न कषायों के त्याग का विचार छटे और सातवें अध्यायों में किया गया है। मनः शुद्धि को स्थायी रूप देने के लिए शास्त्रों

का अभ्यास आवश्यक है, इस विषय पर आठवें अध्याय में प्रकाश डाला गया है। मनुष्य का मन बड़ा चंचल होता है, बिना उस पर नियंत्रण किये साधना–मार्ग पर एक पग भी आगे नहीं बढ़ा जा सकता। नवें अध्याय में बताया गया है कि मन को किस प्रकार वश में किया जा सकता है। दसवें अध्याय में दिखाया गया है कि सांसारिक वस्तुओं के पीछे पड़ना और अपने अहं, महत्वाकांक्षा आदि की तुष्टि के लिए भटकना सारहीन है, उनकी ओर से चित्त को हटा कर वास्तविक साधना में लगाना इष्टकर हैं। बाद के तीन अध्यायों में धर्म-शुद्धि, गुरु-शुद्धि तथा यति-शिक्षा की चर्चा है। चौदहवें अध्याय में मन, वचन और काय की दुष्प्रवृत्ति का निरोध कर उन्हें सुमार्ग पर प्रवृत्त करने का उपदेश है। जीवन को उत्तरोत्तर निखारने के लिए धार्मिक आचरण, तपस्या, स्वाध्याय, आत्म-निरीक्षण तथा शुद्ध वृत्ति अत्यावश्यक है, उनका विवेचन पंद्रहवें अध्याय में किया गया है। अंतिम अध्याय में अविद्या-त्याग, समता-धारण, सुख़-दुःख की मूल–ममता का परित्याग आदि-आदि बातें बताई गई हैं, अन्त में परिशिष्ट में वैराग्य के कुछ दोहे, भगवान् की वाणी तथा कतिपय जीवनोपयोगी पद दिये गये हैं।

प्रत्येक अध्याय में पहले संस्कृत का मूल श्लोक दिया गयाहै, फिर उसका अर्थ, अनंतर उसका विवेचन, इस प्रकार मूल पुस्तक के विचारों को अधिक से अधिक सरल एवं बोधगम्य बनाने का प्रयत्न किया गया है।

मूल पुस्तक का विवेचन गुजराती में बंबई निवासो श्री मोतीचन्द भाई गिरधर भाई ने पचास वर्ष पूर्व किया था, उसीके आधार पर हिन्दी में यह विवेचन श्री फतेहचन्दजी महात्मा ने किया है। 'महात्मा' प्राचीन माहण का अपभ्रंश है। माहण जाति जैनधर्मावलम्बी है और उत्तर तथा दक्षिण भारत में अनेक स्थानों मे फैली हुई है। उत्तर भारत के माहण महात्मा कहलाते हैं, दक्षिण भारत के जैन उपाध्याय। इस जाति का मुख्य कार्य पठन-पाठन, पूजा-प्रतिष्ठा आदि है। मुझे इस बात की बड़ी प्रसन्नता है कि श्री फतेहचन्दजी ने अपनी जाति की परम्परा को जारी रखते हुए इस लोक हितकारी पुस्तक को बड़े परिश्रम से हिन्दी के पाठकों के लिए सुलभ किया है। उसके विवेचन में व्यक्त किये गये मत से कहीं २ असहमति की गुंजायश हो सकती है, कहीं-कहीं मूल लेखक के विचार अखर सकते हैं, विशेषकर स्त्री, संतान धन आदि के ममत्व-विसर्जन वाले अध्यायों में; लेकिन इसमें संदेह नहीं कि पुस्तक बड़ी ही लाभदायक है। सारी पुस्तक में विचार-रत्न जगह-जगह पर बिखरे पड़े हैं, कुछ की बानगी देखिए।

"जिसका न कोई मित्र है, न कोई शत्रु ही है, जिसका न कोई अपना है, न पराया ही है, जिसका मन कषायरहित होकर इंद्रियों के विषयों में रमण नहीं करता है, वही परम योगी है।" (पृष्ठ २८)

"इस संसार में वही पुरुष सुज्ञ हैं, जो सुन्दर परिणामवाली तथा चिर-स्थायी वस्तु, विचार कर ग्रहण करते हैं, ।" (पृष्ठ ४७)

"जैसे फांसी की सजा पाये हुए चोर की अथवा वध-स्थल पर ले जाते हुए पशु की मृत्यु धीरे-धीरे नजदीक आती जाती है, उसी प्रकार से सब की मृत्यु नजदीक आती जा रही है तो फिर प्रमाद क्यों ?"
(पृष्ठ १२५-२६)

"कषायों ने तुझ पर कौन सा उपकार किया है और कब किया है, जिससे तू हमेशा उनका सेवन करता रहता है ?"' (पृष्ठ १३७)

"जिस प्राणी का चित्र दुर्विकल्पों से मारा गया है, उसको जप, तप आदि धर्म अपना फल नहीं देते ।" (पृष्ठ १८८)

"दूसरे मनुष्य के द्वारा की गई अपनी प्रशंसा सुन कर जिस तरह तू प्रसन्न होता है, वैसे ही प्रसन्नता यदि शत्रु की प्रशंसा सुन कर होती हो, एवं जैसे स्वयं की निन्दा सुन कर तुझे दुःख होता है, वैसे ही शत्रु की निन्दा सुन कर तुझे दुख होता हो तो वास्तव में तू विद्वान है"
(पृष्ठ २४२)

'एक छोटा-सा दीपक भी अंधकार का नाश करता है, अमृत की एक बून्द भी अनेक रोगों को हर लेती है, अग्नि की एक चिनगारी भी घास के ढेर को भस्म कर देती है, उसी प्रकार धर्म का अल्प अंश भी यदि शुद्ध हो तो पाप का नाश कर देता है" (पृष्ठ २५०)

इस प्रकार की विचार-मुक्ताओं से यह पुस्तक भरी पड़ी है ।

हमें विश्वास है कि इस उपयोगी पुस्तक का सर्वत्र स्वागत होगा और इसके पठन-पाठन से पाठक अपने को लाभान्वित करेंगे ।

७/८, दरियागंज, दिल्ली
१५ अक्तूबर १९५८

—यशपाल जैन

दो शब्द

(ग्रन्थ एवं 'माहण जाति' विषयक)

संसार सब प्रकार के रसों और अनेक प्रकार के सुखों से भरपूर होने पर भी हमारे प्राचीन महात्माओं ने इन स्वादु रसों को कुरस और इन मधुर सुखों को क्षणिक कहा है।

संसार को बादल नगरी जैसा और सुखों को इन्द्रधनुष जैसा अप्तरंगी कहा है। उन्होंने पृथ्वी को एक पुल की उपमा दी है और मनुष्य को मुसाफिर कहा है। क्षणिक सुख में लुब्ध होने का अर्थ है मुसाफिर का पुल पर मकान बनाने का विचार करना। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को जैसे बने वैसे सावधानी से जरा भी थके बिना, या डरे बिना, पुल को पार करके अपने मंजले मकसूद पर पहुंचना चाहिए।

पुल अनेक प्रकार के हों, मुसाफिर भी अनेक प्रकार के हों, इसी प्रकार से अनेक धर्म, मजहब, संप्रदाय और फिरके मोजूद हों, परन्तु इनके द्वारा भिन्न रुचि वाला मनुष्य संसार सरिता को पार कर जाय। चतुर मनुष्य कभी कच्चा पुल पसंद न करे, अविश्वस्त पुल पर विश्वास न करे यह तो सर्व मान्य है। जिसने संसार रूप दुस्तर सरिता को पार करने के लिए सुन्दर और विश्वस्त पुल पसंद किया है उसे धन्यवाद है।

विमान के इस युग में, एटमबंम के इस जमाने में भौतिक सिद्धियों पर मगरूर रहने वाले लोग हंसकर उस पुल पर से पार होने वाले लोगों की मज़ाक करते हैं। वे कहते हैं कि आज ये तुम्हारे पुल और तुम्हारी मुसाफिरी की ये झंझटें निकम्मी हैं। देखो ! हमारे विमान देखो !

ये कहते हैं कि छोड़ो ये तुम्हारी आत्मा की अध्यात्म की व अगम्यवाद की बातें। संसार तो मिष्टता का मधुकुंज है और इसी मधु की तुम निंदा करते हो ? स्वर्ग, स्वर्ग करते हो ! तो फिर स्वर्ग जैसी इस पृथ्वी का ही स्वीकार करो न। पृथ्वी के सुख में ही वृद्धि करो न।

ये कहते हैं पृथ्वी पर धान्य के ढेर हैं, दूध है, दही है, पय है, दूसरी झंझट छोड़कर उठो न ! भोगा जितना अपना।

ये कहते हैं धरती पर महल है, भवन है। नसीब से धन-दौलत, दास-दासी, स्वजन-कुटुम्बी मिले हैं। मौज करो बंदे। रात को, विलास पूर्ण निद्रा से और दिन को मौज से बिताओ।

जवानी है, नसों में उत्साह है, उमंगों की लहरें उठती हैं। हाथ आकाश को बाथ में भरने के लिए और पैर पृथ्वी को नापने के लिए आतुर हो रहे हैं। जीवन की बसंत लूट लो। रोने पीटने के लिए बुढ़ापा कहां नहीं है ?

तुम भय, भय करते हो, परन्तु मनुष्य के सिर पर धन का, यौवन का, समाज का, राज का, बलवान का भय क्या नहीं है ? डरते हुए को अधिक डराने की यह जरूरत कैसी ?

पुल से डरो नहीं, सरिता से चमको नहीं, आगे बढ़ो। भौतिकवाद ने जगत को साधनों से, आशायशों से व सुखों से परिपूर्ण कर दिया है।

परन्तु प्राचीनकाल का पुजारी आत्मा कहता है, नही, नहीं, इससे संसार में दुःखों का उद्भव हुवा है। विमान हैं, फिर भी अभी तक समय पर न पहुंचने का असंतोष है। धन है, फिर भी दरिद्रता दिल को जक़ड़ कर बैठी है। सुख है, फिर भी वह दुःख के बीज जैसा है। समस्त संसार तुम्हारी भौतिक न्यामतों (देनों) से त्रस्त हो उठा है। प्रतिस्पर्धा, हिंसा, वैमनस्य, एक दूसरे के साथ छीना झपटी की नीयत घर करके बैठ गई है। मनुष्य मनुष्य का विरोधो बना हुवा है। देश पक्षों में विभक्त हो गया है। कलह के मूल इसीसे अंकुरित हुए हैं। विश्व अपनी और पराई मृगजल सभी छलवृत्ति में पड़ गया है, युद्ध के दरवाजे खटखटा रहा है। संसार का साहित्य पढ़ो, समाचार पत्र देखो, भाषण सुनो, द्वेष, ईर्षा और युद्ध की चिनगारियां मानों इसमें से झरती रहती हैं, चारों तरफ मानों मुरदे पड़े हैं और मातम पोश (अग्नि संस्कार करने वाले) इनकी हाय हाय पुकार रहे हैं।

संसार समय समय पर भूल भुलैया में पड़ता है और समय समय पर इसे जगाने के लिए महा गुरू आते हैं। आज भौतिकवाद का पुजारी ज़माना फिर से नई भूलभुलैया में पड़ा है।

इस वक्त हमें एक प्राचीन आवाज सुनाई देती है:—

आहार निद्रा, भय मैथुनं च
सामान्य मेतत्पशुभिनराणाम् ।
धर्मोऽहि तेषामधिकां विशेषः
धर्मेण हीनाः पशुभिःसमानाः ।।

खाना-पीना और खेलना, मौज करना, आराम करना और स्वैर विहार करना, इसमें मानव जैसे मानव की बड़ाई नहीं है कारण कि जानवर भी इसी कर्म को आचरते हैं और मौज करते हैं। अर्थात् मूलतः पशु जैसा मनुष्य पशु से मात्र धर्म के कारण से ही अलग पड़ता हे। यदि धर्म न हो तो पशु और मनुष्य में कुछ भी फर्क नहीं है।

यह धर्म क्या है ? यह इस प्रस्तुत ग्रन्थ, "अध्यात्म-कल्पद्रुम" में बताया गया है। धर्म का रूप क्या है, इसका स्वरूप क्या है, मनुष्य किस प्रकार से इसका आचार कर सकता है और जीव इस भयंकर पृथ्वी पर संतोषी और सुखी कैसे हो सकता है? इसका इस ग्रंथ में विशदता से वर्णन किया गया है। हम आस्वादन कर इसका स्वाद पाठकों को चखावें इसकी अपेक्षा पाठक स्वयं इसका आस्वादन करें यही पथ्य एवं उत्तम है।

यह ग्रन्थ वास्तव में वर्तमान युग के सतंप्त प्राणी के लिए शांति देने वाली और विवेक जागृत करने वाली शीतल प्याऊ है। सरस्वस्ती के साक्षात अवतारसम श्री मुनि सुन्दर सूरिजी की यह कृति है। श्री मुनि सुन्दरसूरिजी सुप्रसिद्ध 'संतिकरं स्तवन' के कर्त्ता के रूप में ख्याति प्राप्त हैं। यह कृति भी मंत्राक्षर जैसी प्रभावशाली है।

ग्रन्थ और ग्रन्थ कर्त्ता के विषय मे इतना लिखनें के पश्चात् इस ग्रन्थ को देव नागरी भाषा में लिखकर सर्वजन सुगम करने वाले श्री फतेहचन्दजी महात्मा के विषय में भी थोड़ा सा उल्लेख करना आवश्यक है। आप जैन हैं साथ में 'माहण' हैं। माहण का शुद्ध अर्थ है ब्राह्मण। इस शब्द के साथ ही इस जाति की उत्पत्ति का इतिहास मुझे याद आता है जिसका उल्लेख मैंने अपने सद्य प्रकाशित उपन्यास "चक्रवर्ती भरतदेव" भाग दो में किया है।

घटना ऐसे है कि चक्रवर्ती बनने पर भी भरतदेव का हृदय योगी का था। हमारे अनुभव की बात है कि राज्य करण अच्छे २ मनुष्यों का लक्षबिन्दु भुला देता है, करने का भूला जाता है और न करने का करा बैठता है।

इस विषय में अपनी सतत जागृत रहे अतः चक्रवर्ती भरतदेव ने राज्य के व्रत तप करने वाले भोगकुली विद्वानों को बुलाया और उनसे कहा कि आज से आप मेरे उपदेशक। आप मुझे सदा, कहा करें कि—

जितोर्भवान वर्द्धते भयं तस्मात्।
माहन माहन॥

हिंसा न करो, न करो, भय बढ़रहा है।

हिंसा किसकी ? जगत की ? नहीं! नहीं स्वयं के आत्मा की और भय कोई पर राष्ट्र की चढ़ाई का नहीं आत्मा की लघुता का।

यह वर्ग तब से "माहण" के नाम से प्रसिद्ध हुवा। इस

माहण शब्द का विशेष उल्लेख चरम श्रुत केवली श्री भद्र बाहुस्वामी विरचित 'कल्पसूत्र' में उपलब्ध है, जहां कुल गुरू भगवान व उनकी माता को सूर्य चन्द्र के दर्शन कराने की विधि कराते हैं।

माहण जाति ने जैन समाज को प्राचीन काल में कई विद्वान् मुनि पुंगव व राज्यकार्य कर्त्ता भी अर्पण किए थे। कल्पक, शकटार, स्थूलिभद्र, श्रीयक, यक्षा, यक्ष दिन्ना, सेणा, वेणा, रेणा, आदि इतिहास प्रसिद्ध हैं। वर्तमान में भी कन्नड़ के कवि पंप के लिए आपने धर्मयुग अंक २९, जुलाई ५६ में पढ़ा ही होगा।

श्री लक्ष्मीप्रधानजी गणि ने रत्नसागर पृष्ट ६ तथा आचार रत्नाकर पृष्ट २३ में इस विषय का, प्रतिपादन, विस्तृत रूप से किया है। इसमें चार जैन वेद उनके अधिकारी जैन-ब्राह्मणों का आचार-विचार, उनके कर्त्तव्य, उनके द्वारा कराये जाने वाले एवं षोड़ष संस्कार आदि का वर्णन इसमें है।

श्री आत्मारामजी महाराज साहब कृत जैन तत्त्वादर्श भाग दो पृष्ट ३८४ में भी इस विषय का प्रतिपादन है। उत्तर भारत में प्रायः इनके ५०० और दक्षिण भारत में लगभग १००० घर हैं जो माहन, गृहस्थगुरु, गुलगुरू, महात्मा, वुढ्ढ़ सावय कहलाते हैं। प्राचीन काल से इनकी प्रतिष्ठा कई राजा महाराजा अपने गुरू तरीके से करते आये हैं जिनके कई ताम्रपत्र उपलब्ध हैं। मैसूर में जैन ब्राह्मण छात्रालय एक आदर्श संस्था है।

इस प्रकार से माहण गोत्र का जैन धर्म में खूब महत्व है और इन्हीं महाणा लोगों ने ही अहिंसा-सत्य के प्रचार में सदा साथ दिया है। समाज इनकी तरफ लक्ष दे तो ये बहुत उपयोगी हो सकते हैं। जैन पण्डितों का निर्माण हो सकता है विवाह की विधि कराने के लिए जैनेतर पण्डितों का मुंह न ताकना पड़े, यह इन्हीं का आचार है।

यह सब तो प्रसंगोपात निर्देश हुआ, परन्तु श्री फतहचंदजी महात्मा ने इस उपकारी ग्रन्थ को अपने विवेचन द्वारा समाज में सरल और सर्व सुलभ बनाया है अतः वह धन्यवाद के पात्र हैं।

आशा है कि भविष्य में वह ऐसा ही साहित्य समाज के समक्ष रखते रहेंगे और अपने "माहण" पद को उज्ज्वल करते रहेंगे।

२७-९-५८
चन्द्रनगर सोसायटी
अहमदाबाद ७

जयभिक्खु

अध्यात्म कल्पद्रुम

ग्रन्थ तथा ग्रन्थकर्ता

जैसे कल्पवृक्ष वांछित फल का दाता है वैसे ही यह ग्रन्थ भी आध्यात्मिक वांछित फल–मोक्ष का दाता है। इसमें ऐसे विषय क्रमशः लिए हैं जो आत्मा में उत्तरोत्तर शांति प्रदान करते हुए ध्येय की तरफ ले जाते हैं। आत्मा का विषय कठिन होने से प्रायः मनुष्यों की मनोवृत्ति इससे दूर रहने की रहती है, परन्तु एक बार इस ग्रन्थ को मन लगाकर अवलोकन करना प्रारंभ करने से इसमें रुचि उत्पन्न हो जाती है। मानव को अपनी वास्तविकता का भान होने लगता है और उसे अपने विषय में विचारने का अवसर प्राप्त होता है, उस पर छाए हुए कुटुम्ब व संसार के लुभावने बादल फटने लगते हैं और वह ज्ञान सूर्य की पतली से किरण द्वारा शरीर के अन्दर रहे हुए स्वामी को देखने का अनुभव करने लगता है। ज्यों ज्यों वह इस ग्रन्थ को पढ़ता है त्यों त्यों उसे अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है और वह आत्म जागृति की ओर बढ़ता है, यही इस ग्रन्थ की सार्थकता है।

यह ग्रन्थ आत्मा से सम्बन्धित है अतः इसमें किसी भी तरह का धार्मिक पक्षपात या जातीय वर्गीकरण नहीं है, सब जीवों के समान हित की दृष्टि से यह लिखा गया है। इसकी

रचना विक्रम संवत १४७५ से लेकर १५०० तक होने की संभावना श्री मोतीचन्दजी भाई ने लिखी है जिसको पांच सौ वर्ष से ऊपर हो चुके हैं।

ग्रन्थ स्वयं ही चिन्तामणि रत्न स्वरूप है। संस्कृत के विद्वानों के लिए श्लोक ही पर्याप्त है, केवल हिन्दी के ज्ञाताओं के लिए अर्थ उपयुक्त है लेकिन सर्वसाधारण के लाभ के लिए विवेचन भी हितकर हो सकता है।

ग्रंथ के कर्ता—श्री मुनि सुन्दरसूरींश्वर

आपका जन्म वि० सं० १४३६ में हुवा। जन्मस्थान, माता-पिता आदि का वर्णन उपलब्ध नहीं है। मात्र ७ वर्ष की आयु में संवत १४४३ में आपने जैन धर्म की दीक्षा ली थी। सं० १४६६ में उपाध्याय पदवी तथा सं० १४७८ में सूरि पदवी श्री संघ ने अर्पण की। आप, श्री सोमसुन्दर सूरिजी के पट्टधर बने। दीक्षागुरु श्री देव सुन्दरसूरि थे या श्री सोम-सुन्दरसूरि थे यह अभी तक निर्विवाद सिद्ध नहीं हुआ हे। श्री देवसुन्दर सूरि उग्र पुण्य प्रकृति वाले थे जिनको वि० सं० १४४२ मे आचार्यपद मिला और सं० १४५७ में काल धर्म पाए जोकि सुधर्मास्वामी से पचासवें गच्छाधिपति थे। इनके पाट पर श्री सोमसुन्दर सूरि बैठे। श्री सोमसुन्दर सूरि का स्वर्गगमन वि० सं० १४९९ में हुवा और श्री मुनि सुन्दसूरि पाट पर बैठे। आपका स्वर्गगमन वि० सं० १५०३ में हुआ। इस विषय की विशेष जानकारी **"सोमसोभाग्य काव्य"** से करें।

आप श्री में तीन शक्तियां एक साथ विद्यमान थीं, यह एक असाधारण बात है। स्मरण शक्ति, कल्पना शक्ति, और न्याय शक्ति। इन तीनों का एक साथ होना प्रायः अनहोनी बात है। आज कल कई मुनिराज अवधान के प्रयोग करते हैं जिसकी सीमा १०० तक होती है और वे शतावधानी कहलाते हैं, परन्तु श्री मुनि सुन्दरसूरीश्वरजी तो सहस्त्रावधानी थे। इसे स्मरण शक्ति की प्रबलता की पराकाष्ठा ही समझें। दक्षिण देश के अन्य कौम के विद्वानों ने "काली सरस्वती" का पद (विरुद) अर्पण किया था जो कवित्व शक्ति को अद्भुत चतुरता का द्योतक है। तर्क-न्याय की निपुणता के लिए मुज्झफर खान बादशाह ने, "वादीकुलषंढ़" का विरुद अर्पण किया था। ऐसे महान् विद्वान, व आत्मज्ञानी के द्वारा यह ग्रन्थ रचा गया है अतः यह कितना उत्तम व हितकर है यह तो पाठक स्वयं ही सोच लेंगे।

संतिकरं स्तवन—जैनस माज में नवस्मरण का बहुत महत्व है। प्रत्येक धार्मिक कार्य में इसका पाठ होता है, कोई २ पुण्यशाली तो प्रति दिन इनका पाठ करते हैं। इन नौ में से तीसरा स्मरण, "संतिकरं" है। इस स्तवन की रचना भी आप श्री ने ही देवकुलपाटक में की थी।

देलवाड़ा—देलवाड़ा (मेवाड़-राजस्थान) या देवकुलपाटक नगर में संघ में अक्स्मात मरकी के उपद्रव से पीड़ित लोगों को देख कर अत्यंत करुणा वाले महात्मा मुनि सुन्दर सूरीश्वर जी ने सूरि मंत्र की आम्नाय वाला श्री शान्तिनाथ जिनका

स्तोत्र रचकर मरकी की उपशांति की।

यह गांव देलवाड़ा, उदयपुर से नाथद्वारा जाते समय बीच में १७ मील की दूरी पर है। दिन में १०-१२ मोटरें आती जाती हैं। पहले यहां ३०० जैन मंदिर थे, नगरी बहुत रमणीय थी, धर्मध्वजाओं की शोभा अपूर्व थी। इसका पूरा इतिहास विजयधर्मसूरीश्वर ने लिखा है। आज वहां ४ जैन मंदिर हैं। गांव में प्रवेश करते ही पहले श्री पार्श्वनाथ प्रभु का, समीप ही श्री महावीर स्वामी का मंदिर है। बाजार से सीधे राजमहल की तरफ जाते आदिनाथ प्रभु का मंदिर आता है, और बाजार को पार करके चौथा भी श्री आदिनाथ प्रभु का मंदिर आता है। इन चारों में से श्री महावीर स्वामी का मंदिर उपाश्रय में है, बाकी के तीनों मन्दिर बावन जिनालय के गंगनचुम्बी शिखरों वाले हैं। श्री आदिनाथ प्रभु के सब से बड़े मंदिर को खरतर वस्सही कहते हैं। यह मंदिर बहुत ही भव्य, रमणीय व विशाल है। मूलनायकजी की प्रतिमाजी इतनी मनोहर है कि जिसका वर्णन लेखिनी नहीं कर सकती। परिकर की रचना श्री केशरियाजी के मंदिर के मूलनायकजी के सदृश है। श्वेतपाषाण की यह प्राचीन प्रतिमा आजोड़ है। श्री पार्श्वनाथ जनालय की रचना भी वैसी है, प्रवेशद्वार के दाएं तरफ ऊपर एक छोटा मंदिर और है जिसमें भी मूल नायक श्री पार्श्वनाथजी ही हैं। इस मंदिर के नींचे एक भोंयरा है जिसमें बहुत ही प्राचीन विशाल श्वेत पाषण की १६ प्रतिमाजी हैं। राज महल के समीप वाला मंदिर भी ऐसा ही विशाल है। हाय! काल के विकराल काल से कौन बच सकता है, किसी समय

यह नगरी नंदनवन समी देव पुरी या अमरपुरी सदृश थी आज मूर्ति विरोधी समाज के प्रभाव से यह धर्म विहोणी हो रही है। मंदिरों की दुर्दशा है, देवरिया प्रायः खाली पड़ी है, उनकी मूर्तियां वहां के संघ ने बाहर नकरे पर देकर भव्य-स्थानकों की रचना की है, सेवा-पूजा करने वालों के अभाव से पुजारियों के भरोसे भगवान रह रहे हैं, शिखरों पर ध्वजाएं नहीं हैं, कोई २ प्रतिमाजी खण्डित हैं। देव पूजक नरों के अभाव में वानर व चामचिड़ियां को प्रभुत्व है। यह दशा इस समय इस प्राचीन नगरी को है। हे पुण्यशाली दानवीरो, धर्म वीरो और धर्म गुरुओ इस तरफ आप लक्ष दो आपसे यह प्रार्थना है। श्री सोमसुन्दर सूरि व श्री मुनिसुन्दर सूरि की विहार भूमि, निंब, विसल, साहण जैसे श्रावकों की जन्मभूमि, देवजी, रतनजी, मियाचन्दजी जैसे प्रभावशाली जैन ब्राह्मणों (माहण-महात्मा) की पवित्र जन्मभूमि इस देलवाड़े की दुर्दशा पर आज खेद होता है। यही पुण्य पवित्र व धर्म नगरी मेरी भी जन्मभूमि है। इस नगरी के राज्य गुरू राज्यज्योति श्रीलालजी महात्मा मेरे पिताजी हैं। मेरे घर पर एक अंबिका माता की मूर्ति है जिसके मस्तक पर श्री नेमिनाथ प्रभु की छोटी सी मूर्ति बनी है उस पर वि० सं० १४७६ में प्रतिष्ठित होने का लेख है।

इस प्रान्त में प्राचीन माहण जाति के लगभग ४०० घर हैं जो धर्म से जैन व वर्ण से ब्राह्मण हैं जिन्हें आज "महात्मा" कहते हैं। ये शुद्ध देश विरतिधर वृद्ध श्रावक हैं। श्री लक्ष्मी-प्रधानजी गणि ने रत्नसागर पृष्ट ६ व आचार रत्नाकर पृष्ट

२३ पर इनकी उत्पत्ति, इनका आचार, क्रिया, कर्म आदि का वर्णन किया है। इनके पूर्वज भरत राजा को चेतन करते रहते थे कि, "जितोर्भवान वर्द्धते भयं, माहण माहणेति" इसीलिए इस जाति का नाम माहण या महात्मा कहलाया। विशेष जानकारी के लिए मेरे द्वारा प्रकाशित पुस्तकें (१) आत्म-मार्गदर्शिका, (२) पार्श्वनाथ चरित्र, (३) जैन तीर्थ मित्र—राजस्थान व मध्यप्रदेश के जैन तीर्थों की मार्गदर्शिका (४) श्री केशरियाजी जैन गुरुकुल भजनावली देखें। कल्पक, शकटाल, स्थूलिभद्र, श्रीयक, चाणक्य आदि जैन माहण महात्मा थे।

देलवाड़े में एक जैन धर्मशाला है, मूर्तिपूजक श्रावक के घर कम हैं। स्थानकवासी भाइयों के करीब १०० है जो प्रति दिन दर्शन करते हैं। पास में नागदा प्राचीन नगरी है जहां शांतिनाथ प्रभु का मंदिर है। जैन तीर्थ मित्र में यह सब वर्णित हैं।

श्री मुनिसुन्दर सूरीश्वर ने अनेक शास्त्रों की रचना की जिनमें से कुछ का उल्लेख श्री मोतीचन्द भाई ने किया है वह निम्नलिखित है—

(१) त्रिदश तरंगिणी—इसमें चौवीस तीर्थंकरों का चरित्र और सुधर्मा स्वामी से मूलपाट पर बैठे हुए आचार्यों का, नाम निर्देष है।

(२) उपदेश रत्नाकर—इसमें उपदेश देने की विधि, उपदेश ग्रहण करने वाले की योग्यता-अयोग्यता के लक्षण आदि हैं।

(३) अध्यात्म कल्पद्रुम—यह ग्रन्थ स्वयं।

(४) स्तोत्र रत्न कोष—सूरिजी के बनाए हुए स्तोत्रों का संग्रह।

(५) मित्रचतुष्क कथा—चार मित्रों की उपदेशप्रद कथा का ग्रन्थ।

(६) शाँतिकर स्तोत्र—इसका वर्णन पीछे दिया है।

(७) पाक्षिक सित्तरी—यह लगभग २२ गाथा का छोटा प्रकरण है जिसमें पाक्षिक पर्व चतुर्दशी के दिन करना चाहिए यह बताया है।

(८) अंगुल सित्तरी—ऊपर के जैसा यह भी छोटा सा प्रकरण है।

(९) वनस्पति सित्तरी—ऊपर के जैसा यह भी छोटा सा प्रकरण है। इसमें प्रत्येक व साधारण वनस्पति के लक्षणादि का वर्णन संभव है।

(१०) तपागच्छ पट्टावली—तपागच्छ की पट्टावली के सम्बन्ध में।

(११) शांतरस रास—गुजराती भाषा में शांतरस का यह रास है।

श्लोकों की परिभाषा

अनुष्टुप या अनुष्टुभ—प्रत्येक पद में आठ अक्षर होते हैं। दूसरे तथा चौथे पद का सातवां अक्षर ह्रस्व होता है। पहले तथा तीसरे पद का सातवां अक्षर दीर्घ होता है।

स्वागता वृत्त—११ अक्षर। स्वागता रनभगैर्गुरुणा च। (३-८)

आर्यावृत्त—चार चरण होते हैं। अनुक्रम से १२, १८, १२-१५ मात्रा होती हैं।

उपेन्द्रवज्रा—११ अक्षर। उपेंद्रवज्रा पथमे लघौसा। (५-६)

वंशस्थ या वंशस्थविल वृत्त—प्रत्येक चरण में १२ अक्षर होते हैं। वंदति वंशस्थविलं जतौजहौ। (५-७)

उपजाति—प्रत्येक चरण में ११ अक्षर होते हैं। इंद्रवज्रा और उपेंद्रवज्रा के एक ही श्लोक में मिलने से यह छंद बनता है।

वसंततिलका—चौदह अक्षर होते हैं। उक्ता वसंततिलका तभजा जगौगः (८-९)

शार्दूलविक्रीड़ित—इसमें १९ अक्षर होते हैं। म, स, ज, स, त, त तथा ग। सूर्याश्वैर्यदिमः सजौस ततगा शार्दूलविक्रीडितम्।

मृदंग—इसमें १५ अक्षर होते हैं। त, भ, ज, ज, त्भौ जौ रो मृदंगः

आर्यागीति—चारों पदों में अनुक्रम से १२, २०, २२, २० मात्राएं होती हैं।

सर्वोपयोगी पुस्तकों के लेखन व प्रकाशन का लाभ देकर कृतार्थ करें।

अभी सुलभ कुल पुस्तकें :—

आत्म मार्गदर्शिका	मूल्य ७५ नए पैसे
श्री के० जैन गुरुकुल भजनावली	.. ७५ ,,
श्री पार्श्वनाथ चरित्र एवं पौषदशमी कथा	,, २५ ,,
श्री जैन तीर्थ मित्र (मध्यप्रदेश व राजस्थान के जैन तीर्थों की गाइड)	३७ ,,
श्री अध्यात्म कल्पद्रुम	पांच. रु: ५) रु०

(मात्र २५० प्रतियां शेष हैं)

पुस्तकें मिलने का पता:—

फतहचन्द महात्मा

मैनेजर

(१) श्री सातवीसदेवरी जैन मंदिर (२) श्री जैन धर्मशाला
किला चित्तौड़गढ़ (राज.) स्टेशन चित्तौड़गढ़

(३) दी महात्मा मोटर स्टोर्स, हाथीपोल बाहर, उदयपुर

(४) श्री मेघजी हीरजी गोड़ीजी चाल,
गुलालवाड़ी नाका, बम्बई २

(५) हिन्दी साहित्य मन्दिर ब्रह्मपुरी, अजमेर

(६) जोब प्रिन्टिग प्रेस, ब्रह्मपुरी, अजमेर

॥ ओ३म् अर्हम् ॥

ओ३म् परमात्मने नमः

अध्यात्मकल्पद्रुमाभिधान ग्रंथः

सविवरणः प्रारभ्यते

अथ प्रथमः समताधिकारः

अथायं श्रीमान् शांतनामा रसाधिराजः सकलागमादिसु शास्त्रार्णवोपनिषद्भूतसुधारसायमान ऐहिकामुष्मिकानंतानंद संदोहसाधनतया पारमार्थिकोपदेश्यतया सर्वरससारभूतत्वाच्च शांतरसभावनाध्यात्मकल्पद्रुमाभिधानग्रंथांतरग्रंथननिपुणेन पद्य संदर्भेण भाव्यते ॥

अर्थ - सर्व आगम आदि सुशास्त्र रूप समुद्र के सारभूत अमृत समान रसाधिराज शांत रस का, जो कि इस लोक और परलोक संबंधी अनंत आनंद समूह की प्राप्ति का साधन है, पारमार्थिक उपदेश देने में योग्य होने से एवं सर्व रसों में सारभूत होने से शांत रस की भावना वाले अध्यात्मकल्पद्रुम

नाम के प्रकरण में उस भावना को व्यक्त करने में निपुण पद्य बंध के द्वारा वर्णन करता हूँ ।

विवेचन—सभी आगम आदि सत् शास्त्रों के सारमय नवनीत समतत्त्व को शांत रस की उपमा दी है, वह अमृत समान है एवं रसाधिराज है । मधु, तिक्तादि पौद्गलिक रस तो नष्ट हो जाते हैं जब कि शांतरस अमरत्व को प्राप्त करता है अतः इसे अमृत की उपमा दी है । यह रस इहलौकिक तथा पारलौकिक सुख का कंद होने से अध्यात्मकल्पद्रुम नाम के ग्रंथ के अन्तर्गत समता नामक अधिकार में बहुत गंभीर शब्दों में पद्यबंध रचना के द्वारा इसका (श्लोकों में) वर्णन किया है । इसके लिए इसी ग्रन्थ के लेखक फरमाते हैं ।

स्वर्ग सुखानिपरोक्षण्यत्यन्तपरोक्षमेव मोक्षसुखम् ।
प्रत्यक्षं प्रशमसुखं न परवशं न च व्ययप्राप्तम् ॥

अर्थात स्वर्ग का सुख परोक्ष है और मोक्ष का सुख तो इससे भी अधिक परोक्ष है । प्रथम सुख (शांति का सुख) प्रत्यक्ष है; और इसे प्राप्त करनें में एक पैसे का भी खर्च नहीं होता है और वह परवश भी नहीं है ।

चार पुरुषार्थों में मोक्ष परम पुरुषार्थ है और उसके अधिकारी सहस्रावधानी, प्रत्यक्ष सरस्वतीरूप सोमसुन्दर सुरि के पट्टधर 'काली सरस्वती' विरुद धारक युगप्रधान तपगच्छ नायक संतिकरं स्तोत्र के रचयिता मुनि सुन्दरसूरि ने इस ग्रंथ की रचना की है ।

अथ मंगलाचरण-शांतरस-समताधिकारः

जयश्रीरांतरारीणां लेभे येन प्रशांतितः ।
तं श्री वीर जिनं नत्वा, रसः शांतो विभाव्यते ॥१॥

अर्थ—जिन श्री वोर प्रभु ने, उत्कृष्ट शांति द्वारा अंतरंग शत्रुओं को जीतकर मुक्ति रूप विजयलक्ष्मी प्रात की; उन श्री वीर परमात्मा को नमस्कार कर शांत रस की भावना भाता हूँ ॥ १ ॥ अनुष्टुप

विवेचन—संगमदेव के एक रात्रि में २० उपसर्ग सहने वाले, चंडकौशिक जैसे दृष्टि विषधर सर्प द्वारा डसे जाने वाले, शूलपाणि के पूरी रात्रि के विकट उपसर्गो को सहने वाले, गोशालक के तेजोलेश्या के उपसर्ग को सहने वाले महावीर प्रभु कैसे गंभीर व शांत चित्त थे यह तो कल्पना करने से ही प्रतीत हो सकता है। अति असहनीय कष्ट देने वाले पर भो अखंड शांति रखने का आंतरिक मनोबल कितना दृढ़ है जिसकी तुलना नहीं की जा सकती है। अतः ऐसे वीर परमात्मा का नाम स्मरण कर शांत रस भावना भाने का प्रयत्न किया गया है।

किसी भी शब्द मात्र को ग्रहण कर उसपर पूरा प्रयोग करने को निरुक्ति कहते हैं; अतः कितने ही शब्दों का व्युत्पत्ति से अर्थ न होकर प्रयोग से ही होता है। वीर शब्द के लिए निरुक्ति करते हुए विद्वान कहते हैं:—

विदारयति यत्कर्म, तपसा च विराजते ।
तपो वीर्येण युक्तश्च, तस्माद्वीर इति स्मृतः ॥

अर्थात जो कर्म का नाश करता है, तपस्या द्वारा शोभित

है। तप और वीर्य सहित होने से 'वीर' कहलाता है। व्युत्पत्ति से भी देखें कि:—विशेषेण ईरयति प्रेरयति कर्माणीति वीरः। अर्थात जो कर्मों को प्रेरित करता है, धक्का मारता है, आत्मा से अलग करके उन्हें निकाल फेंकता है वह 'वीर' है। ऐसे श्री वीर परमात्मा को नमस्कार करके मंगलाचरण किया है।

आज हम अपने व्यवहारिक जीवन में प्रत्यक्ष देख रहे हैं और भुगत रहे हैं कि हमारे शत्रु और मित्र किस तरह कार्य कर रहे हैं। भौतिक कारणों द्वारा दंड-शिक्षा या सज़ा द्वारा जीते हुए शत्रु बढ़ते हैं, घटते नहीं हैं। अग्नि से अग्नि बढ़ती है अर्थात् क्रोध मान माया लोभ आदि के द्वारा शत्रुओं की वृद्धि होती है, कमी नहीं होती, परन्तु जिस प्रकार जल द्वारा अग्नि शांत होती है उसी प्रकार शांतरस के द्वारा, समता द्वारा बाहर के व अंदर के शत्रु जीते जा सकते हैं। उसी शांतिरस द्वारा महावीर प्रभु ने आत्मशत्रुओं को, कषाय तथा अष्ट कर्मों को जीता, अतः उनको नमस्कार कर उनका अनुकरण करना चाहिए जिससे शांतरस की प्राप्ति हो।

महावीर स्वामी—महावीर प्रभु आज से २५५५ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला १३ के दिन बिहार की वैंशाली नगरी में सिद्धार्थ राजा के घर त्रिशालराणी की कुक्षी से जन्मे। यशोदा से विवाह हुआ। एक पुत्री प्रियदर्शना नामक हुई। जन्म से दयालु व वैराग्यवान थे। यज्ञ-हवन में धर्म के नाम पर होते हुए मूक पशुओं के बलिदानों ने उन्हें संसार के कल्याण के लिए ३० वर्ष में ही गृह त्याग करने को विवश किया। १२ वर्ष तक अनेक कष्ट सहन कर तप किया। इतने बड़े समय में उन्होंने

३४६ दिन भोजन किया एवं ४८ मिनट ही (एक मुहूर्त तक) नींद ली। तप संयम द्वारा, आत्म मनन कर केवल ज्ञान प्राप्त कर दुःखी जीवों को सच्चा मार्ग बताया। तपस्या काल में, किसी ने उनके पैरों पर खीर पकाई, कानों में कीले गाड़े, सांपों ने काटा, चोरों ने मारा, देवों ने अनेक उत्पात किए, हथोड़ों की चोट सिर पर मारी, सिंह, हाथी आदि ने कष्ट दिया। सबको शांति से सहन किया। तभी सब कर्मों से मुक्त हुए। पश्चात ही करुणाकारी प्रभु ने भव में भटकते हुए, भान भूले हुए, पापरत प्राणियों को बोध दिया, "आत्म-शक्ति को पहचानो", "कर्मों के संसर्ग से आए हुए मैल को दूर कर सच्चा सुख प्राप्त करो, प्रत्येक प्राणि में अनंत शक्ति है उसे पहचान कर उपयोग में लाओ। अनंत सुख मिलेगा।" ७२ वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर कार्तिक कृष्णा अमावस्या-दीपमालिका को सब बंधनों से मुक्त हो पावापुरी में मोक्ष-गामी हुए। तर गए और तार गए।

अनुपम सुख के कारण भूत-शांतरस का उपदेश

सर्वमंगलनिधौ हृदि यस्मिन्, संगते निरूपम् सुखमेति।
मुक्तिशर्म च वशीभवति द्राक् तं बुधा भजत शांतरसेद्रम् ॥२॥

अर्थ—"जिसके हृदय में सर्व मंगलों के निधान (खजाना) जैसा शांतरस प्राप्त हो जाता है वह अकथनीय सुख प्राप्त करता है एवं मोक्ष के सुख का वह अधिकारी (स्वामी) हो जाता है। मोक्ष उसके वश में हो जाता है। हे पंडितो! आप उस शांतरस का पान करो। उसे भजो-सेवो-भावो"॥२॥

स्वागतावृत्त

विवेचन—अनेक शास्त्रों को पढ़ने में, डिगरियां हासिल करने में, भाषण देने में या वादविवाद करने में ही पांडित्य नहीं है कारण कि इससे आत्मा का वास्तविक हित नहीं होता है। सच्चा पंडित तो वही है जो भाषा ज्ञान या शास्त्राध्ययन द्वारा आंतरिक शक्ति को पहचानने का प्रयत्न करता है व शांतरस का पान करता है।

इस ग्रंथ के सोलह द्वार

समतैकलीनचित्तो, ललनापत्यस्वदेहममतामुक्।
विषयकषायाद्यवशः शास्त्रगुणैर्दमित चेतस्कः ॥३॥
वैराग्य शुद्ध धर्मा, देवादि सतत्त्वविद्विरतिधारी।
संवरवान् शुभवृत्तिः साम्यरहस्यं भज शिवार्थिन् ॥४॥ युग्मम् ॥

अर्थ—"हे मोक्षार्थी प्राणी ! तू समता पर लवलीन चित्त वाला बन; स्त्री, पुत्र, धन और शरीर की ममता छोड़ दे; वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि इन्द्रियों के विषय और क्रोध, मान माया, लोभ इन कषायों के वश में मत रह; शास्त्ररूपी लगाम के द्वारा मनरूपी अश्व को वश में रख; वैराग्य द्वारा शुद्ध-निष्कलंक धर्मात्मा बन; देव गुरु धर्म के शुद्ध स्वरूप को जानने वाला बन; सभी प्रकार के सावद्य योगों से (पापकारी कार्यों से) निवृत्तिरूप विरति धारण कर; संवर वाला बन, अपनी वृत्तियों को शुद्ध रख और समता के रहस्य को जान।

॥ ३ । ४ ॥

आर्यावृत्त

विवेचन—इन दोनों श्लोकों में इस ग्रंथ के सोलह अध्यायों का नाम निर्देश कर उपदेश दिया है जो प्रत्येक अध्याय में विवेचन सहित आप पढ़ेंगे। सोलह अध्याय वही हैं जो विषय सूचि में हैं।

समता अधिकार—भावनाभाने के लिए मन को उपदेश

चित्त बालक मा त्याक्षी रजत्रं भावनौषधीः।
यत्त्वां दुर्ध्यानभूता, छलयन्ति छलान्विषः ॥५॥

अर्थ—"हे चित्तरूप बालक! तू भावनारूपी औषधि को अपने पास से कभी दूर मत करना जिससे दुर्ध्यानरूपी भूत पिशाच जो सदा छल को खोजते रहते हैं, तुझे नहीं छल सकेंगें ॥ ५ ॥ अनुष्टुप

विवेचन—समता आदि आध्यात्मिक विषय में यह आत्मा अभी बहुत पाछे है अतः उसके मन को बालक कहा गया है। लौकिक रूढ़ी को मानने वाले जिस प्रकार गले में मंत्रित (ताबीज़) मादलिया पहनकर यह मानते हैं कि देव दोष दूर हो गया और अब दुबारा वह न होगा इसी रूपक को लेकर यहां कहा गया है कि उत्तम भावना सदा मन में रखने से आर्द्र रौद्र ध्यान आदि का असर न होगा। परम शांति चित्त में रहेगी। चित्त का असंतुलन, व अस्थिरता, दूर होगी। भावनाओं का वर्णन आगे आएगा। समता का अर्थ है प्रत्येक दशा में चित्त को शांत रखना सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान; संयोग-वियोग, सौभाग्य-दुर्भाग्य; इष्ट-अनिष्ट;

आदि की दशा में चित्त का सन्तुलन बनाए रखना। एकदम सुखी या दुःखी, प्रफुल्ल या ग्लान, (राज़ी या नाराज़) न होकर चित्त को सम स्वभाव में बना रखना।

इन्द्रियों के सुख—समता के सुख

यत्किंचिदिन्द्रियार्थैः सकलैः सुखं स्यान्नरेन्द्रंचक्रित्रिदशाधिपानाम्।
तद्बिंदवत्येव पुरो हि साम्यसुधांबुधेस्तेन तमाद्रियस्व ॥६॥

अर्थ—समता के सुखरूप समुद्र के सामने इन्द्रिय जनित राजा, चक्रवर्त्ती और देवेन्द्र का सब प्रकार का सुख भी वास्तव में एक बिन्दु के बराबर है अतः समता के सुख को ग्रहण कर ॥ ६ ॥ उपेन्द्रवज्रावृत्त

विवेचन—संसार में सभी सुख चाहते हैं, परन्तु सुख का स्वरूप नहीं जानते हैं। इन्द्रियों के विषयों की तृप्ति को ही हम सुख मान बैठे हैं। एक वस्तु अभी सुखकर प्रतीत हो रही है वही कुछ समय पश्चात् दुःखकर हो जाती है जैसे कोई आदमी किसी स्वादिष्ट वस्तु को सुखकर मानकर अधिक मात्रा में खा लेता है जिससे उसे अजीर्ण आदि रोग हो जाते हैं और वह दुःखी हो जाता है। एक मनुष्य विषय भोग में सुख मानकर सदा काल उसी में तत्पर रहता है जिससे क्षय आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं और वह अकाल मृत्यु द्वारा काल का कवलित बनता है।

हमारे सुख, वैभव एक दूसरे से न्यूनाधिक मात्रा में होने से हमें खेद एवं प्रसन्नता पहुंचाते हैं लेकिन जब उनका प्रमाण

जब अन्यत्र हमसे कम ज्यादा नज़र आता है तब उस दशा को भी स्थिर नहीं रहने देते हैं। ईर्ष्या या असंतोष का भाव पैदा कर देते हैं। एक धनवान को देखकर दूसरा धनवान जलता है।

अतः इन्द्रिय जनित सुख, दुःखदायी एवं अस्थिर है क्योंकि इन्द्रियां शरीर के साथ ही नष्ट होने वाली हैं अतः समता का सुख जो आत्मा का सुख है वही सच्चा सुख है। राजा तक के सुख भी नष्ट हो जाते हैं यह तो प्रत्यक्ष है ही। जिनके महलों में अनेक नौकर रहते थे वे स्वयं ही आज दूसरों के नौकर हैं, जिनके यहां हाथी चिंघाड़ते और घोड़े हिनहिनाते थे वे आज स्वयं सड़कों पर अकेले चल रहे हैं।

"तीन बेर खाती थी सो तीन बेर खाती है"
"बीन बीन खाती थी सो बीन बीन खाती है"।

चकवर्ती एवं इन्द्र देव के सुख भी आयुष्य समाप्त होते ही समाप्त हो जाते हैं। अतः अमर आत्मा का समतारूपी सुख ही स्थायी एवं सच्चा सुख है।

सांसारिक जीवन के सुख व यति के सुख

अदृष्टवैचित्र्यवशाज्जगज्जने, विचित्रकर्माशयवाग् विसंस्थुले।
उदासवृत्तिस्थितचित्तवृत्तयः, सुखं श्रयन्ते यतयः क्षतार्तयः।।७।।

अर्थ—"जब कि जगत के प्राणी पुण्य-पाप के वैचित्र्य के आधीन हैं, एवं अनेक प्रकार के शरीर के कार्यों, मन के कार्यों व वचन के कार्यों (व्यापार) से अस्वस्थ (अस्थिर) हैं, तब वे यति जिनके चित्त की वृत्ति माध्यस्थ है (विरक्त है) और

जिनके मन की आधियां (पीड़ाएं) नाश हो गई हैं वे सच्चे सुख को भोगते हैं ।। ७ ।। वंशस्थवृत्त

विवेचन—समता या उदासीनता आए बिना सुख की प्राप्ति नहीं होती है । पूर्वभव के पुण्योदय से ऐहिक सुख प्राप्त होते हैं तब प्राणी आनंद में विभोर रहता है । उसे धन का नशा छाया रहता है या अधिकार का मद रहता है, जिसके द्वारा वह अपने आपको भूल जाता है और उस मिले हुए धन या अधिकार से नए पापों का क्रम चलाता है । पाप उदय होते ही वे सब सुख–धन–अधिकार बादल की छाया की तरह नष्ट हो जाते हैं तब वह दुःखी होता है । कर्माधीनता से प्राणी संसारचक्र में फिरता है । अतः वास्तव में सुखी वही है जिसे इस संसार के खेल तमाशों का भान हो जाय और इन घटते बढ़ते पदार्थों की वास्तविकता का बोध हो जाय ।

भर्तृहरि राजर्षि ने भी कहा है कि :—

मही रम्या शय्या विपुल मुपधानं भुजलता,
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोयमनिलः ।
स्फुरद्दीपश्चंद्रो विरतिवनितासंगमुदितः,
सुखं शांतः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव ।।

अर्थात् जिसके लिए पृथ्वी ही सुखकर शैय्या है, लता सदृश भुजा ही सिराना है, आकाश ही चादर है, अनुकूल हवा ही पंखा है, चद्र ही दैदीप्यमान दीपक है, विरति ही आनंद देने वाली स्त्री है ऐसे मुनि शरीर पर भस्म लगाकर उसी प्रकार

सुख से सोते हैं जिस प्रकार राजा सब साधनों से घिरा हुआ सुख शय्या में सोता है।

समता के सुख को अनुभव करने का उपदेश

विश्वजन्तुषु यदि क्षणमेकं, साम्यतो भजसि मानस मैत्रीम्।
तत्सुखं परममत्र परत्राप्यश्नुषे न यदभूत्तव जातु ॥ ८ ॥

अर्थ—"हे मन! यदि तू एक क्षण के लिए भी सर्व प्राणियों पर समता से मैत्री भाव रखेगा तो वह सुख ऐसा होगा जिसका तूने कभी भी अनुभव नहीं किया होगा" ॥ ८ ॥

स्वागतावृत्त

विवेचन—बिना अनुभव के समता के सुख का मूल्य प्रतीत नहीं होता है। हे मन! तूने अनेक प्रकार के सांसारिक सुखों का अनुभव किया है और तुझे उनसे खेद भी मिला है अतः परहित चिन्तन के सहित, मैत्रीभाव से सब प्राणियों की तरफ शुभ भावना रखकर देख तो सही कि कैसा अनिवर्चनीय, अपूर्व, अनन्त आनंद मिलता है। समता रखना बहुत ही कठिन है, इसका उपदेश देना या लिखना आसान है परन्तु जब स्वयं पर बीतती है उस वक्त मन समता से परे हो जाता है अतः मन को वश में करने के लिए ही समता धारण करने की अत्यंत आवश्यकता है। क्रोधरूपी बलवान योद्धा कमजोर समता को जल्दी पछाड़ देता है लेकिन बलवान-स्थायी समता क्रोध को पराजित करती है वही वास्तविक आनंद है।

समता की भावना—उसका दर्शन

न यस्य मित्रं न च कोऽपि शत्रुर्निजः परो वापि न कश्चनास्ते।
न चेंद्रियार्थेषु रमेत चेतः, कषायमुक्तं परमः स योगी ॥ ६ ॥

अर्थ—"जिसका न कोई मित्र है, न कोई शत्रु ही है, जिसका न कोई अपना है, न पराया ही है; जिसका मन कषाय रहित होकर इन्द्रियों के विषयों में रमण नहीं करता है वही परम योगी है ॥ ६ ॥ **उपेन्द्रवज्रा**

विवेचन—जिस प्रकार रंगरेज़ कपड़े को रंगने से पहले उसका पहले का रंग धो डालता है, उसे उकालकर साफ करता है तभी उस पर इच्छित रंग चढ़ा सकता है, उसी प्रकार हम सब जो परमात्मा के रंग में रंगना चाहते हैं उनका कर्त्तव्य है कि हमारे मन जो कि अनेक आधि-व्याधिरूप रंगों से रंगे हुए हैं उनको तपाग्नि में तपाकर साफ कर लें अर्थात मन-वस्त्र का जो वास्तविक रंग है, उसे प्राप्त करें।

कैसे भी संयोग क्यों न उपस्थित हों, कोई चाहे किसी भी तरह विचलित करना चाहता हों, मर्म स्थानों पर शारीरिक पीड़ा करता हो, या मार्मिक शब्दों द्वारा मन को आवेश में लाना चाहता हो फिर भी जो सम परिणामों में रहता है वही सच्चा उपासक या परम भक्त योगी है। नमि राजर्षि का दृष्टांत अत्यंत उपयोगी होने से उत्तराध्ययन सूत्र से संक्षिप्त उद्धरित किया है:—

मिथिला नगरी के राजा नमि को एक बार दाह ज्वर हुआ। उसकी शांति के लिए लेप करने के लिए उसकी ५००

रानियाँ चंदन घिस रहीं थीं जिनके कंकनों की रुनझुन ने उसकी पीड़ा और भी बढ़ा दी, जिससे रानियों ने सब कंकन खोलकर मात्र एक एक हाथ में रखा। वातावरण शांत हुवा जिसके कारण को जानकर राजा ने सोचा कि जिस प्रकार इतने कंकन एक साथ रहने से झनझनाहट होती थी और केवल एक ही रहने से शांति हुई, एक से दो हों तो बजें, अकेला बजे किससे। यह साधारण घटना उसके जीवन को पलटने वाली हुई। उसने निश्चय किया कि इतने सारे परिवार की अपेक्षा अकेले में अधिक सुख है। जब यह रोग मिटेगा तो मैं भी अकेला बन जाऊंगा। उसी रात को रोग शांत हो गया और प्रातः वह सर्वस्व का त्यागकर वन में चला गया। संवेगी हुवा। वीतराग का उपासक बना। वहां राजा इंद्र आकर कहता है कि:—हे राजा अग्नि और वायु के प्रकोप से तेरा घर जल रहा है; भयभीत हुई तेरी रानियों की तरफ तूं क्यों नहीं देखता है ?

राजर्षि नमि:—जिसका अपना कोई नहीं है, ऐसा मैं सुख से रहता हूँ और जीता हूँ। यदि पूरी मिथिला भी जल जाय तो भी मेरा कोई नहीं जलता है। स्त्री पुत्र का त्याग कर निर्व्यापार भिक्षु के लिए प्रिय भी कुछ नहीं है और अप्रिय भी कुछ नहीं है। मैं अकेला हूँ मेरा कोई नहीं है ऐसा जानने वाले और सर्व बंधनों से छूटे हुए गृहत्यागी भिक्षु को अपार शांति है।

देवेंद्र:—हे राजा ! तू क्षत्रिय है ! तुझे तो अपने नगर

के चारों तरफ किला, दरवाज़े, बुरज, खाइयां, शतघ्नी यन्त्र, तैयार कराने चाहिए और नगर की रक्षा करनी चाहिए।

नमिः—"श्रद्धारूपी नगरी का क्षमारूपी मज़बूत किला बनाकर तप-संयमरूपी भागल (रोक) लगा रखी है, मन, वचन और काया का नियमन क्रमशः बुरज, खाई व शताघ्नी यंत्र हैं। इनसे वह किला सुरक्षित व अजेय है। पराक्रमरूपी धनुष्य पर सदाचाररूपी प्रत्यंचा चढ़ाकर धृति (धैर्य) रूपी मूठ से उस धनुष्य को पकड़कर, सत्य द्वारा उसे खींचकर, तपरूपी बाण से कर्मरूपी कवच को भेदकर मैं उस संग्राम का अंत लाता हूँ अर्थात संसार से मुक्त होने का प्रयत्न करता हूँ।

समता के अंग—चार भावना

भजस्व मैत्रीं जगदंगिराशिषु, प्रमोदमात्मन् गुणिषु त्वशेषतः।
भवार्त्तिदीनेषु कृपारसं सदा—प्युदासवृत्तिं खलु निर्गुणेष्वपि ॥१०॥

अर्थ—हे आत्मा! जगत के समस्त जीवों पर मैत्री भाव रख; गुणि जनों पर प्रमोद रख; संतप्त (संसार से दुःखी) पर करुणा कर एवं निर्गुणी जीवों पर उदासीनता—उपेक्षा रख ॥ १० ॥　　वंशस्थवृत्त

विवेचन—शास्त्रों में कहा है, "भावना भवनाशिनी"। संसार के तमाम जीवों को एक हो समान प्रेम से देखना चाहिए। कोई भी जीव किसी भी योनि या जाति का हो, हम उसके निस्पृह मित्र हैं, यह पहली मैत्री भावना है। दूसरी भावना में गुणवान के प्रति आदर होने से विशेष प्रसन्नता होती है, यह प्रमोद भावना है! दुःखी जीव को देखकर हमारे

मन में उसके प्रति दया उत्पन्न होती है वही करुणा भावना है। गरीब, अंधा, लंगड़ा, अपाहिज भिखारी, इन पर यथा शक्ति दया पूर्ण नजर रखकर उनको सहायता देना चाहिए। इसमें पात्र कुपात्र का प्रश्न नहीं है। छोटे से लेकर बड़े जीवों पर करुणा करना चाहिए जैसे कि मार्ग में चलते हुए कीड़े, मकोड़े, मेंढक, अलसिए को बचाना, पशु पक्षी को घास दाना डालना, उनका पैर या पंख टूट गया हो तो दवा का प्रबंध करना गरीब या पीड़ित मनुष्य की आवश्यकता पूरी करना। दवा कराना। जाति पांति का भेदभाव छोड़कर उनकी भूख तरस मिटाना, सर्दी गर्मी का यथाशक्ति बचाव करना। जिसका कोई संबंधी न हो उस दीन-हीन असहाय का बंधु बन कर उसको संतुष्ट करना यह करुणा भावना है। उदासीन भावना वह है कि कोई अपनी उत्तम बात को न मानकर भी अपनी कुमति से प्राणियों का बध करता हो, चोरी करता हो, अनेक प्रकार के कुकर्म कर समाज का व धर्म का अहित करता हो फिर भी अकड़ कर फिरता हो, अतः अपने वश की बात न हो वहां उस पर मध्यस्थ भाव रखना चाहिए। अच्छा भी नहीं और बुरा भी नहीं। उसका किया वह भोगेगा क्योंकि हमारा उस पर कोई जोर नहीं है। वह सुनता ही नहीं, धर्म को मानता ही नहीं या उसका मित्र समूह प्रबल होने से उसे सन्मार्ग की अपेक्षा कुमार्ग पर ले जा रहा है इसलिए विवशता है। अपने आपको धर्माचार्य, ऋषि, मुनि, संत, साधु, तपस्वी मानने वाले कई लोग अनेक भोले व अनभिज्ञ लोगों को बातों की चतुराई से अपना अनुयायी बनाकर अपनी रूढ़ी का उपासक

बनाकर कथा मनोरंजन द्वारा उनका धन व समय नष्ट करते हैं। सांसारिक भूल भुलैया में डालते हैं, पंथ के वाड़े में घेर लेते हैं, तत्त्व तो बतावें कहां से, क्योंकि वे खुद ही नहीं जानते, अतः निसत्त्व मनोरंजनों से ढाल-चौपाइयों गीतों से उन्हें प्रसन्न रख वाह वाह की पुकार कराते हैं और अपना चित्र देखकर या जय जय सुनकर प्रसन्न होते हैं। उन जैसे बिचारे जीवों पर करुणा तो आती है परन्तु वे बाड़े में बंधे हैं, हमारा जोर न चलने से उदासीनवृत्ति रखनी पड़ती है यही माध्यस्थ भावना या उपेक्षावृत्ति है।

चारों भावनाओं का संक्षिप्त स्वरूप

मैत्री परस्मिन् हितधीः समग्रे, भवेत्प्रमोदो गुणपक्षपातः।
कृपा भवार्त्ते प्रतिकर्तुमीहोपेक्षैव माध्यस्थ्यमवार्यदोषे ॥११॥

अर्थ—दूसरे समस्त प्राणियों पर हित बुद्धि, मैत्री भावना; गुण का पक्षपात होना, प्रमोद भावना; भवरूपी व्याधि से पीड़ित प्राणियों को भाव और औषधि से अच्छा करने की भावना, करुणा भावना; अशक्य दोषवाले प्राणियों पर उदासीनता माध्यस्थ भावना। उपजाति

चारों भावनाओं का हरिभद्र सूरिकथित स्वरूप

परहितचिंता मैत्री, परदुःखविनाशिनी तथा करुणा।
परसुखतुष्टिर्मुदिता, परदोषोपेक्षणमुपेक्षा ॥ १२ ॥

अर्थ—अपनी आत्मा के सिवाय अन्य आत्माओं की चिंता करना मैत्री; दूसरों के दुःखों को नाश करने की चिंता करुणा, दूसरों को सुखी देखकर प्रसन्न होना प्रमोद; पराए दोषों को

देखकर उदासीन रहना, (न प्रशंसा न निंदा) माध्यस्थवृत्ति से रहना, उपेक्षा है। आर्यावृत्त

मैत्री भावना का स्वरूप

मा कार्षीत्कोपि पापानि, माचाभूत्कोपि दुःखितः।
मुच्यतां जगदप्येषा, मतिर्मैत्री निगद्यते ॥ १३ ॥

अर्थ—कोई प्राणी पाप न करे, कोई दुःखी न हो, इस जगत से जोव, कर्म रहित होकर मुक्त हो; ऐसी बुद्धि सब प्राणियों के प्रति होना मैत्री है। अनुष्टुपवृत्त

अष्टादशपुराणानां, सारात्सारः समुद्धृतः।
परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनं ॥

विवेचन—लौकिक दृष्टि से आज संसार स्वार्थी होता जाता है, किसी को दूसरे की परवाह नहीं है, सब अपने अपने हाल में मस्त हैं परन्तु यह सब उल्टा हो रहा है। आज हम स्वार्थी (स्व-अर्थी) न होकर परमार्थी (परम्-अर्थी) हो रहे हैं अर्थात् स्व का, आत्मा का हित न चाहते हुए पर (संसार की नाशवान वस्तुओं) का हित चाह रहे हैं। सांसारिक सुख वैभव को संभाले हुए हैं जब कि आत्मा का विचार भी नहीं करते हैं। अतः हमें अपना मित्र बन कर वैसी ही मित्रता सब जीवों की तरफ रखनी चाहिए।

प्रमोद भावना का स्वरूप

अपास्ताशेषदोषाणां, वस्तुतत्त्वावलोकिनाम्।
गुणेषु पक्षपातो यः, स प्रमोदः प्रकीर्तितः ॥१४॥

अर्थ—जिन्होंने सब दोषों को दूर किया है और वस्तु

तत्व को जो देखते हैं उनके इन गुणों पर जो पक्षपात करना है वह प्रमोद कहा जाता है ।। १४ ।। अनुष्टुवृत्त

विवेचन—गुणी जनों की तरफ स्वयं श्रद्धा हो जाती है और उनका बहुमान होता है इसी का नाम प्रमोद है। यहां, "सर्वेगुणाकांचनमाश्रयंते" से तात्पर्य नहीं है। क्षमा, धैर्य, सेवा, सत्य आदि जो आत्मिक भाव हैं वे ही गुण हैं। श्रीकृष्ण महाराज के छोटे भाई गज सुकुमाल, जो वैराग्य युक्त होकर स्मशान में ध्यान कर रहे थे उनके भावी श्वसुर ने अपनी पुत्री का सांसारिक अहित समझ कर गीली मिट्टी का घेरा बनाकर उनके सिर पर रख दिया व उसमें धधकते हुए अंगारे रखकर यह संतोष माना कि मैंने इससे बदला ले लिया है। परन्तु क्षमा के अवतार गजसुकुमाल मन में यह सोच रहे थे कि, "अहो मेरे भावी श्वसुर को धन्य है, जिन्होंने स्थायी पगड़ी बांधकर मेरा मोक्ष मार्ग साफ कर दिया है, यदि मैं विवाह करता तो वह कपड़े की पगड़ी देते जो फट जाती, परन्तु यह पगड़ी तो मेरी अग्नि परीक्षा है कि मैं ध्यान में कितना निश्चल रह सकता हूँ"। परिणामतः सिर फट गया, व साथ ही उनके कर्मों का पर्दा भी फट गया। केवल ज्ञान सूर्य का उदय हुआ और पुनरागमन रूप तम का नाश हुआ अर्थात् मोक्ष हुआ। यह क्षमा गुण है जिसके लिए प्रमोद करना चाहिए। "उत्तम ना गुण गावतां गुण आवे निज अंगे।" ये शब्द भी प्रमोद की पुष्टि करते हैं।

करुणा भावना का स्वरूप

दीनेष्वार्त्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम् ।
प्रतिकारपरा बुद्धिः कारुण्यमभिधीयते ।। १५ ।।

अर्थ—दीनों पर, आर्तों पर, भयभीत हुओं पर, जीवन की भिक्षा मांगने वालों पर, जो उपकार बुद्धि है, उनको दुःख से छुड़ाने की जो बुद्धि है, वही करुणा कहलाती है ।। १५ ।।

अनुष्टुभ

विवेचन—दीन-हीन बिचारा गरीब प्राणी अन्न के लिए वस्त्र के लिए या बीमारी के समय दवा के लिए दुःखी होता है उसे सहायता देना, करुणा है । मूक (बिना बोलने वाले) प्राणी मनुष्य की अपेक्षा भी अधिक करुणा के पात्र हैं । वे कुछ भी कहकर अपना दुःख प्रकट नहीं कर सकते हैं अतः उन पर अवश्य दया दृष्टि रखनी चाहिए । इनसे भी अधिक तो कीड़े मकोड़े मेंढक आदि उन छोटे २ जन्तुओं पर करुणा करना चाहिए जिन्हें हम अंधेरे में या उजेले में पैरों नीचे कुचलते जाते हैं। वे निरपराध प्राणी हमें काटते नहीं हैं, हमारा कुछ बिगाड़ते नहीं हैं, इसीलिए हम उनसे डरते नहीं हैं और बेपरवाही से चलकर या मिठाई खाकर दूना रास्ते में डालकर उन्हें खाने को बुलाते हैं और कुत्तों द्वारा चटवाते हैं या आंख सहित सूरदासों से कुचलवा देते हैं । मीठी वस्तु में सुगंध है जिस कारण से वे आते हैं और हम उन्हें प्रत्यक्ष या परोक्षरीति से मार डालते हैं, अतः गन्ने, सीताफल, रायण, आम या मिठाई खाकर उसके छिलके व दूने ऐसी जगह

डालने चाहिए जहां जन्तु न पहुंच पावें, उन्हें राख से या मिट्टी से ढांक दें या जला दें या एकांत घास में डाल दें जहां जीवों के मारे जाने की संभावना न हो। यही करुणा भावना है। सबसे ज्यादा करुणा के पात्र वे हैं जो आधुनिक भौतिक शिक्षा सम्पन्न, आत्मा परमात्मा को नहीं मानने वाले मौज शोक करने वाले बाबू लोग हैं या साधुता के बाने से अपने आपको ढककर शब्द जाल से भोले जीवों को उन्मार्ग में ले जाने वाले बाबा लोग हैं तथा जो धनी हैं या पदाधिकारी हैं। धन का भूत उन्हें आत्मा की तरफ देखने नहीं देता है वे अपने हाल में मस्त होकर या औहदे के नशे में बे परवाह हो रहे हैं। उनको आत्ममार्ग बताने वाला मनुष्य सच्चा करुणा का अवतार है। वे किसी का उपदेश सुनना नहीं चाहते, सत्शास्त्रों का अभ्यास करना नहीं चाहते, सत्संग से दूर रहते हैं फिर उनमें जीवों पर करुणा करने की भावना कैसे पैदा हो सकती है ? अतः वे सबसे अधिक करुणा के पात्र हैं। जब जब भी अवसर मिले उन तक सद्विचार पहुंचाने चाहिएं—बातचीत कर उन्हें संत समागम या सत्शास्त्रों की तरफ प्रेरित करना चाहिए। उनमें दीन-दुःखी पर करुणा करने की भावना पैदा करना चाहिए। उनके धन का सदुपयोग कराना भी करुणा भावना है। यह उत्कृष्ट श्रेणी की करुणा है। अभय दान देना अर्थात् किसी को मरने से बचाना, उसे निर्भय करना यह करुणा भावना है। प्रत्येक मनुष्य में सद्बुद्धि पैदा कर उसे धर्म में लगा कर उसका कल्याण करना भी करुणा भावना है।

माध्यस्थ भावना का स्वरूप

क्रूरकर्मसु निःशंकं, देवतागुरुनिंदिषु ।
आत्मशंसिषु योपेक्षा, तन्माध्यस्थ्यमुदीरितं ॥ १६ ॥

अर्थ—निशंक होकर क्रूर कर्म करने वाले, देव गुरु की निंदा करने वाले, अपनी प्रशंसा आप ही करने वाले प्राणियों की तरफ उपेक्षा रखना माध्यस्थ भावना है ॥ १६ ॥

अनुष्टुभ

विवेचन—राख की ढेरी के नीचे आग जिस प्रकार छुप जाती है बुझती नहीं है उसी प्रकार से कर्मों के आवरण से आत्मा अपना भान भूल जाता है, अस्तित्व तो मौजूद है। वैसे ज्ञान शून्य आत्मा कितने ही प्रकार के क्रूर कर्म करते हैं। बकरों, गायों, भैसों आदि को कसाई खाने में ढकेल आने वाले खटीक, उन्हें काटने वाले कसाई, चिड़ीमार, शिकारी, आदि के कर्म कितने क्रूर हैं ? मालगाड़ी के डब्बे बकरे बकरियों से भरे देखकर आंखों में आंसू आते हैं, हमारा वश नहीं चलता है अतः उन मारे जाने वाले प्राणियों के प्रति करुणा और उन मारने वाले या मांसाहार प्रोत्साहकों के प्रति उपेक्षा रखना ही माध्यस्थ भावना है। सच्चे देव और सच्चे गुरु की निंदा करने वाले तथा अपनी प्रशंसा आप करने वाले प्राणी भी उपेक्षा के पात्र हैं। यहां यह तात्पर्य नहीं है कि ढोंगी, दिखावटी, बक् भगत, अंतर कपटी गुरुओं के करणी का अनुमोदन करें। उनकी परीक्षा कर, वास्तविक स्थिति को पहचानने के पश्चात ही उनमें श्रद्धा करें। कहा है कि, "गुरु कीजे

जानकर पानी पीजे छानकर"। आत्मश्लाघा के दृष्टान्त तो चुनाव के समय हमारे सन्मुख ही उपस्थित होते हैं। उपधान, धर्म शास्त्रपारायण, ओली या पर्यूषण आराधन की कुंकुम पत्रिकाओं को देखिए, प्रायः आधा मेटर तो अयोग्य पदवियों से उनके स्वयं के द्वारा ही लिखा हुआ होता है वह भी आत्म-श्लाघा का प्रत्यक्ष उदाहरण है। जीवन भर धर्म के कार्य न किए हों, येन केन प्रकारेण द्रव्योपार्जन कर उस पाप को धोने के लिए किन्हीं आचार्य का पल्ला पकड़ कर कहीं प्रतिष्ठा या उपधान या शास्त्र प्रकाशन में द्रव्य की सहायता कर अपना जीवन चरित्र (सिद्ध और साधक का) प्रकाशित करवाना भी आत्मश्लाघा है। जिन शास्त्रों का एक श्लोक भी न पढ़ा हो उन शास्त्रों के ढेर को आस पास रख अपना तैल चित्र बनवा कर अपने नाम से या उपदेश से चलती हुई संस्थाओं में लगवाना भी आत्मश्लाघा है। इन सब प्राणियों पर उपेक्षा रखना माध्यस्थ भावना है। श्रीमद् यशोविजयजी के शब्दों को ज़रा पढ़िए, "रागधरी जे जिहां गुण लहिये, निर्गुण ऊपर समचित रहिए।" कितना प्रभाविक विचार उपेक्षितों पर है। श्रीविनयविजयजी महाराज का नमूना भी देखिए, "माध्यस्थ भावना सांसारिक प्राणियों के लिए विश्राम लेने का स्थान है"। कई बिचारे प्राणी विपरीत मार्ग में लगे हुए हैं उनको समझाने का प्रयत्न करते हुए भी वे मोहांध हो रहे हैं, पापकारी व्यापार (हाथीदांत, लाख, रस, केश, विष आदि) करते हैं उनका हित चाहते हुए सच्ची सलाह भी दी जाती है परन्तु कर्मों के वशीभूत होने से उनका मन नहीं

बदलता है अतः उन पर उपेक्षा रखने के सिवाय और क्या किया जा सकता है।

इन्द्रिय विषय पर समता

चेतनेतरगतेष्वखिलेषु, स्पर्शरूपरवगंधरसेषु।
साम्यमेष्यति यदा तवचेतः, पाणिगं शिवसुखं हि तदात्मन् ॥१७॥

अर्थ—हे आत्मा ! जब तेरा चित्त सब ही चेतन, अचेतन पदार्थों में रहे हुए स्पर्श, रूप, शब्द, गंध और रसों में समभाव हो जाएगा तब मोक्ष सुख अपने हाथ में आया हुआ ही जानना ॥ १७ ॥ स्वागतावृत्त

देव लोक में सबसे प्रबल देव को इन्द्र कहते हैं। वैसे ही इस मृत्य लोक में सबसे प्रबल, दुर्जय जो पांच देवियां हैं उन्हें इन्द्रियां कहते हैं। इनको जीतना अत्यंत कठिन है। स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, कर्णेन्द्रिय, इन पांचों देवियों के विषय हैं—स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द। मुलायम बिस्तर, रेशमी वस्त्र, ऋतुओं के अनुकूल परिधान (पोशाक) मांसल शरीर ये स्पर्शनेन्द्रिय को प्रिय है, स्वादिष्ट भोजन, आधुनिक पेय, चटपटी चटनियां, विदेशी डब्बों की मिठाइयां, (चाहे वे अभक्ष ही क्यों न हों) अनेक प्रकार के रस, फल ये रसेन्द्रिय को प्रिय हैं; सुगंध से महक उठने वाली भभकादार वस्तुएं इत्र, तेल, फूल, गुलदस्ते, घ्राणेन्द्रिय को प्रिय हैं; सुन्दर स्त्रिएं, आधुनिक नवीनतम परिधानों से परिस्कृत अर्धनग्न, नागिन के सदृश वेणी जो एक आगे और एक पीछे लटकती हो, पाऊडर से मुखाकृति दीप्त हो,

होठ लाल हों, भुजाएं मूसल सदृश घूमती हों, अंग अंग नजर आता हो, यह चक्षुरिन्द्रिय को प्रिय है; नवीनतम राग रागनियां, सिनेमा तरज़ के अश्लील गाने जो २-३ वर्ष की आयु के बच्चे भी गुनगुनाते रहते हैं, कर्णेन्द्रिय को प्रिय हैं। यदि इन पांचों विषयों के विपरीत विषय आत्मा ग्रहण करना चाहता है तो ये देवियां नाग की तरह फुंकारा करती हैं, मन महाराजा से शिकायत कर आत्मा की बात को नहीं मानने देती हैं। अतः जो जड़ चेतन के विषयों में समभाव हो जाता है, अनुकूल प्रतिकूल विषयों की वास्तविकता को समझ कर उनका नियंत्रण रखता है, फिर मोक्ष तो उसके हाथों में ही है। जैसे शक्तिशाली घोड़े लगाम द्वारा वश में किये जाते हैं और मानव को अत्यंत उपयोगी होते हैं वैसे ही शक्तिशाली इन्द्रियों को भी वश में रखकर अपना भला किया जा सकता है। विपरीत इसके जिस तरह अनियंत्रित घोड़े रथ को खड्डे में गिरा चकनाचूर कर देते हैं, सवारियों को प्राण भय उपजाते हैं, एवं संकटापन्न स्थिति उपस्थित कर देते हैं वैसे ही अनियंत्रित प्रबल इन्द्रियां भी आत्मा को कुमार्ग पर ले जाकर नरकादि में पहुंचा देती हैं, भव परम्परा को बढ़ाती हैं। अतः नियंत्रण आवश्यक है। शरीर सुख लोलुपी हाथी, स्पर्शनेन्द्रिय के वशीभूत होकर हथिनी के पीछे खड्डे में गिर कर प्राण देता है; रसलोलुपी भंवरा, कमल के कारागार में बद्ध होकर हाथी के मुंह में चला जाता है; सुगंध के आकर्षण से कीड़ियां-मकोड़े घृत तेल में डूब मरते हैं या दूध दही में गिर कर प्राण देते हैं; रूप लोलुपी पतंगिए, दीपक से एक पक्षी प्रेम कर (विरह)

अग्नि में भस्म हो जाते हैं; हरिण व सर्प, कर्णपटु शब्दों से छले जाते हैं एवं बंधन व वध को पाते हैं। अहो ! पांचों इन्द्रियों के २३ विषय न केवल मनुष्य को ही दुःखी करते हैं वरन कीट व पशुओं को भी नहीं छोड़ते हैं। इन्द्रियों को वश में किए बिना सब त्याग, वैराग्य, तप जप का वही परिणाम होता है, जो राख में घी डालने से होता है।

समता प्राप्ति का तीसरा साधन

के गुणास्तव यतः स्तुतिमिच्छस्यद्भुतं किमकृथा मदवान् यत्।
कैर्गता नरकभीः सुकृतैस्ते, किं जितः पितृपतिर्यदचिन्तः॥१८॥

अर्थ—तुझमें ऐसे कौन से गुण हैं कि जिनके द्वारा तू अपनी स्तुति की इच्छा रखता है; तूने ऐसा कौन सा आश्चर्यकारी महान् कर्म किया है जिसके लिए तू अहंकार करता है ? तेरे ऐसे कौन से सुकृत्य हैं जिनसे तुझे नरक का डर मिट गया है ? क्या तू ने यमराज को जीत लिया है जिससे निश्चिन्त हो गया है॥ १८॥ स्वागतावृत्त

विवेचन समता प्राप्ति का तीसरा साधन वस्तु स्वरूप एवं आत्मस्वरूप का विचार है। प्रत्येक आत्मा अपनी स्थिति को विचारे कि तू कौन है ? पुद्गलों के संसर्ग से तेरी क्या स्थिति हो गई है, अब भी तू क्यों नहीं चेतता है। इतना ही नहीं, निर्गुणी होकर भी स्तुति की इच्छा रखता है, व अपनी बड़ाई चाहता है ! जिस महा पुरुष की खाल उस्तरे से उतारी जा रही है खून के फव्वारे बह रहे हैं फिर भी ध्यान तो आत्मा और परमात्मा का ही है, क्या उन खंधक मुनि जैसी क्षमा तेरे में है ?

जन्म से मेहतर परन्तु पालन पोषण सेठ के यहां होकर राज-पुत्र अभय कुमार के साथ शिक्षा प्राप्त कर मेतारज कुमार आठ कन्याओं के साथ विवाह करने जाता है उसी समय, बरात में ही राजा महाराजा व उन कन्याओं के समक्ष ही अपने जन्म का भेद जन्मदाता माता पिता द्वारा प्रकट किया जाता है अतः उसका पराभव होता है। फिर भी वह उस स्थिति को सहन कर उत्कृष्ट धैर्य का परिचय देता है, एवं पाणीग्रहण के लिए मना करने वाली कन्याओं को श्रेणिक राजा भी अपनी कन्या को देकर संतुष्ट करता है। क्या राजा जैसा उच्च वर्ण वाला क्षत्रिय एक मेहतर को कन्या देकर छूत छात को तोड़ने वाला अग्रगण्य गुणवान नहीं है? क्या सेठ की लड़कियां मेहतर से विवाहित होकर सहनशीलता का परिचय नहीं देती हैं? इन सबसे बढ़कर वही भुक्त भोगी मेतार्यकुमार जब दीक्षित होकर एक सोनी के घर भिक्षा मांगने जाता है तब एक कोंच पक्षी स्वर्ण के जव को अन्न समझ कर चुग जाता है। मेतार्य साधु वह देख रहा है परन्तु स्वर्णकार की दृष्टि नहीं है। वह तो भिक्षा लेने घर के अंदर जाता है। भिक्षा लेकर साधु बाहर निकलता है। स्वर्ण न पाकर स्वर्णकार शंका करता है कि अवश्य ही वह साधु जव ले गया है, कारण कि और तो यहाँ कोई आया ही नहीं था। साधु को वापस बुला-कर उसके निरुत्तर होने पर सोनी सिर पर शेर का गीला चर्म बाँध देता है, पश्चात् मुनि को धूप में खड़ा करता है। गीला चर्म सूखता है साथ में ही उसके सिर की तमाम नसें खिचती है, शरीर में अत्यंत पीड़ा होती है परन्तु वाह रे महात्मा! धन्य है तुझे!

वह तो अपने ही पूर्व कर्मों का दोष विचार रहा है, सोचता है कि, "जिस तरह खंधक मुनि ने एक काचरे की खाल (खोरा का छिलका) हंसते हंसते खुश होकर उतारी थी जिसका परिणाम उनके ही बहनोई (जो काचरे का जीव था) ने उनकी खाल उस्तरे से उतराई फिर भी वे आत्मरमण करते रहे, वैसे ही मुझे भी ध्यान में रहना चाहिए यही तो तपस्वी की परीक्षा का समय है"। इस प्रकार विचारते विचारते साधु को केवल ज्ञान होता है व शरीर निष्प्राण हो जाता है उनका मोक्ष होता है। धन्य है ऐसे मुनियों को। क्या ऐसा क्षमागुण तेरे में है जिसके लिए तू अभिमान कर रहा है? प्रभु महावीर जैसी तपस्या; श्रीपाल राजा जैसी दाक्षिण्यता; विजय सेठ विजया सेठानी तथा स्थूलि भद्र महाणा जैसा ब्रह्मचर्य; बाहुबली जैसा मदत्याग; हेमचंद्राचार्य हरिभद्र सूरि तथा यशोविजयजी जैसा श्रुत ज्ञान, महाराजा-कुमार पाल जैसा श्रावक धर्म पालन, क्या तेरे में है जिसके लिए तू अभिमान करता है? धर्म तराजू से अपने आपको तोल और देख कि वास्तव में तेरा वजन (गुण) कितना है?

ज्ञानी का लक्षण

गुणस्तवैर्यो गुणिनां परेषामाक्रोशनिंदादिभिरात्मनश्च।
मनः समं शीलति मोदते वा, खिद्यते च व्यत्ययतः स वेत्ता ॥१६॥

अर्थ—ज्ञानी वही है जो अन्य गुणवानों की प्रशंसा सुनकर या दूसरों द्वारा स्वयं पर किए गए आक्रोश के (क्रोधावेश) समय या स्वयं की निंदा सुनकर अपने मन को वश में रखता

है (मन की शांति को न खोकर) प्रसन्न होता है, एवं विपरीत अवस्थायें (परगुण निंदा व आत्मप्रशंसा के समय) खेद पाता है ।। १६ ।। उपजाति

विवेचन—किसी मीटिंग के अध्यक्ष निर्वाचन के समय यदि अपने से कम गुणवान को चुना जाता हो अथवा राजनैतिक चुनावों के समय गुण होते हुए भी हमें न चुना जाता हो, उस वक्त अपने मन की क्या स्थिति होती है ? किसी ज्ञानी, विद्वान, कवि, कोकिलकण्ठ, दानेश्वरी या वैभवशाली की प्रशंसा होती हो और हमारा नाम भी कोई न लेता हो उस वक्त हमारे मन की क्या स्थिति होती है ? यदि उस वक्त हमें ईर्षा होती हो, जलन होती हो तो समझना चाहिए कि हम जो अपने आपको ज्ञानी, पंडित आदि समझ बैठे हैं वह भूल है । अभी हमारा स्तर बहुत नीचा है ।

सकारण या अकारण हम पर कोई क्रोध करता है, अपने अपराध को हम पर ढोलता है, संदेह द्वारा हमें आवेश में अप शब्द कहता है; निंदा करता है, अपनी साधारण हानि या अपमान के लिए हमें दोषी ठहरा कर विपरीत आचरण करता है उस समय हम उस पर क्रोध न कर मन को वश में रखें, मन की शांति को बनाए हुए रखें तो हम ज्ञानी हैं नहीं तो उस सन्मुख व्यक्ति से भी निम्न श्रेणी के हैं, कारण कि वह तो अज्ञान से ऐसा कह रहा है जब कि हम ज्ञानी कहलाते हुए भी उसका प्रतिकार उसी की तरह कर रहे हैं ।

सच्चा ज्ञानी तो वही है जो आत्मप्रशंसा सुनकर या

परनिंदा सुनकर वह स्थान छोड़ देता है, या बात बदल देता है या अप्रसन्न होता है। आज हम किस स्थिति में हैं। गुण न होने पर भी गुणवान, ज्ञान न होने पर भी ज्ञानी, विद्या न होने पर भी विद्वान केवल शब्द रचना करके कवि, छोटे पद पर होते हुए भी अफसर कहलाना चाहते हैं। यदि कोई वैसा नहीं कहता है तो हम अपनी वास्तविक स्थिति में आ जाते हैं अर्थात् लड़ने लगते हैं या अप्रसन्न होकर उससे बदला लेना चाहते हैं और अपनी वास्तविक स्थिति को प्रकट कर देते हैं। अतः ज्ञानी वही है जो आत्म निन्दा, पर गुण प्रशंसा, क्रोध–आवेश के समय शीतल स्वभावी रहता है।

परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं,
निजहृदि विकसन्तः संति सन्तः कियन्तः ।।

अणु जैसे छोटे से पराए गुणों को पर्वत जैसा महान मानकर जो निरंतर अपने हृदय में उदार भावना रखते हैं वैसे संत पुरुष कोई विरले ही होते हैं।

अपना पराया पहचानने का उपदेश

न वेत्सि शत्रून् सुहृदश्च नैव, हिताहिते स्वं न परं च जन्तोः।
दुःखं द्विषन् वांछसि शर्मचैत न्निदानमूढः कथमाप्स्यसीष्टम् ।।२०।।

अर्थ—हे मूर्ख ! तू अपने शत्रु-मित्र, द्वेषी-हितैषी, स्वकीय-परकीय को नहीं पहचानता है। तू दुःख पर द्वेष करता है और सुख को चाहता है परन्तु उसके कारण को न जानने से इष्ट वस्तु कैसे प्राप्त कर सकेगा ।। २० ।।

उपेन्द्रवज्रावृत्त

विवेचन—हे भव परम्परा में पड़े हुए आत्मा ! तूं ज़रा ठण्डे दिमाग से सोच तो सही कि तेरे शत्रु तथा मित्र कौन हैं ? राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, मिथ्यात्त्व, अविरति, प्रमाद ये तेरे शत्रु हैं। उपशम (शांति) विवेक संवर तेरे मित्र हैं। इनको पहचान और अपना कल्याण करने वाले मित्रों के संपर्क में रहकर आत्म कल्याण कर ले। सच्चा ज्ञान दर्शन, चारित्र, सच्चे देव गुरु धर्म तेरे हितैषी हैं। अज्ञानता, शंका, अत्याग, कुदेव, ढोंगीगुरु व अधर्म तेरे अहितकर या द्वेषी हैं। तेरा स्वकीय तू स्वयं है, तेरा दूसरा कोई अपना नहीं है। तू सत् चित्त आनन्दमय (सच्चिदानंद) है। ऐसे लक्षण संसार की समस्त वस्तुओं में से किसी में नहीं है अतः तेरा कोई नहीं है। ये सब नाशवान हैं। ये तुझे जकड़ के रखना चाहती हैं। घर जमीन-जेवर-वस्त्र-पात्र-मोटर सब पराए हैं। कुटुम्ब का कोई व्यक्ति तेरा नहीं है। स्वार्थ के वशीभूत हुए ये सब जब तक तुझमें शक्ति है, धन है, बुद्धि है, शारीरिक बल है तब तक तेरे हैं परन्तु शरीर थक जाने पर, वृद्धावस्था आने पर, या निर्धन होने पर ये सब उसी प्रकार छोड़ देंगे जिस प्रकार फलहीन वृक्ष को पक्षी, तेल रहित तिलों की खल को तेली छोड़ देते हैं। जैसे रस निकालने के बाद हम आम के छिलके और गुठली को छोड़ देते हैं या कोल्हू में पीसकर रस निकालने के पश्चात् गन्ने के छिलके को किसान छोड़ देता है वैसे ही परिवार वाले भी हमें छोड़ देंगे। मात्र तू ही तेरा मित्र है, हितैषी है और स्वकीय है। अतः मृत्यु आने से पूर्व अपना हित कर ले, फालतू चापलूसों की संगति से भव

परंपरा न बढ़ा। वरना पछतावेगा। ज्वराग्रस्त दशा में मिठाई या अचार खिलाने वाला वैद्य प्रत्यक्ष मित्र नज़र आता हुआ भी घातक शत्रु है वैसे ही मीठी लगने वाली वस्तुएं भी विपरीत फल देंगी। अतः हित शिक्षा रूप औषध को क्वीनेन की तरह ग्रहण करके भव ताप को दूर कर। आत्म रोगों को तेरे सन्मुख प्रकट करने वाला, आत्म नाड़ी परीक्षक वैद्य ही सच्चा हितैषी है अतः अपना भला बुरा पहचान कर योग्य समय में योग्य कर ले।

वस्तु ग्रहण के पूर्व विचार

कृती हि सर्वं परिणामरम्यं, विचार्य गृह्णाति चिरस्थितीह।
भवान्तरेऽनन्त सुखाप्तये तदात्मन्! किमाचारमिमं जहासि?॥२१॥

अर्थ—इस संसार में वही पुरुष सुज्ञ हैं जो सुन्दर परिणाम वाली तथा चिरस्थायी वस्तु, विचार कर ग्रहण करते हैं। परभव में अनंत सुख प्राप्त करने के लिए (उसके कारणभूत) इस धार्मिक आचार को तूं है आत्मा! क्यों छोड़ रहा है?

उपेन्द्रवज्रा

विवेचन—यदि किसी देव की कृपा से कोई मनुष्य ऐसे जंगल में पहुंच जाय जहां हीरे-माणक-मोती-सोना, चांदी, तांबा, पीतल, लोहा, सीसा खूब प्रचुर मात्रा में पड़ा हुआ हो, जहां नजर जाए वहां ऐसे ही ढेर नजर आते हों उस समय वह मनुष्य यदि लोहार है तो लोहा ग्रहण करता है ठठेरा है तो तांबा पीतल ग्रहण करता है, सोनार है तो सोना चांदी ग्रहण करता है लेकिन कीमती हीरे-माणिक-मोती को

छूता भी नहीं है क्योंकि ऐसी कीमती वस्तुओं से वह अनभिज्ञ है; इसी प्रकार आज इस बींसवीं सदी में यही सूत्र प्रायः बहुतों ने अपना रखा है, "खाओ पिओ और मौज करो"। चिरस्थायी, पुण्यकारी परभव को सुधारने वाली धार्मिक वृत्तियों से वे दूर रहते हैं। धार्मिक बातें सुनकर वे कहते हैं कि ये तो हमारे दादाजी या पिताजी के लिए है, हम तो अभी बालक हैं! आश्चर्य है!! यह जवानी जो कुछ काल में ढलने वाली है, यह धन जो कुछ वर्षों के बाद हमारे पुत्र के या अन्य के अधिकार में जाने वाला है, यह मकान जो कि अस्तव्यस्त होने वाला है यह परिवार जो बिछुड़ने वाला है, इन अस्थायी वस्तुओं को ग्रहण करने व संभालने में ही हम अपनी अमूल्य आयुष्य व्यतीत कर रहे हैं। इन पौद्गलिक (नाशवान) वस्तुओं को ग्रहण करते करते एक दिन हम थक जाते हैं। वृद्धावस्था में आनंद से रहने के लिए जीवन भर उन्मादी की तरह व्यस्त रहते हैं, घड़ी के काँटों की तरह निरंतर घूमते रहते हैं। एक एक वस्तु किसी न किसी निमित्त से संग्रहित करते ही रहते हैं। लेकिन हाय! उस सुख की घड़ी के आने से पूर्व ही हम चल बसते हैं। वे सब वस्तुएं हमारी हंसी उड़ाती हैं कि, "अरे ज़रा ठहरो, हम तो आपके भोग की राह देख रही है! एक दिन भी आपने हमारा भोग नहीं किया, हम ज्यों की त्यों पड़ी हैं।" कातर दृष्टि से ताकता हुआ वह प्राणी आंखों में आँसू भरकर निसास डालता है और सोचता है कि अरे मन की अभिलाषाएं मन में ही रह

गईं। न उपयोग कर सका न योग (धर्मध्यान) कर सका। सिकन्दर बादशाह के शब्दों में कहिए तो—

जे बाहुबल थी मेलव्युं ते भोगवी पण न शक्यो।
अब्जोनी मिलकत आपतां पण ए सिकन्दर न बच्यो॥

अर्थात् जो भुजबल से प्राप्त किया वह बिना भोगे ही रह गया। अरबों रुपए देते हुए भी मैं मौत से बच नहीं रहा हूं। हाय मैं मर रहा हूं।

हे भद्र आत्माओ! इन सांसारिक पदार्थों के मोह को छोड़कर उस चिरस्थायी आनंददायी, शांतिमय सद्धर्म का आराधन करो। जिससे इस जीवन में भी आनंद प्राप्त हो व परलोक भी सुधर जाय।

राग द्वेष के किए हुए विभाग पर विचार

निजः परोवेति कृतो विभागो, रोगादिभिस्ते त्वरयस्तवात्मन्।
चतुर्गतिक्लेश विधानतस्तात्, प्रमाणयन्नस्यरिनिर्मितं किम्॥२२॥

अर्थ—हे आत्मन्! अपना और पराया विभाग राग द्वेष द्वारा किया गया है। चारों गतियों में (अनेक प्रकार के) क्लेश दिलाने वाले राग द्वेष तो तेरे शत्रु हैं। तो फिर शत्रुओं द्वारा बनाए गए विधान को तू क्यों स्वीकार करता है?

उपजाति

विवेचन—राग द्वेष के द्वारा ही हम सब प्राणियों को मित्र या शत्रु समझते हैं। अपना पराया का भेद भी इसी कारण से है। चारों गतियों में (देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक)

भटकाने वाले भी रागद्वेष ही है अतः इन शत्रुओं के द्वारा बनाए हुए नियमों को हे आत्मा तूं क्यों मानता है अर्थात राग-द्वेष को छोड़ने का उपाय तूं क्यों नहीं करता है ? राग तो मोहमयी मदिरा है जिसके सेवन से प्रमत्त हुआ जीव विवेक रहित हो जाता है। द्वेष भी क्रोधरूपी दावानल है जिसको लपटों में सब पुण्य भस्म हो जाता है। मोह या राग मीठी छुरी है जो क्षणिक मधुरता का आस्वादन कराती हुई जीभ को काटती है। द्वेष दृष्टि विषधर है जो दृष्टि से ही घात करता है। इन दोनों के कारण ही प्रभु का मार्ग दुर्गम हो रहा है। जिस प्रकार शत्रु, विपरीत सम्मति देकर हानि करता है, उसी प्रकार ये दोनों भी आत्मा को भव जंजाल में से निकलने नहीं देते हैं। ये लुटेरे तमाम आत्मधन को लूट कर नंगे कर देते हैं अर्थात पुण्य छीन कर आत्मा को भवकूप में ढकेल देते हैं। हे कल्याण के इच्छुक भाई ! इन दोनों शत्रुओं को पहचानकर इनसे दूर रह, वरना भव में भटकना बंद न होगा। देवगति में विरह दुःख तथा परोत्कर्ष दुःख; मनुष्यगति में आजिविका का दुःख एवं संयोग वियोग का दुःख; तिर्यंच-गति में मूकस्थिति, सर्दी गर्मी भूख प्यास सहने का दुःख; एवं नरकगति शारीरिक-मानसिक एवं अनेक प्रकार के दुःख राग द्वेष के कारण ही जीव को सहने पड़ते हैं। अतः इन दुःखों के कारणभूत इन दोनों से दूर रहकर आत्महित करो। बिना पहचान वालों से हम रागद्वेष कम करते हैं जब कि अपने परिवार में माता, पिता, स्त्री, पुत्र, मित्र या नौकर के साथ तो पद पद पर इन दोनों में से एक या दोनों का व्यवहार

निरंतर होता ही रहता है अतः वहां विशेष सावधान रहना चाहिए, वैसे प्रसंगों से दूर रहना चाहिए।

आत्मा और अन्य वस्तुओं के संबंध पर विचार

अनादिरात्मा न निजः परो वा, कस्यापि कश्चिन्न रिपुः सुहृद्वा।
स्थिरा न देहाकृतयोऽणवश्च, तथापि साम्यं किमुपैषि नैषु ॥२३॥

अर्थ—आत्मा अनादि है, इसका स्वयं का कोई नहीं है तथा पराया भी कोई नहीं है; न यह किसी का शत्रु है न किसी का मित्र है; देह की आकृति तथा उसमें रहे हुए परमाणु भी स्थिर नहीं हैं; फिर भी तू इनमें समता क्यों नहीं रखता है ? ॥ २३ ॥ उपजाति

विवेचन—आत्मा के विषय में संसार में बड़ी भिन्नता है कोई कुछ मानता है, कोई कुछ। परन्तु वास्तव में आत्मा एक ऐसी वस्तु है जो कभी नष्ट नहीं हो सकती। द्रव्य-रूप से वह ध्रुव है, पर्यायरूप से वह बदलती है, पुद्गल के संसर्ग से विचित्र जाति, नाम, शरीर धारण करती है। जिस प्रकार स्वर्ण एक पदार्थ है, उसके तरह तरह के आभूषण बनवाना पर्याय है, उसमें चांदी, तांबा पीतल के मिला देने से रंग में अंतर पड़ जाता है, इतना होते हुए भी स्वर्ण स्वर्ण ही रहता है। उसी प्रकार आत्मा सदा अमर व ध्रुव है। आत्मा का लक्षण श्री लोकप्रकाश (द्रव्यलोक-द्वितीयसर्ग, श्लोक ५३-७३) के अनुसार इस प्रकार से है, "जीव का सामान्य लक्षण चेतना है, विशेष स्वरूप पांच ज्ञान, तीन अज्ञान, तथा चार दर्शन ये बारह उपयोग हैं। सब जीवों का अक्षर का अनंतवां भाग तो

खुला ही रहता है, अतः उपयोग बिना का कोई जीव तीनलोक में नहीं है। चाहे जैसे आवरण करने वाले, (ढ़कने वाले) कर्म हों तो भी यह अक्षर का अनंतवां भाग तो ढ़का ही नहीं जा सकता है। अक्षर का अर्थ है ज्ञान व दर्शन का उपयोग। जैसे सूर्य पर बादलों का समूह छाया हुवा हो फिर भी कुछ न कुछ भाग तो खुला रहता ही है उसी प्रकार आत्मा का अनंत ज्ञान ढ़क जाने पर भी ज़रा सा भाग तो खुला रहता ही है अतः जिस कारण से दिन, रात्रि से भिन्न माना जाता है वैसे ही आत्मा भी इसी लक्षण से अजोव से भिन्न होता है। यद्यपि आत्मा का लक्षण ज्ञान है फिर भी कर्म से ढके रहने से वह प्रकट प्रतीत नहीं होता है। खान में रहे हुए सोने में भी जैसे शुद्ध कांचनत्व है वैसे ही आत्मा में भी अनंत ज्ञान सर्वदा रहता ही है, मात्र उस पर पर्दे पड़े हुए हैं। व्यक्त अव्यक्त रूप से जब आत्मा को क्षयोपशम होता है तब शक्ति और कार्य के रूप में ज्ञान उत्पन्न होता है, फिर जब वह बल (वीर्य) चला जाता है तब जैसे मिट्टी दर्पण को ढ़क लेती है वैसे ही कर्म आत्मा को ढ़क लेते हैं परन्तु यदि बहुत प्रयत्न करके सब मिट्टी दूर की जाय तो अनादि शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है। आत्मा का स्वरूप एक ही है परन्तु कर्मावृत्त होने से वह विविध रूप धारण करता है"।

ऐसे इस अनादिकाल से अविरत स्वरूपवाले (सदाकाल अज्ञान से भटकने वाले) आत्मा का कोई अपना नहीं है, पराया भी कोई नहीं है, इसके लिए तो सब बराबर है। जैसे वृक्ष के फल एक ही जगह उत्पन्न होते हुए भी, एक साथ रहते हुए भी

कोई किसी के नहीं हैं वैसे ही हम भी संसार वृक्ष के फल हैं और समय आने पर अलग होंगे। जैसे किसी फल पर सूर्य की किरणें सीधी पड़ती हैं वह जल्दी पक जाता है और खानेवाले के नज़र पड़कर अपना नाश कराता है बाकी के फलों का भी नंबर क्रमशः आता ही है किसी का जल्दी किसी का देर से वैसे ही हमारा भी काल आ रहा है। यदि तपरूपी सूर्य की सीधी किरणें हम पर पड़ जावें तो इस शरीररूप आकार का नाश कर अपना कल्याण साध लें बाकी पकने पर गिरना तो पड़ेगा ही। अतः जैसे उन फलों में कोई किसी का अपना नहीं व पराया भी नहीं वैसी ही स्थिति हमारी भी है। कई बार जन्मे हैं और कई बार मरे हैं, वर्तमान परिवार के जीवों के संसर्ग में भी कई भवों तक आए हैं अतः हमारा न कोई मित्र है न कोई शत्रु है। शरीर का आकार भी बदलता रहता है। **"चलती फिरती बादल छाया, मूरख इसमें क्यों भरमाया"**। खेलते कूदते भोला व स्वतंत्र बचपन बीत गया, दीवानी जवानी के बल को स्त्री व परिवार ने हरण कर लिया, चिंता व आशाओं ने जवानी व बुढ़ापा एक ही साथ ला दिया, और फिर तो **"अंगं गलितं पलितं मुण्डं दन्त विहीनं जातं तुण्डं, वृद्धोयाति ग्रहीत्वा दण्डं तदपि न मुँचति आशा पिण्डम्"**। यह दशा उपस्थित हो जायगी। हे कालवन में भटकने वाले मानव, जिस किसी अनजान ने तुझे जो भी मार्ग बताया उसी पर चलता हुवा तू और अधिक घूमता हुवा वहीं का वहीं आकर खड़ा हो गया तेरा सब परिश्रम व्यर्थ गया। तेली का बैल सुबह से शाम तक घूमा परन्तु वहीं का वहीं। हे सुज्ञ !

ज़रा इस संसार चक्र को देख और तू किसी के प्रति कोई भी तरह का भेद भाव न समझ। तूही तेरा मित्र-शत्रु-सगा-संबंधी सब है। शरीर के अंदर रहे हुए पदार्थ धीरे धीरे सूखते जाएंगे एवं तुझे यह चोला छोड़ने को विवश करेंगे अतः इसका विश्वास न कर। इससे पूरी मजूरी ले ले। इसे खिलाता भी बहुत है अतः धर्म भी बहुत करा ले।

माता पिता आदि के संबंध

यथा विदां लेप्यमया न तत्त्वात्, सुखाय मातापितृपुत्रदाराः।
तथा परेऽपीह, विशीर्णतत्तदाकारमेतद्धि समं समग्रम् ॥२४॥

अर्थ जैसे समझदार मनुष्य को चित्रित माता, पिता, पुत्र, स्त्री तात्विक सुख नहीं देते हैं उसी प्रकार इस संसार में रहे हुए प्रत्यक्ष माता पिता आदि भी सुख नहीं देते हैं। आकार के नष्ट होने पर दोनों बराबर हो जाते हैं॥ २४॥

उपजाति

विवेचन—भौतिक प्रगति के इस युग में बहुत कम ऐसे मनुष्य होंगे जो चलचित्र (सिनेमा) से अपरिचित होंगे, उसे देखने की कितनी उत्कंठा रहती है? शो (दृश्य) शुरू होने के पूर्व उसे देखने की तीव्र उत्सुकता एवं समाप्त होने पर क्षणिक विचार मन को घेरे रहता है। चालू शो में चित्त की एकाग्रता रहती है, दिखाए जाने वाले दृश्यों का प्रभाव मन को उथल पुथल करता है परन्तु घर आने पर उसका कोई असर नहीं रहता। चित्र में देखे गए पात्र अपनी अपनी रुचि के अनुसार

अच्छे, बुरे; साहसी, कमजोर; कृतज्ञ, कृतघ्न, नजर आते हैं। कुछ समय या दिन तक इनके विचार आते रहते हैं परन्तु दूसरा पिक्चर (चित्र) सामने आते ही पहले के सब विचार उड़ जाते हैं। ठीक यही स्थिति हमारे पूरे परिवार की है। जीवन में कितने ही प्रसंग ऐसे आते हैं जो हमें दुःख देने वाले होते हैं वे चाहे हमारे पिता, माता, स्त्री, भाई या भोजाई की तरफ से या स्वयं हमारी तरफ से उत्पन्न किए गए हों। पारिवारिक संबंधों को मधुर बनाये रखने की भावना होते हुए भी विचार व स्वभाव की भिन्नता से कई मतभेद व मनभेद उपस्थित हो जाते हैं जिससे पूरा वातावरण कटु, संतप्त व असहनीय हो जाता है। कभी कभी तो अपने कहलाने वालों की अपेक्षा पराए लोग सहयोगी, व सुखकर हो जाते हैं। यहां तात्पर्य इस बात का है कि इन सब संबंधों का गहराई से विचार कर मोह दशा को दूर करें। प्रत्येक प्राणी का प्रत्येक प्राणी के साथ सकर्त्तव्य प्रेम संबंध है, व पारिवारिक धर्म है उसे निभाते रहना चाहिए। मात्र सांसारिक संबंधों का वास्तविक स्वरूप समझाने के लिए शास्त्रकारों का उपरोक्त आशय है। पारिवारिक गूढ़ संबंध (पिता पुत्र, माता पुत्र, भाई-भाई, भाई बहिन, पति पत्नि) होते हुए भी कई घटनाएं ऐसी बनी हैं जो मोहनाश के ज्वलंत उदाहरंण हैं। एक ने दूसरे का घात किया है। श्रेणिक-कोणिक, ब्रह्मदत्तचुलणी; रावण विभीषण, बाली-सुग्रीव आदि। मृत्यु के पश्चात् धीरे २ सबको भुला दिया जाता है। नए संबंधों से मोह उत्पन्न होता है, वह भी मिटता है। यह क्रम बना ही रहता है।

समता के पहचानने वालों की संख्या

जानन्ति कमान्निखिलाः ससंज्ञा,
अर्थं नराः केऽपि च केऽपि धर्मम् ।
जैनं च केचिद् गुरुदेवशुद्धं
केचित् शिवं केऽपि च केऽपि साम्यम् ॥ २५ ॥

अर्थ—सब संज्ञा वाले प्राणी, 'काम' को जानते हैं, उनमें से कुछ ही 'अर्थ' (धन प्राप्ति) को जानते हैं; और उनमें से भी कुछ ही 'धर्म' को जानते हैं; उनमें से कुछ ही जैनधर्म को जानते हैं और उनमें से बहुत ही कम शुद्ध देव गुरुयुक्त जैनधर्म को जानते हैं, परन्तु बहुत थोड़े प्राणी मोक्ष को पहचानते हैं और उनमें से भी बहुत कम प्राणी समता को पहचानते हैं ।

विवेचन—काम की अभिलाषा सभी प्राणियों को होती है । देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि को तो वह होती है परन्तु आश्चर्य तो यह है कि एकेन्द्रिय वृक्षों तक को होती है :—

पादाहतः प्रमदया विकसत्यशोकः,
शोकं जहाति बकुलो मधुसिंधुसिक्तः ।
आलिंगितः कुरुबकः कुरुते विकास
मालोकितस्तिलक उत्कलिको विभाति ॥

अर्थात् स्त्री के पादप्रहार से अशोक वृक्ष विकसित होता है, उसके द्वारा शराब का कुल्ला थूंकने से बकुल वृक्ष शोक रहित होता है, स्त्री के आलिंगन से कुरुबक वृक्ष विकास

करता है, तिलक वृक्ष के तो मात्र स्त्री के देखने से ही कलियां आती हैं, तथा वह कुसुमित होता है।

एकेन्द्रिय वृक्ष तथा छोटे छोटे जोव जन्तु पशु पक्षी आदि जो कम संज्ञा वाले हैं वे भी मैथुन करते हैं। जोव के साथ मैथुन को भावना परंपरा से लगी हुई है। इन सबसे अधिक संज्ञा वाले या ज्ञान वाले हम मनुष्य, मैथुन (काम भोग) में कितने लिप्त हैं यह तो हम स्वयं ही जान रहे हैं। चार पुरुषार्थों (काम, अर्थ, धर्म-मोक्ष) में से पहला पुरुषार्थ तो सभी कर रहे हैं। अब दूसरा पुरुषार्थ, अर्थ-धन प्राप्ति तो केवल मनुष्य ही करता है। धन प्राप्ति के लिए कितना कष्ट, उठाना पड़ता है। झूठ-पाप-अन्याय-क्रूरता-निर्दयता-अपमान-उलाहना आदि तो धन के सहयोगी हैं ही परन्तु इनसे भी बढ़कर है आत्मग्लानी, पराभव, खुशामद, असहनीय, कटु वचन श्रवण, अप्रिय, दुराचारी, कामी क्रोधी अफसर, या मदांध सेठ का आज्ञा पालन। सर्दी गर्मी भूख प्यास, तथा मुसाफिरी का कष्ट सहते हुए भी मनुष्य इस पुरुषार्थ को करते हैं। काम पुरुषार्थ करने वालों की अपेक्षा अर्थ पुरुषार्थ करने वाले कम हैं। इनसे भी कम धर्म पुरुषार्थ करने वाले हैं। सुबह से शाम तक धन की माला जपने वाले, धन के पीछे निद्रा या भोजन की भी परवाह न करने वाले व धन को आराध्यदेव समझने वाले मनुष्यों को धर्म के लिए अवकाश कहां है? जिन्हें भी देखेंगे चलचित्र की तरह केवल धन के लिए ही फिर रहे हैं, बहुत ही कम भाग्यशाली लोग धर्म

पुरुषार्थ को करते हैं। धर्म शब्द की व्याख्या करना उपयुक्त होगा। धर्म का शब्दार्थ है—धार्यते इति धर्मः अर्थात् जीवों को दुर्गति में गिरने से जो रोकता है, उन्हें सत्पथ में धारण करता रहता है वह धर्म है। अब जैन धर्म का स्वरूप जानना भी आवश्यक है। जित् का अर्थ है जीतना। जिसने जीत लिया है अंतरंग शत्रुओं को उसे जिन कहते हैं। उस जिनकी आज्ञा को मानने वाले जैन कहलाते हैं ! अंतरंग शत्रुओं से तात्पर्य है क्रोधमान, माया लोभ, राग द्वेष, मत्सर तथा आठ कर्म आदि। अतः अन्य धर्मों को जानने वालों की अपेक्षा जैन धर्म को जानने वाले कम हैं और उनसे भी कम तो वे हैं जो जैन धर्म को शुद्ध रीति से पालते हैं। शुद्धदेव जो अठारह दोशों को दूर करने के पश्चात ही जिन कहलाते हैं। उनका स्वरूप जानने वाले विरले हैं। अठारह दोष ये हैं। (१) दानांतराय, (२) लाभांतराय, (३) भोगांतराय, (४) उपभोगांतराय, (५) वीर्यांतराय, (६) हास्य, (७) रति, (८) अरति, (९) भय, (१०) शोक, (११) जुगुप्सा (निंदा) (१२) काम, (१३) मिथ्यात्व, (१४) अज्ञान, (१५) निद्रा, (१६) अविरति, (१७) राग, (१८) द्वेष। सच्चे गुरु जो साधु अवस्था में २७ गुण के धारक होते हैं, उपाध्याय बनने पर २५ गुण धारक और आचार्य बनने पर ३६ गुण धारक होते हैं। ऐसे देव गुरु और धर्म के स्वरूप को जानकर जैन धर्म पालने वाले बहुत कम हैं। इन प्राणियों में से भी बहुत कम ऐसे हैं जो मोक्ष के स्वरूप को समझते हैं। मोक्ष अर्थात्—आत्मा का सर्व बंधनों से मुक्त होकर, शुद्ध

होकर अपने स्वरूप को पाना। फिर से जन्म या मृत्यु नहीं होकर शास्वत सुख का अनुभव करते हुए जीव का सिद्ध शिला पर रहना। इस स्वरूप को समझने वालों की अपेक्षा भी बहुत ही कम ऐसे होंगे जो समता के स्वरूप को पहचानते हैं।

सुज्ञ मानव प्राणियो ! इस प्रकार से चारों पुरुषार्थों का स्वरूप जानकर हमें धर्म और मोक्ष इन दो पुरुषार्थों में ही शक्ति लगाना चाहिए कारण कि मानव भव को खोने के पश्चात हमें किसी भी भव में विवेक प्राप्त न होगा। हम अन्य जीवों की अपेक्षा अधिक ज्ञानवान हैं अतः हमें संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणी कहा जाता है। यदि हम अपना हित नहीं साधते हैं तो फिर पशु और हममें अन्तर ही क्या है ? क्योंकि "आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेत्तत्पशुभि-र्नराणाम्"। केवल विषय वासना में चित्त रहता हो तो कामी कुत्ते को देखो, उसकी क्या दुर्दशा होती है; केवल धन में चित्त रहता हो तो मर कर सर्प बन उस पर चोकी करनी पड़ेगी। यदि अपने वैभव में चित्त रहता हो तो मर कर नंद मणियारे की तरह अपनी ही बनाई हुई बावड़ी में मेंढक बनना पड़ेगा आदि। अतः चारों पुरुषार्थों में से धर्म, व मोक्ष इन दो को आराधो और साथ ही समता को पहचानो। सारे दिन वृथा बातों से दूर रहकर जितना अधिक समय मिले अपना विचार करो। निर्थक बातों से कोई परिणाम न निकलेगा विपरीत खेद होगा। मोक्ष प्राप्ति का साधन समता है। यह ज्ञान का क्रिया में निरूपण है। ऐसा स्वरूप जानने पर ही वास्तविक सुख का अनुभव होगा।

संबंन्धियों का स्नेह स्वार्थ पूर्ण है अतः अपना स्वार्थ साधो

स्निह्यन्ति तावद्धि निजा निजेषु, पश्यन्ति यावन्निजमर्थमेभ्यः ।
इमां भवेऽत्रापि समीक्ष्य रीतिं, स्वार्थे न कः प्रेत्यहिते यतेत ।।२६।।

अर्थ—सगे संबंधी, जहां तक अपने संबंधियों में कुछ भी अपना स्वार्थ देखते हैं वहीं तक उन पर स्नेह रखते हैं। इस भव की इस रीति को देखकर परभव के हितकारी 'स्वार्थ' के लिए ऐसा कौन होगा जो यत्न नहीं करेगा ।। २६ ।।

उपजाति

विवेचन—पंख आने पर पक्षी माता को छोड़ देते हैं, चारा दाना पचाने की शक्ति आने पर पशु अपनी माता का संबंध छोड़ देते हैं, जब तक दूध पीते थे तब ही तक उससे स्नेह था, पश्चात युवावस्था में भान भूलकर उसीसे मैथुन करते हैं। मनुष्य भी जब तक बालक होता है, अशक्त होता है तब तक माता पिता के आधार पर रहता है, उनके द्रव्य से पलता है व विद्याभ्यास करता है पश्चात युवावस्था में विवाह कर उनसे अलग हो जाता है, उनकी अवहेलना करता है, उसको माता पिता की अपेक्षा स्त्री व संतान अधिक प्रिय लगते हैं। सब ही स्नेहीवर्ग की यही दशा है। जब तक जिसका जिससे स्नेह है या स्वार्थ है तब ही तक उसके रहते हैं। धन और शक्ति के क्षीण होने पर स्त्री पुत्र आदि भी मनुष्य को छोड़ देते हैं। वृद्ध पुरुषों की वही दशा होती है, जो कि हाड़पिंजर-दुग्धहीन गाय भैंस की या जर्जरित अस्थि-पिंजर घोड़े की होती है। दुनियां का बड़ा भाग स्वार्थ परायण

ही है। स्नेह में भी स्वार्थ है और रुदन में भी स्वार्थ है। अशक्त और रोगी नौकर को सेठ निकाल देता है, प्रमाणिक व स्वामीभक्त सेवक को वृद्धावस्था में राजा छोड़ देता है। धनहीन मनुष्य को मित्र, संबंधी, स्नेही, भाई, बहिन, सभी हीन दृष्टि से देखते हैं। अतः संसार की इस रीति को देखकर बुद्धिमान पुरुष का कर्त्तव्य है कि परभव के हितकारी 'स्वार्थ' को स्व (आत्मा) के अर्थ (हित) को साध ले। ऐसा कौन बुद्धिमान है कि स्वार्थी संसार को देखकर स्वयं स्वार्थी (स्वहितैषी) नहीं बनेगा।

स्वप्न दर्शन

स्वप्नेंद्रजालादिषु यद्वदाप्तैरोषश्च तोषश्च मुधा पदार्थैः।
तथा भवेऽस्मिन् विषयैः समस्तैरेवं विभाव्यात्मलयेऽवधेहि ॥२७॥

अर्थ—इस भव में प्राप्त हुए समस्त विषयों व पदार्थों पर रोष या तोष करना उसी प्रकार निर्थक है जिस प्रकार स्वप्न में या इन्द्रजाल में देखे हुए पदार्थों पर रोष (क्रोध) या तोष (संतोष) करना है। अतः हे आत्मा ! इस बात का विचार कर एवं आत्मभाव में लवलीन हो जा। (समाधि में तत्पर हो) ॥ २७ ॥ **उपजाति**

विवेचन—यदि स्वप्न में कोई गरीब मनुष्य राजा या सेठ हो जाता है, या सुख सामग्री वाला हो जाता है परन्तु स्वप्न दूर होने पर वह अपने टूटे फूटे घर व सामान को देखकर स्वप्न की कल्पना करके दुःखी होता है, परन्तु उसकी कल्पना निर्थक है। कोई बाजीगर या इन्द्रजालिया रुपयों का ढेर कर

देता है, वह जेब में से, टोपी में से या हाथ में से रुपए निकालता है या आम लगा देता है परन्तु परिणाम कुछ नहीं होता है। सुलसासती की परीक्षा के लिए अंबड परिव्राजक ने, क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, महेश व जिनका स्वरूप इन्द्र जाल से बनाया परन्तु सुलसा सम्यक्त्व से डिगी नहीं। अतः जैसे इन्द्रजाल व स्वप्न के पदार्थ निरर्थक हैं वैसे ही ये दिखते हुए सांसारिक पदार्थ एवं विषय भी निरर्थक हैं। अतः है आत्मा समाधि में (आत्मभाव में) लवलीन बना रह।

मृत्यु का विचार—ममत्व का स्वरूप

एष मे जनयिता जननीयं, बंधवः पुनरिमे स्वजनाश्च।
द्रव्यमेतदिति जातममत्वो, नैव पश्यसि कृतांतवशत्वम् ॥२८॥

अर्थ—यह मेरे पिता हैं, यह मेरी माता है, ये मेरे भाई हैं, और ये मेरे स्वजन हैं, यह मेरा धन है, इस प्रकार का तुझे ममत्व हुवा है, परन्तु तूं यमराज के वशीभूत हुआ है यह नहीं देखता है ॥ २८ ॥ **स्वागता**

विवेचन—यह दुनिया एक बाजीगर का खेल है। इसके संबंध मिथ्या हैं, माता पिता, भाई, संबंधी और धन इनमें ही तेरा मन लगा हुवा है। इनको ही मात्र अपना मान बैठा है और हरदम इनको प्रसन्न करने में, इनके लिए कमाने में या सुख के सामान जुटाने में लगा है परन्तु यह नहीं देखता है कि तू काल के वश में फंसा हुवा है। मृत्यु देवी चेतावनी देकर तेरे पास आ रही है। बालों का सफेद होना, अंगों का शिथिल होना, दृष्टि की कमी, कानों का बहरापन, दांतों का गिरना

यही तो इसकी चेतावनी है। अतः इसके आने के पूर्व तैयारी कर रखना चाहिए। यह तब ही हो सकता है जब कि तू ममत्व त्यागकर समता धारण करेगा।

चेतोहरा युवतयः स्वजनोनुकूलः सदबांधवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः। बल्गंतिदन्तिवहास्तरलास्तुरंगाः संमीलने नयनयोर्नहि किंचिदस्ति।

अर्थात चित्त को चुराने वाली स्त्रियां, अनुकूल संबंधी, अच्छे भाई बंधु, आज्ञाकारी मधुरभाषी सेवक, झूमते हुए हाथियों का समूह, चपल घोड़े, यदि यह सब प्राप्त हों परन्तु आंख मिची कि इनमें से कुछ भी नहीं है।

है भोले जीव ! तू बिल्ली की तरह दूध को तो देख रहा है परन्तु मालिक के डण्डे को नहीं देख रहा है। तू उस बालक के समान है जो बारिश में गीली रेती से घरों को बनाता है, लड्डू बनाता है, या पुतलियां बनाकर खेल रहा है। उन घरों, लड्डू या पुतलियों को वास्तविक समझ रहा है। यदि कोई उनको तोड़ता है, तो वह रोता है। वैसे ही तू भी इन मिट्टी की पुतलियों को जो आत्मा के कारण चल फिर रही हैं अपना मान बैठा है। मिट्टी के घर को स्थायी रहने का स्थान, एवं पीली मिट्टी को (सोने को) आराध्यदेव मानकर उसकी प्राप्ति के लिए मोह मदिरा के वशीभूत रहता है। जैसे बालक के सब खिलौने थोड़ी देर में टूटने वाले हैं वैसे ही तेरे भी ये सब अपने माने हुए चलते फिरते खिलौने और भवन व धन के ढेर टूटने वाले हैं। या तो ये तुझे छोड़ देंगे या तुझे इनको छोड़

देना पड़ेगा अतः इनका ममत्व छोड़कर मौत को सिर पर जान कर, इनके वश में से निकलने का प्रयत्न कर।

विषय पर मोह—उसका स्वरूप, समता का उपदेश

नो धनैः परिजनैः स्वजनैर्वा, देवतैः परिचितैरपि मंत्रैः।
रक्ष्यतेऽत्र खलु कोऽपि कृतांतान्नो विभावयसि मूढ किमेवम् ॥२९॥
तैर्भवेऽपि यदहो सुखमिच्छंस्तस्य साधनतया प्रतिभातैः।
मुह्यसि प्रतिकलं विषयेषु, प्रीतिमेषि न तु साम्यसतत्त्वे ॥३०॥

अर्थ—धन, नौकर, कुटुम्बी, देवता परिचित मंत्र, इनमें से कोई भी तेरी मृत्यु से रक्षा नहीं कर सकता है यह निश्चित ही है। हे मूर्ख तू यह विचार क्यों नहीं करता है। सुख प्राप्ति के साधन स्वरूप दिखते हुए इन सबके द्वारा सुख चाहता हुवा हे भाई ! तू प्रति क्षण विषयों में प्रमत्त हो रहा है परन्तु समता स्वरूप वास्तविक रहस्य से प्रीति नहीं कर रहा है ॥२९-३०॥

स्वागतावृत्त

विवेचन—धन देकर जगत् के रिश्वतखोर व शक्तिशाली हाकिमों को प्रसन्न किया जा सकता है, और दण्ड से छूटा जा सकता है। शारीरिक व मानसिक कुछ व्याधियों या चिंताओं को नौकर व कुटुम्बी कुछ समय के लिए दूर कर सकते हैं, सर्प आदि को मंत्र से वश में किया जा सकता है परन्तु ये सब तरकीबें यमराज के सामने नहीं चल सकती हैं। इनमें से कोई भी हमें मृत्यु से नहीं बचा सकता है। बादशाहों का बादशाह सिकन्दर जब सबसे बड़े बादशाह यमराज के दरबार में जाने लगता है उस वक्त वह क्या कहता है:—

म्हारा बधावैदो हकीमोंने अहीं बोलावजो
म्हारो जनाजो एज वैदो ने खभे उपड़ावजो ।
दर दर्दियो ना दर्द ने दफनाव नारूं कोण छे ।
डोरी तुटी आयुष्यनी तो सांधनारूं कोण छे ।।
आखा जगत ने जीतनारूं सैन्यपण रड़तुं रह्युं
विक्रालदलभूपालने नहीं काल थी छोड़ावी शक्युं ।।

ऊपर के सब साधनों का वास्तविक स्वरूप समझकर हे भाई ! तू सावधान हो जा । तू प्रतिक्षण विषयों में लिप्त हो रहा है, ये तेरी आत्मा को स्वार्थी मित्रों की तरह घेरे हुए हैं । वास्तविक सुख देने के ये साधन नहीं हैं, वर्षाऋतु में आकाश में दिखने वाले इन्द्र धनुष की तरह ये देखते ही देखते नष्ट होने वाले हैं: अतः प्रमत्तावस्था को दूर कर आपस्वरूप को पहचान और यह निश्चय जान ले कि आयुष्य को कोई बढ़ा नहीं सकेगा । जगत का कोई पदार्थ यमराज के मुँह में से तुझे कभी नहीं छुड़ा सकता है । क्या सिंह के मुँह में से बकरे को छुड़ाने की शक्ती किसी में है ? यमराज, वनराज से भी अधिक बलवान है । अतः समता को धारण करके वास्तविकता को पहचान ।

कषाय का स्वरूप —उसका त्याग

किं कषायकलुषं कुरुषे स्वं, केषु चिन्ननु मनोऽरिधियात्मन् ।
तेपि ते हि जनकादिकरूपैरिष्टतां दधुरनंतभवेषु ।। ३१ ।।

अर्थ—हे आत्मा ! कितने ही प्राणियों पर शत्रु बुद्धि रखकर तूं अपने मन को कषाय से क्यों मलिन करता है ?

(क्योंकि) कितने ही भावों में वे तेरे माता पिता आदि रूप से प्रीति के पात्र रह चुके हैं ॥ ३१ ॥ स्वागता

विवेचन—क्रोध आदि कषाय करना आत्मा को पसंद नहीं है, फिर भी किया ही जाता है। यद्यपि क्रोध आदि का भाव लाना आत्मा का विकृत रूप है, क्रोध से चेहरा लाल हो जाता है, आंखें तन जाती हैं, भवें चढ़ जाती हैं व चित्त उत्तेजित हो जाता है। मान करते समय आत्म-प्रशंसा, दिखावा, न होते हुए गुणों का मानना आदि भाव लाने पड़ते हैं। माया तो कपट बिना हो ही नहीं सकती है, झूंठ उसका सहोदर है। लोभ से अपमान, निंदा व असंतोष होता ही है। इस प्रकार से चारों कषायों से हे आत्मा ! तू क्यों मलिन होता है एवं जिन जीवों पर तूं अभी क्रोधादि कर रहा है वे अनंत भावों से तेरे माता पिता आदि कुटुम्बी रह चुके हैं और तेरे प्रीति के भाजन रहे हैं। यह आत्मा चारों गतियों की ८४ लाख योनियों में भटकता हुवा कभी किसी का भाई, कभी बहिन, कभी माता, कभी पिता, कभी पुत्र, कभी स्त्री, कभी नौकर, कभी दास भी बनता रहता है अतः सब ही तेरे स्वजन है अतः किसी भी जीव पर क्रोधावेष में मत आ, हानि तेरी ही होगी।

शोक का स्वरूप-- उसका त्याग

यांश्च शोचसि गताः किमिमे मे, स्नेहला इति धिया विधुरात्मा।
तैर्भवेषु निहतस्त्वमनंतेष्वेव तेऽपि निहता भवता च ॥ ३२ ॥

अर्थ—स्नेह बुद्धि से जिनको गया हुवा (मरा हुवा) जान कर तू व्याकुल होकर शोक करता है उनके द्वारा तूं

अनंत भव में मारा गया है और तू ने भी उनको अनंत भव में मारा है।

विवेचन—व्यवहारिक रूप से जीव अनंत बार जन्मता है और अनंत बार मरता है अर्थात पर्याय बदलता है। उस स्थिति में पारस्परिक अनेक प्रकार के संबंध बांधता है किसी के साथ मित्रता के तो किसी के साथ शत्रुता के। मित्रता की अपेक्षा शत्रुता बांधने के प्रसंग अधिक आते हैं अतः जिनको आज तू मरा हुवा जानकर शोक कर रहा है उन्होंने भी तुझे मारा है और तू ने भी उन्हें मारा है अतः शोक करने की आवश्यकता नहीं है अर्थात समभाव रख। जीवन मरण तो मोक्ष होने तक कभी रुकने वाले नहीं है।

मोह त्याग—समता में प्रवेश

त्रातुं न शक्या भवदुःखतो ये, त्वया न ये त्वामपि पातुमीशाः।
ममत्वमेतेषु दधन्मुधात्मन्, पदे पदे किं शुचमेषि मूढ ॥ २३ ॥

अर्थ—तेरे द्वारा जो भव दुःखों से बचाए नहीं जा सकते हैं, और जो न तुझे ही बचाने में समर्थ हैं, वैसों के ममत्व में जलता हुवा हे मूढ़! तू पद पद पर क्यों शोक करता है ॥२३॥

उपजमंत

विवेचन—संसार के संबंधी हमें शारीरिक दुःखों से किसी दशा में छुड़ा भी सकते हैं लेकिन भव दुःखों से, जन्म-जरा-मरण से छुड़ाने में कोई समर्थ नहीं है। हे आत्मा न तू भी किसी को इन दुःखों से छुड़ाने में शक्तिशाली है, फिर झूठे ममत्व के

वशीभूत होकर उनके संसर्ग से प्राप्त हुए अनेक प्रसंगों पर क्यों पद पद पर शोक करता है ।

दलबल देई देवता, मात पिता परिवार,
मरती बिरियां जीव को कोई न राखनहार ।।

श्रेणिक राजा को भी जिसकी ऋद्धि सिद्धि ने आकर्षित व आश्चर्यान्वित किया था, जिसके घर प्रतिदिन वस्त्र अलंकार की पेटियां उतरती थी, जिसका सुकुमार शरीर श्रेणिक राजा के देह की क्षणिक उष्णता को सहन न कर सका था, जिसने कभी घर से बाहिर पैर भी नहीं धरा था, जिसने नगर के राजा श्रेणिक का नाम भी न सुना था वही शालिभद्र अपने सिर पर राजा जैसी व्यक्ति का आधिपत्य, स्वामित्व जानकर संसार के बंधनों को तोड़ने पर उतारू होकर बत्तीस पत्नियों में से एक एक पत्नि को प्रतिदिन त्यागता है । इससे भी बढ़कर त्याग व वैराग्य तो धन्ना सेठ का है जो शालिभद्र का बहनोई था । स्नान विलेपन कराते वक्त ऊपर बैठी हुई सुभद्रा की आंख में से एक उष्ण बूंद, सेठ के शीतल शरीर पर गिरती है और वह ऊपर देखता है । अपनी पत्नी की आंखों में पानी देखकर उनका सागरवत वक्षस्थल उथल पुथल होता है । उनका वार्तालाप उनके ही शब्दों में पढ़िए:—

धन्नाजी—गोभद्र सेठनी बेटड़ी भद्राबाई तोरी मावड़ी ।
सुण सुन्दरजी तें केम आंसु खेरीयुंजी ।।

सुभद्रा—जगमाँ एकज भाई माहरे, संयम लेवा मनकरे;
नारी एक एक जी, दिन दिन प्रत्येपरिहरे जी ।।

धन्नाजी—ए तो मित्र कायरुं, शुं ले संयम; भायरूं;
जीभलड़ीजी, मुख माथानी जुदी जाणवीजी ।।

सुभद्रा—कहेवुं तो घणुं सोहिलुं, पण करवुं अति दोहिलुं ।
सुणो स्वामीजी, अहेवी ऋद्धि कुंण परिहरेजी ।।

धन्नाजी—कहेवुं तो घणुं सोहिलुं, पण करवुं अति दोहिलुं;
सुण सुन्दरीजी, आजथी त्यागी आठनेजी ।।

ओहो महाऽश्चर्य ! जिसकी ऋद्धि सिद्धि का पार नहीं था, जिसके समान सोभाग्यशाली कोई नहीं था, वह धन्ना सेठ उसी क्षण स्नान से विरत हो जाता है, उठकर शालिभद्र के घर जाता है, स्नान अधूरा ही रहता है। वहां जाकर उसे कहता है :—

उठो मित्र कायरूं, संयम लइये भायरूं ।
आपण दोय जणाजी, संयम शुद्ध आराधीयेजी ।।

कर्मेशूरा सो धर्मेशूरा । सिंह की पुकार सिंह पहचानता है । सब बंधनों को छोड़कर तथा सुख के साधनों को लात मारकर वे दोनों—

शालिभद्र वैरागिया, शाह धन्नो अति त्यागिया;
दोनुं रागीयाजी, श्री वीर समीपे आवीयाजी ।।

महावीर प्रभु के समीप जाकर दीक्षित होकर अपना कल्याण करते हैं ।

हे मूढ़ आत्मा ! इनकी संपत्ति, सुख व कोमलता के सामने, इनके परिवार व दास दासियों के सामने तेरी क्या हस्ती है ? धन, स्त्री, मित्र व राजा कोई भी उन्हें भवदुःखों

से छुड़ा न सके, अंत में त्यागी महापुरुष महावीर हो उन्हें सत्पथ दर्शक व दुःखों के त्राता, जन्म मरण के भयों से मुक्त कराने वाले मिले। इसके संबंध में अनाथी मुनि, अषाढ़-भूति, नंदिषेण, आर्द्रक कुमार आदि के चरित्र पढ़ने योग्य हैं।

आप देखते हैं कि जग में कोई किसी का सच्चा रक्षक नहीं है अतः हम अपने संबंधियों के ममत्व से दूर होकर अपना उद्धार आप करें। **उद्धरेत् आत्मआत्मानम्**। यदि आपके मकान में आग लग गई हो, रात का समय हो, अग्नि आपके व आपके अबोध पुत्र के समीप पहुंच गई हो, रास्ता भी जल रहा हो, दूसरे सब परिवार के लोग (अशक्त माता पिता स्त्री आदि) भी चीत्कार कर रहे हों उस वक्त कहिए आप अकेले भागेंगे या दूसरों की फिक्र करेंगे ? जरूर ही अपना बचाव पहले होता है। उसी प्रकार से इस संसार की अग्नि से अपना बचाव पहले कीजिए। शोक को त्याग कर अशोक-अमर-निरंजन निराकार स्वरूप को प्राप्त कीजिए।

उपसंहार—राग द्वेष का त्याग

सचेतनाः पुद्गलपिंडजीवा, अर्थाः परे चाणुमया द्वयेपि।
दधत्यनंतान् परिणामभावांस्तत्तेषु कस्त्वर्हति रागरोषौ ॥३४॥

अर्थ—पुद्गल पिंड (के आश्रित) जीव सचेतन हैं, परमाणु-मय धनादि अचेतन हैं। ये दोनों अनंत पर्याय भावों को (बदलने के स्वभाव को) पाते रहते हैं अतः उन पर राग द्वेष करने में कौन योग्य है ? ॥ ३४ ॥ उपजाति

विवेचन—सभी शरीर धारियों का देह पुद्गल से बना हुवा है, चाहे वे मानव हो या पशु पक्षी या कीट पतंग। लकड़ी, पत्थर, लोह, स्वर्ण आदि ये परमाणुमय वस्तुएं अचेतन हैं। ये दोनों चेतन, अचेतन पदार्थ अपने बदलने के स्वभाव के कारण (पर्याय से) रूपांतरित होते रहते हैं अतः इन पर राग या द्वेष करना अनुचित है, अयोग्य है। एक जीव अभी मनुष्य है, सत्कर्म करके देव शरीर धारण करता है फिर मानव बनकर तीर्थंकर बन जाता है, एक जीव सत्कार्य तो करता है लेकिन उसे देव की ऋद्धि सिद्धि अच्छी लग रही है, उसकी अभिलाषा भी यही है अतः वह वहां पहुंच जाता है। एक जीव संसार में मस्त रहकर आत्मा परमात्मा, पुण्य, पाप, धर्म अधर्म कुछ भी नहीं मानता है अपनी हो इच्छा से मन चाहे सिद्धांत बनाकर खुद भी चलता है और दूसरों को भी वैसी ही सलाह देता है परिणामतः उन सबको लेकर वह नरक या तिर्यंच के कष्ट सहन करता है। आत्मा एक है परन्तु कर्म से इसके पर्याय बदल रहे हैं। एक मकान अभी नया बनाया है, कुछ वर्षों के पश्चात वह वर्षा से या बिजली से क्षत विक्षत हो जाता है और खण्डहर मात्र रह जाता है। नए रेडियो, घड़ी, हारमोनियम, यंत्र, कल कारखाने, मोटरें घर का सारा सामान सभी का यही स्वभाव है। आज जो नया है कल वही टूटी फूटी अवस्था को प्राप्त हो जाता है, फिर बनता है फिर बिगड़ता है यह क्रम चलता ही रहता है अतः इन पर राग द्वेष करना अयोग्य है।

समता का अध्याय संपूर्ण करते हुए सारांश ध्यान में रखने योग्य होने से उसकी पुनरावृत्ति की जा रही है। जिस प्रकार हमारे यहां कोई बड़े अतिथि आने वाले हों तो हम उनके स्वागत की तैयारी करते हैं, सब जगह सफाई कराते हैं उसी प्रकार सबसे बड़े अतिथि अपने आराध्य देव को मन मंदिर में पधारने के लिए उस मन को भी साफ करना पड़ेगा उसमें जो क्रोधादि मैल रहा हुआ है उसको साफ किए बिना वह तैयारी अधूरी गिनी जाएगी, यदि आराध्यदेव की पधरामणी करनी हो तो समता द्वारा मनमंदिर को स्वच्छ करें। इसके बिना वह तैयारी वैसी ही निर्थक होगी जैसे कि नींव बिना घर बनवाना या तैरना न जानते हुए समुद्र में कूदना। सर्व प्रथम धरातल साफ करना पड़ेगा तभी सर्व मनोवांछित साधा जाएगा उसी प्रकार आत्मा का कल्याण चाहने वाले को या मोक्ष प्राप्ति के इच्छुक को समता भाव आत्मा में लाना पड़ेगा, जिसके चार साधन बताए हैं :—

(१) चार भावना भाना, (२) इन्द्रियों के विषयों पर चित्त को सम रखना, (३) वस्तु का स्वभाव पहचानना (४) स्व अर्थ (आत्मा का हित) प्राप्त करने में संलग्न रहना।

महानुभावो ! समता पर शास्त्रकार ने बहुत भार दिया है और उसी के आधार पर मैंने अपनी तुच्छ बुद्धि व अल्पज्ञान से थोड़ा सा विवेचन किया है। समता का आनंद अनुभव की वस्तु है। प्रत्येक वस्तु को बाह्य दृष्टि से देखने की अपेक्षा आंतर दृष्टि से निरीक्षण करना चाहिए कि वह क्या है ? कहां से आई है ? कहां जाएगी ? पहले कहां थी ? मेरा और

उसका संबंध क्यों है ? मेरे और इसके गुणों में अंतर क्या है ? कहां तक वह मेरे साथ रहेगी ? इस पद्धति से विचारने से आत्मजागृति प्राप्त होगी और आत्मनिरीक्षण करने में रुचि उत्पन्न होगी ।

इस ग्रंथ के १६ अध्यायों में प्रथम स्थान समता को देने का कारण यही है कि यह समस्त गुणों का बीज है जिसका फल मोक्ष है । कल्पवृक्ष (अध्यात्म-कल्पद्रुम) का बीज समता को सिद्ध करने के लिए अनेक तरह से ग्रंथकार ने प्रयत्न किया है अतः इस आत्मा के लिए प्रथम कर्त्तव्य अपने आप में इस बीज का आरोपण करना है ।

जो मनुष्य अपना हित चाहता हुवा भी दूसरों का कल्याण करना चाहता हो वह इस धरातल पर (समता के धरातल पर) अपने आप को लाने का प्रयत्न करे, बिना समता के कुछ भी साध्य नहीं है अतः समता पर बार बार लिखा है ।

हे कल्याणमयी आत्मा ! अपने स्वरूप को पहचान, यदि तू चाहता है कि **असतो मां सद् गमय, तमसो मां ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मां अमृतंगमय** अर्थात् मेरी आत्मा में रहा हुवा असत् सत् हो जाय (बुराई अच्छाई हो जाय), आत्मा में रहा हुवा अंधकार ज्योतिर्मय हो जाय एवं मृत्यु अमृत्यु बन जाय अर्थात मैं अमर बन जाऊँ, तो समता रस का पान कर । सब ही प्राणी समता की आराधना करें, यही भावना है । सुज्ञ महानुभाव ! इस अध्याय को व दूसरे सभी अध्यायों को शांति से पढ़कर मनन करें, ऐसी प्रार्थना है ।

इति सविवेचनः समतानामः प्रथमोधिकारः

अथ द्वितीयः स्त्रीममत्व

मोचनाधिकारः

समता का रहस्य समझने के पश्चात उसे प्राप्त करने के साधनों की तरफ स्वाभाविक लक्ष होता ही है अतः प्रथम साधन जो मोहममत्व त्याग का है उसमें भी प्रथम स्थान स्त्रीममत्व के त्याग को दिया है। दूसरा, तीसरा, चौथा व पांचवां इन चारों का परस्पर संबंध है।

पुरुष के गले में बंधी हुई शिला

मुह्यसि प्रणयचारुगिरासु, प्रीतितः प्रणयिनीषु कृतिं स्वम्।
किं न वेत्सि पततां भववार्द्धौ, ता नृणां खलु शिला गलबद्धाः ॥१॥

अर्थ—हे विद्वान् जिनकी प्रेमभरी और कर्णप्रिय मधुरवाणी से तू मुग्ध होता है और उनकी प्रीति से तू मोहित होता है, परन्तु यह क्यों नहीं जानता है कि वे भव समुद्र में गिरने वाले प्राणियों के लिए गले में बंधी हुई शिला के समान हैं ? ॥१॥

स्वागतावृत

विवेचन—जिस प्रकार मीठे बोलने वाले स्वार्थी मित्र एक भोले धनिक पुत्र को अपने शब्द जाल में फंसाकर उसके हित का स्वांग भजते हुए उसे तरह तरह के आमोद प्रमोदों से प्रसन्न रखते हैं। वे उसे भंग का नशा कराने के पश्चात

सुरापान कराते हैं व वारांगना के आवास में ले जाकर रूप सुन्दरियों के मोहजाल में फंसाकर उनके रंग में रंग देते हैं। वह, मोहमदिरा का पान करता हुवा उनके जाल में ऐसा फंस जाता है जैसा कि कोशावेश्या के स्वर्णमय मोहावर्त में शकटाल पुत्र जैन ब्राह्मण स्थुलिभद्र फंस गया था। फंसने के पश्चात उसका मन उसी रूप लावण्यमयी के चारों तरफ फिरता है, उसके अवगुण भी उसे गुण नजर आते हैं, उसकी चितवन उसके चित्तवन को चुरा लेती है वह संपूर्णतया उसके आधीन हो जाता है और भान भूल जाता है। वह सुभ्रू उसे संसार वन में सुभ्रमण कराती है। और नारी का वह दास तब स्वयं के तन मन की भी सुध भूल जाता है तो फिर उसे परमात्मा का स्मरण हो ही कैसे सकता है। इस प्रकार से भवरूपी समुद्र में डूबते हुए प्राणी के लिए उसे गहरे खड्डे में ले जाने में सहायभूत नारी, उसके गले में बंधी हुई जीती जागती शिला है। पत्थर की शिला तो टूट भी सकती है लेकिन इस शिला के मोहरूप अणु ऐसे स्निग्ध व घने हैं जो टूटने में अशक्य है। विवाह करने के पश्चात मनुष्य गृहस्थ अर्थात जकड़ा हुवा कहलाता है उसका वह बंधन उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। शारीरिक व मानसिक चिन्ता की शृंखलाएं, आशा की जल तरंगे, बढ़नी शुरू होती हैं। गृहस्थोपयोगी सामग्री, शृंगार के साधन, मनोरंजन के आधुनिक वाद्य उसके उस घेरे को बढ़ाते जाते हैं। गृहस्थी के फलस्वरूप संतान होने के पश्चात तो वह आर्द्रक कुमार की तरह कच्चे सूत के तारों से बांध

लिया जाता है। अतः भवसमुद्र से निकलने के लिए या मोक्ष-प्राप्ति के लिए स्त्री, गले में बंधी हुई शिला के सदृश्य ही है।

स्त्रियों में स्थित असुंदरता

चर्मास्थिमज्जात्रवसास्त्रमांसामेध्याद्यशुच्यस्थिरपुद्गलानाम्।
स्त्रीदेहपिंडाकृतिसंस्थितेषु, स्कंधेषु किं पश्यसि रम्यमात्मन् ॥२॥

अर्थ—स्त्री के शरीर पिंड की आकृति में रहे हुए चमड़ी, हड्डी, चरबी, आंतरडे, मेद, रुधिर, विष्टा आदि अपवित्र और अस्थिर पुद्गलों के समूह में हे आत्मा ! तूं कौन सा सौंदर्य देखता है ? ॥ २ ॥ इंद्रवज्रा

विवेचन—हे आत्मा ! क्या तू ने रेल के इंजिन या डब्बे से कटे हुए मानव देह या पशु कलेवर को देखा है ? नाक मुंह क्यों चढ़ाता है ? इन्हीं पदार्थों से तेरी और तेरी प्रिया की देह बनी हुई है। यदि वह मुर्दा कुछ अधिक काल तक वहीं पड़ा रहता है तो उसमें से कैसी असहनीय दुर्गन्ध निकलती है। अरे यही सब तो तेरी उस मोहक नारी के शरीर में रहे हुए अपवित्र व अस्थिर पुद्गलों का स्वरूप है ? इन पर मत लुभा। उनके वास्तविक स्वरूप को पहचान कर उस पर मोह करना छोड़ दे।

कहा भी है :—

दीपे चाम चादर मढ़ी, हाड़ पिंजरा देह,
भीतर या सम जगत में, अवर नहीं घिनगेह ॥

जो पदार्थ केवल चमड़े से ढके रहने के कारण तुझे सुन्दरतम प्रतीत हो रहे हैं, उन्हें जरासा खुला देखकर तुझे

इतनी घृणा हो जाती है कि तू वहां ठहरता भी नहीं है। यह हाड़पिंजर वाला शरीर ऐसे ही घृणित पदार्थों से भरा है फिर तूं इन पर क्यों लुभाता है ?

अपवित्र पदार्थों की दुर्गंधि, स्त्री शरीर का संबंध

विलोक्य दूरस्थममेध्यमल्पं, जुगुप्ससे मोटितनासिकस्त्वं।
भृतेषु तेनैव विमूढ योषावपुःषु तत्किं कुरुषेऽभिलाषम् ॥३॥

अर्थ—हे मूर्ख ! जरासी दूर पड़ी हुई दुर्गन्धी वस्तु को देखकर तूं नाक सिकोड़ कर घृणा करता है; तब वैसी ही दुर्गन्धी से भरे हुए स्त्रियों के शरीर की तूं क्यों अभिलाषा करता है ? ॥ ३ ॥ इंद्रवज्रा

विवेचन—सार्वजनिक शौचालयों की दुर्गन्धी तो प्रायः सभी को कष्टकर होती है, दुर्गन्ध के मारे नाक सिकोड़ते हैं, सिर दर्द होने लगता है, जितनी जल्दी हो सके दूर हटने का प्रयत्न करते हैं परन्तु वह दुर्गन्ध युक्त घृणित वस्तु आई कहां से ? अरे मलमूत्र के धाम ये हमारे शरीर ही तो उनके कोठार हैं !! ऐसे कोठार से भरे हुए स्त्री-शरीर की तू अभिलाषा कर रहा है। इससे बढ़कर और क्या मूर्खता होगी ?

मल्ली कुमारी ने अपने विवाहोच्छुक छः राजाओं को एक स्वर्णमयी पुतली द्वारा जिसमें से अन्न के सड़ने की दुर्गन्ध आ रही थी बोध दिया कि जैसे इस पुतली का रूप ऊपर से स्वर्णमय है व अंदर अन्न सड़ रहा है वैसे ही हे राजाओं मेरा शरीर भी सुन्दर है परन्तु अंदर तो ऐसे ही दुर्गन्ध युक्त पदार्थ हैं। ये छः राजा जो उसके पिछले भव के आराधक मित्र थे

वैराग्ययुक्त हो गए और कुमारो सहित सातों ने अपना कल्याण किया।

"देखी दुर्गन्ध दूरथी, तू मोंह मचकोड़े माणे रे;
नवि जाणे रे तेणे पुद्गले तुज तनुभर्यो ए।

हम गंदगी से दूर भागते हैं, वस्त्र से नाक ढ़कते हैं, उसमें पैर पड़ने पर पैर को धो डालते हैं तो भी उसी गंदगी युक्त नारी देह को उत्तम जानकर उसे सर्वस्व न्यौछावर कर प्रभु को भूल जाते हैं।

स्त्री के मोह से इस भव, व परभव में होने वाला फल

अमेध्यमांसास्रवसात्मकानि, नारीशरीराणि निषेवमाणाः।
इहाप्यपत्यद्रविणादिचिंतातापान् परत्रेयूतीदुर्गतीश्च ॥४॥

अर्थ—विष्टा, मांस, रुधिर और चरबी आदि से भरे हुए स्त्रियों के शरीर को भोगने वाले प्राणी इस भव में धन व पुत्र आदि की चिंता के ताप में तपते हैं और परभव में दुर्गति में पड़ते हैं ॥ ४ ॥ **उपजाती**

विवेचन—स्त्री के संसर्ग में आने के पश्चात परिवार बढ़ता है। पुत्र के लिए लालन पालन की चिंता, आराम के लिए व्यय की चिंता, इन दोनों की चिंता मिटाने के लिए धन की चिंता, धन के लिए नौकरी, व्यापार आदि की चिंता, इस तरह यह क्रम चलता ही रहता है व चिंता भी बढ़ती जाती है। इस अग्नि में जलते हुए प्राणी के लिए औषधी ही नहीं है। इस तरह यह भव तो दुःख में जाता है और इस भव में कुछ भक्ति आदि नहीं करने से दुर्गति निश्चित ही है।

कपिल मुनि—कौसंबी नगरी का काश्यप ब्राह्मण का पुत्र अपनी विधवा माता के उपदेश से श्रावस्ती नगरी में इंद्रदत्त नामक पंडित के यहां विद्याभ्यास करने को गया। भिक्षावृत्ति द्वारा उदरपोषण करने से अध्ययन के लिए समय कम मिलता था अतः एक विधवा ब्राह्मणो के यहां उसके भोजन का प्रबंध किया गया। प्रति दिन के समागम व हास्य आदि से दोनों मार्ग भ्रष्ट हो गृहस्थी बन गए। फलस्वरूप गर्भावस्था में ब्राह्मणी ने द्रव्य की इच्छा व्यक्त की। उसे दासीपने में भोजन वस्त्र तो मिलता था परन्तु पूजा के लिए नकद की आवश्यकता हुई। खिन्नवदना प्रिया ने उपाय बताया कि नगर का राजा सर्व प्रथम आशीर्वाददाता ब्राह्मण को दो मासा स्वर्ण देता है तुम सब में पहले पहुंचो। इस सूचना से कपिल तीन चार दिन तक नित्य वहाँ जाता रहा परन्तु उससे पूर्व भी कई ब्राह्मण पहुंच जाते थे। एक दिन अर्धरात्रि को वहां जाते समय मार्ग में ही नगर रक्षकों द्वारा वह पकड़ा गया और राजा के सन्मुख चोरी के अपराध में उपस्थित किया गया। राजा ने वास्तविकता को जानकर उसे धन मांगने को कहा। वह एकांत स्थान में जाकर सोचता हुवा दो मासे से बढ़कर पूरा राज्य मांगने की इच्छा करता है। ओह मनोदशा कितनी विचित्र है ! वह आगे विचारता है कि राज्य के रक्षा के लिए सेना की चिंता, शत्रु राजा से राज्य के रक्षण की चिंता यह तो दुःखकर है वह फिर नीचे उतरता है और सोचते सोचते वास्तविक स्थिति पर आकर त्यागी बन जाता है। जंगल में जाकर तप तपता है। अनुक्रम से केवली बनकर ५०० चोरों को बोध कराता है

कपिल विद्यार्थी हलुकर्मी होने से कपिल केवली बनता है। इसी तरह नट कन्या के लिए १२ वर्ष तक विविध नाटक करता हुवा इलाचीकुमार अपने माता, पिता, परिवार और धन संपति को छोड़ता है, पश्चात रस्सी पर चौथी बार नाचता हुवा एक त्यागी मुनि को किसी सुन्दर स्त्री के सामने एकांत-स्थल में, युवावस्था होते हुए भी निर्विकारी देखता है। वह सोचता है कि "मुझको धिक्कार है; जिस नट कन्या के लिए मैं इतना प्रयत्न कर रहा हूं उसे राजा अंतपुर में रखना चाहता है, उधर वह मुनि धन्य है जो स्त्री के मोह में नहीं फंसा है। इस तरह विचारते हुए नाटक करते हुए वह संसार नाटक का अंत लाता है, अर्थात वहीं पर केवली बनकर आयुष्य क्षय होने से मोक्षगामी होता है। इन दोनों दृष्टांतों से स्पष्ट हो गया कि, स्त्री से ही घर है और जब घर है तो सब कुछ अव-श्यंभावी ही है। यह गृहणी न होकर ग्रहणी हैं अर्थात जैसे चंद्र को राहु का व सूर्य को केतु का ग्रहण लगता है वैसे ही पुरुष को स्त्री का, ग्रहण लगता है। अतः इस बंधन स्वरूप सर्व संतापों की कारणभूत स्त्री में से आसक्ति हटा लो।

स्त्री के शरीर में क्या है ? यह विचारो

अंगेषु येषु परिमुह्यसि कामिनीनां,
चेतः प्रसीद विश च क्षणमंतरेषां।
सम्यक् समीक्ष्य विरमाशुचिपिंडकेभ्य-
स्तेभ्यश्च शुच्यशुचिवस्तुविचारमिच्छत् ॥५॥

अर्थ—हे चित्त ! जिन स्त्रियों के अंगों पर तू मोहित होता

है, जरा स्वस्थ होकर उन अंगों में क्षण के लिए भी प्रवेश कर, क्योंकि तू पवित्र व अपवित्र वस्तु के विचार की इच्छा रखता है अतः सूक्ष्म दृष्टि से विचार कर उस अशुचि के पिंड से दूर हो जा।

वसंततिलका

विवेचन—सती सीताजी के रूप सौंदर्य पर आकृष्ट होकर रावण ने क्या प्राप्त कर लिया ? कुछ नहीं। यदि उसने उनके शरीर के अंगों पर तात्त्विक दृष्टि से विचार किया होता तो उसका व उसके वंश का नाश न होता और आज इतने वर्षों के पश्चात भी उसे घृणा की दृष्टि से न देखा जाकर उसका दशहरे पर पूतला न जलाया जाता। सुन्दर कीमती वस्त्र भी विष्टा के एक छींटे से अपवित्र हो जाता है तो फिर जिस सुन्दर चर्माच्छादित पिंड में वह अपवित्र पदार्थ भरा हुवा है उसे तू अपवित्र और दूर रहने योग्य क्यों नहीं मानता है ? तूं पवित्र और अपवित्र के अंतर को पहचानना चाहता है अतः सूक्ष्म दृष्टि से, अंतर दृष्टि से देख और परिणाम पर पहुंच। यदि तू इन दुःखों से परिचित हो गया है और संसार के कीचड़ में अभी नहीं फंसा है तो मल्लिनाथजी, तथा नेमिनाथजी का अनुकरण कर, यदि मोहपाश में फंस गया है तो स्थूलिभद्र तथा धन्ना–शालिभद्र की तरह से वीरता दिखाकर बाहर निकल। सिद्धर्षि गणिने उपमिति भवप्रपंच कथा में तथा अन्य महात्माओं ने भी मोह को राजा की पदवी दी है, अन्य कर्म उसके मंत्री, सिपाही आदि बताए हैं। मोह का केन्द्र स्त्री है, धन पुत्र आदि उसके आश्रित हैं अतः स्त्री के मोह को जीत ले।

भविष्य की पीड़ाओं को विचार कर मोह कम करो

विमुह्यसि स्मेरदृशः सुमुख्या, मुखेक्षणा दीन्यभिवीक्षमाणः ।
समीक्षसे नो नरकेषु तेषु, मोहोद्भवा भाविकदर्थनास्ताः ॥६॥

अर्थ—विकसित नयन वाली, और सुन्दर मुख वाली स्त्रियों के नेत्र, मुख आदि देखकर तू मोहित होता है परन्तु उनके द्वारा प्राप्त हुए मोह के कारण भविष्य में होने वाली नरक की यंत्रणा को तूं क्यों नहीं देखता है ? ॥ ६ ॥ **उपजाति**

विवेचन—स्वादिष्ट एवं सरल मधु पर मक्खियां भिनभिनाती हैं, उनकी दृष्टि अभी उस दशा पर नहीं जा रही है जब कि उनके पैर व पंख उसमें चिपक जावेंगे और थोड़े समय का रसना इन्द्रिय का स्वाद या मधु के प्रति का मोह उनके मृत्यु का कारण बनेगा। हे प्राणी ! तेरी दशा भी उन मकोड़ों जैसी होगी जो कि बासुन्दी (रबड़ी) या जलेबी के रस का पान करते हुए अपने प्राणों की आहुति दे देते हैं। जिनके अंगों में तू अभी लुभायमान हो रहा है उनके कारण, उनके मोहावर्त में फसने के कारण, भावी नरकादि की पीड़ा का विचार कर और सावधान हो जा। पके हुए, पीले, मधुर रस से भरे हुए आमों को देखकर तू लुभाता है लेकिन रस निकालने के पश्चात छिलके और गुठलियों पर भिनभिनाती हुई मक्खियों से वासित उन आमों पर घृणा करता है। जिनको तू चाह से लाया था निरस होने पर वे त्यागने योग्य हो गई हैं। हे भोले जीव ! यही दशा तो तेरी सुन्दर श्यामा या गौरी की, प्रिया या अर्द्धांगिनि की होने वाली है यह तू क्यों नहीं

विचारता है। तू उसके मोह के वश में रहने से तमाम दिनभर धन आदि के लिए फिरता रहता है, उसे प्रसन्न करने के लिए परिश्रम करता है लेकिन इसी एक कारण से तू नरक आदि का साम्राज्य प्राप्त करने वाला है, कारण कि तूने अपने आपको भुला दिया है। तू परमात्मा को भूल गया है और परलोक के भय से विस्मृत हो गया है। हे स्वतंत्र ! क्यों परतन्त्र बनता है।

स्त्री का शरीर, स्वभाव और भोग के फल का स्वरूप

अमेध्यभस्त्रा बहुरंध्रनिर्यन्, मलाविलोद्यत्कृमिजालकीर्णा।
चापल्यमायानृतवंचिका स्त्री, संस्कारमोहान्नरकाय भुक्ता ॥७॥

अर्थ—विष्टा से भरी हुई चमड़े की थैली, बहुत छिद्रों में से निकलते हुए मल (मूत्र-विष्टा) से मलीन, (योनि में) उत्पन्न होते हुए कीड़ों से व्याप्त, चपलता माया और असत्य (माया मृषावाद) से ठगने वाली स्त्रिएं पूर्व के संस्कारों के मोह से नरक में ले जाने के लिए ही भोगी जाती हैं।

उपजाति

विवेचन—नगर पालिका की तरफ से मैला ढोने वाली कोठियों या गाड़ियों को देखिए कितनी घृणा होती है ? यदि उनमें छिद्र हों और मैला छन छनकर निकलता हो, या बहता हो तो फिर तो पूछना ही क्या ? इसी प्रकार से सुन्दर दिखती हुई स्त्रियों के शरीर में से १२ मार्गों से (छिद्रों से) मैल बहता रहता है तो फिर उससे तुझे घृणा क्यों नहीं होती है ? जैसे मैले की कुण्डियों, गटरों, या गाड़ियों में जीव

उत्पन्न होते हैं वैसे ही स्त्रियों की योनि में भी जीव उत्पन्न होते रहते हैं व मरते रहते हैं। चंचलता, माया, झूठ आदि से वे पुरुषों को ठगती रहती हैं और पूर्व के कुसंस्कारों के कारण ही नरक में ले जाने के लिए उन्हें भोगा जाता है। असत्य, साहस, माया, मूर्खता, लोभ, अपवित्रता और निर्दयता ये स्त्रियों के स्वाभाविक दोष हैं।

निर्भूमिर्विषकंदली गतदरी व्याघ्री निराव्हो महा-
व्याधिर्मृत्युरकारणश्च ललनाऽनभ्रा च वज्राशनिः।
बंधुस्नेहविघातसाहसमृषावादादिसंतापभूः प्रत्यक्षापि
च राक्षसीति बिरुदैःख्याताऽऽगमे त्यज्यताम् ॥८॥

अर्थ—(स्त्री) भूमि बिना (उत्पन्न हुई) विष की बेल है, बिना गुफा की सिंहनी है, बिना नाम की बड़ी व्याधि है, बिना कारण की मृत्यु है, बिना आकाश की बिजली है, सगे संबंधी एवं भाइयों के स्नेह का नाश करने वाली है। साहस, झूठ आदि संतापों का उत्पत्ति का स्थान है तथा प्रत्यक्ष राक्षसी है;—ऐसे ऐसे उपनाम स्त्रियों के लिए आगम में दिए गए हैं, अतः इनका त्याग करो॥ ८ ॥ **शार्दूलविक्रीडित**

विवेचन—व्यवहारिक संबंधों का, पारस्परिक स्नेह का नाश स्त्रियों के कारण से होता है क्योंकि उनका स्वभाव माया सहित झूठ बोलने का होता है। नारी को उस सिंहणी की उपमा दी है जो गुफा में न रहकर जंगल में स्वछंद फिरती है। गुफा में रहने पर तो गुफा व उसके आस पास ही भय रहता है लेकिन जो स्वच्छन्द विचरती है उसका भय तो सर्वत्र बना रहता

है, वैसे ही स्त्री का भय भी हर समय बना रहता है न मालूम वह किस समय कौनसा भय उपस्थित कर दे। श्रीमद राजचन्द्रजी ने लिखा है :—

निरखी ने नव यौवना, लेश न विषय निदान।
गणे काष्ठनी पूतली ते भगवान समान ॥

अर्थात भगवान के समान बनने वाले को स्त्री से दूर रहना चाहिए। सैकड़ों वीरों को युद्ध में पछाड़ने वाले शूर-वीर नर भी नारी के नयनबाणों से बींधे जाते हैं। जो पुरुष सुन्दर स्त्री को देखकर ज़रा भी विषययुक्त नहीं होता है, जिसकी काम वासना ज़रा भी जागृत नहीं होती है, जो उसे लकड़ी की पूतली के समान गिनता है वह भगवान के समान है।

स्त्री मीठी छुरी है जो आत्मिक गुणों का घात करती है, सुरिकांता, नयनावाली आदि ने विषयांध होकर अपने पति तक को जहर दे दिया, उस स्थिति को सामने रखकर संसार से विरक्त दशा में विचरने वाले पुरुष को स्त्री से सर्वथा दूर रहने की आवश्यकता है। इस विषय में इन्द्रिय पराजय शतक, उपदेशप्रासाद, शृंगारवैराग्यतरंगिणी, पुष्पमाला आदि ग्रंथ देखने चाहिए। भर्तृहरि का वैराग्यशतक भी देखने योग्य है।

स्थूलिभद्रजी जैसे या तुलसीदासजी जैसे विरले ही होते हैं जो उस प्रेम पयोधि से निकलकर आत्म श्रेय करते हैं। बहुत ही कम विष (कुचेला आदि) इस तरह के होते हैं जो

शरीर के लिए हितकर होते हैं, जिन्हें भी पकाया या मारा जाता है तब ही वे कुछ गुणकारी होते हैं। उसी तरह से विरले ही ऐसे महापुरुष या महासतियां होती हैं जो विषय कुण्ड से बाहर निकलकर आत्मा का हित करती हैं। जैसे प्रायः सभी विष शरीर के लिए घातक हैं वैसे ही प्रायः सभी स्त्रियां आत्मा के लिए घातक हैं।

हे शांति के इच्छुक जीव ! इस विष वेलड़ी के विषय-जन्य किंपाक फल की तरह दूर रह। जैसे किंपाक फल दिखने में सुन्दर, स्वाद में मीठा परन्तु परिणामः में प्राणघातक है वैसे ही स्त्री दीखने में सुन्दर, स्वर में मीठी, भोग में लोलुपी परन्तु सम्पर्क मात्र से आत्मघातक है।

इति स्त्रीममत्व मोचनाधिकारः

अथ तृतीयोऽपत्यममत्व

मोचनाधिकारः

अध्यात्म ज्ञान के रसिक जीव को समता की जरूरत है और उसके साधनों में से ममत्व त्याग की प्रथम आवश्यकता है। स्त्री के ममत्व के बाद प्राणी को पुत्र का ममत्व छोड़ना बहुत कठिन हो जाता है अतः संतान के ममत्व का त्याग बताने वाला यह तीसरा अधिकार संक्षेप से लिखते हैं।

संतान बंधन रूप है उसका वर्णन

मा भूरपत्यान्यवलोकमानो मुदाकुलो मोहनृपारिणा यत्।
चिक्षिप्सया नारकचारकेऽसि दृढं निबद्धो निगडैरमीभिः ॥१॥

अर्थ—तू पुत्र पुत्री को देखकर खुशी से पागल मत होजा, कारण कि मोह राजा नाम के तेरे शत्रु ने तुझे नरकरूप कैदखाने में डालने के लिए जान बूझकर इस (संतानरूप) लोह की बेड़ी से तुझे मजबूत जकड़ दिया है। **उपजाति**

विवेचन—जैसे मदारी डुगडुगी बजाकर तमाशा देखने वालों को आकर्षित करता है बाद में अपनी झोली में से जादू

की वस्तुएं निकाल कर उनके मन को अधिक आकर्षित करता है, ठीक वैसे ही मोहराजा सुन्दर स्त्री के नुपुर की ध्वनि रूप या कोकिलकण्ठा के कर्ण प्रिय स्वर रूप डुगडुगी द्वारा हमें आकर्षित करता है और जादू की पिटारी रूप स्त्री हमारे हाथों में सौंप देता है, जैसे उस पिटारी में से जादू के कबूतर निकल-कर हमें मोहित करते हैं ठीक वैसे हो संतान पैदा होकर हमें मोहित करती है और भवबंधन रूप मोह शृंखला मज़बूत बनती है। हे आत्मा! तेरा सबसे बड़ा शत्रु मोह राजा है, उसी ने तुझे संसार में फंसाए रखने के लिए संतानरूप बंधन, तेरे चारों तरफ लपेट दिए हैं, जिनमें तू खुशी से फंस रहा है। जैसे बारिश में पतंगिए जान बूझकर दीपक में पड़ते हैं वैसे ही तू भी स्वेच्छा से मोह में पड़ रहा है।

इन बंधनों से निकलना अत्यन्त कठिन है। लोहे की जंज़ीर तोड़ना कभी आसान हो सकता है लेकिन मोह के बारीक बंधन तोड़ना उससे कई गुना कठिन हो जाता है। आर्द्रक कुमार, जो मुनि से गृहस्थी होकर फिर त्यागी बनना चाहते थे वे अबोध पुत्र के द्वारा सूत के तारों से बांधे गए थे, वैराग्य उत्पन्न होने पर भी १२ वर्ष तक उन्हें बंधनों में बंधा रहना पड़ा पश्चात ही उन बंधनों को तोड़ सके। ओह; पुत्र पुत्री के मोह के बंधन कितने मजबूत होते हैं; जब वैराग्य-वासित आत्मा को भी उनसे दूर होना बड़ा कठिन हो जाता है तो फिर दूसरों का तो कहना ही क्या ?

पुत्र पुत्री शल्य रूप हैं

आजीवितं जीव भवान्तरेऽपि वा,
शल्यान्यपत्यानि न वेत्सि किं हृदि ।
चलाचलैर्यैं विविधार्ति दानतो,
ऽनिशं निहन्येत समाधिरात्मनः ॥२॥

अर्थ—हे चेतन ! इस भव में और परभव में पुत्र पुत्री शल्य हैं, यह तू अपने मन में क्यों नहीं जानता है ? वे कम या ज्यादा उम्र जीवित रहकर तुझे अनेक प्रकार के कष्ट देते ह और तेरी आत्म समाधि का नाश करते हैं ॥ २ ॥

उपजाति

विवेचन—स्त्रीममत्व के पश्चात पुत्र पुत्री-ममत्व का पाश मानव को जकड़ कर बांधता है । हे आत्मा ! यदि तेरी संतान योग्य है तो तुझे कुछ समय के लिए शांति मिल सकती है परन्तु यदि वह अयोग्य है, स्वछंदी है या निरंकुश है तो फिर दुःखों का पार नहीं है । इतना ही नहीं, वह यदि अल्पायु है और जन्मते ही या ५-७ वर्ष की उम्र में गुजर जाती है तो अपनी स्मृति छोड़ जाती है और तुझे बेचैन करती रहती है, यदि वह युवावस्था में मर जाती है तो तुझे अंधे की लकड़ी की तरह से सहारा टूटने का खेद कराती रहती है, यदि विवाह के पश्चात मरती है तो विधवा पुत्रवधू या विधवा पुत्री के रूप में निराशाकी संतप्त देवी तेरे घर में प्रविष्ट होकर तुझे सदा काल संसार के दुःखों की याद दिलाती रहती है और

तेरा घर श्मशानवत बन जाता है। इस प्रकार से संतान, सुख के बजाय दुखकर अधिक होती है एवं आत्मशांति को नष्ट करती रहती है। यदि लक्ष्मी देवी रुष्ट हो और दरिद्र नारायण की कृपा हो तथा घर में संतान पर संतान होती जाती हो और उनमें भी कन्याएं ज्यादा हों तब तो पूछना ही क्या ? सुख स्वप्नवत हो जाता है।

आक्षेप द्वारा पुत्रममत्व के त्याग का उपदेश

कुक्षौ युवत्याः कृमयो विचित्रा, अप्यस्रशुक्रप्रभवा भवन्ति।
न तेषु तस्या न हि तत्पतेश्च, रागस्ततोऽयं किमपत्यकेषु ॥३॥

अर्थ—रज और वीर्य के संयोग से स्त्री की योनि में विचित्र कीड़े उत्पन्न होते हैं परन्तु उन कीड़ों पर उस स्त्री को या उसके पति को राग नहीं होता है तो फिर पुत्र पुत्री रूप कीड़ों पर राग क्यों होता है ? ॥ ३ ॥　　**उपजाति**

विवेचन—स्त्री की योनि में अनेक कीड़े उत्पन्न होते हैं, द्वेन्द्रिय के अतिरिक्त समुर्च्छिम मनुष्य तक वहां होते हैं, यह धर्मशास्त्रों व कामशास्त्रों में प्रसिद्ध है, तो फिर स्थान, समय और संयोगों की एकता होते हुए भी उन कीड़ों पर राग न होकर केवल संतान पर ही राग क्यों होता है ? ग्रंथकार ने संतान पर से ममत्व बुद्धि को दूर करने के लिए मार्मिक शब्दों में उच्चभाव का प्रदर्शन किया है जो कि कटु होते हुए भी हितकर है।

संतान पर स्नेह न करने के तीन कारण

त्राणाशक्तेरापदि संबंधानंत्यतो मिथोंऽगवताम् ।
संदेहाच्चोपकृते, मापत्येषु स्निहो जीव ॥ ४ ॥

अर्थ—आपत्ति के समय पालन करनें में अशक्त होने से; प्राणियों का सब प्रकार का संबंध अनंत बार होने से यह संबंध मिथ्या है इस कारण से; और उपकार का बदला मिलने का संदेह होने से हे जीव ! तू पुत्र पुत्री आदि पर स्नेह करने वाला न बन ॥ ४ ॥ **आर्या**

विवेचन—पहला कारण तो स्पष्ट है कि पुत्र पुत्री कोई भी माता पिता को आपत्ति में से बचा नहीं सकते हैं क्योंकि कर्मों के कारण से शारीरिक या मानसिक आपत्ति आई है अतः वे लाचार हैं। दूसरा कारण यह है कि आज जो पुत्र है वह पिछले भव में पिता था या आते भव में पिता हो सकता है अतः यह संबंध अनेक प्रकार से अनेक बार हुवा है अतः ममत्व करने योग्य नहीं हैं। तीसरा कारण उपकार का बदला न मिलने का है। बाल्यकाल में माता पिता, पुत्र व पुत्री को बड़े प्यार से पालते पोषते हैं, अनेक प्रकार से उनके लिए खर्च करते हैं एवं स्वयं कष्ट सहन करते हैं, लेकिन युवावस्था प्राप्त होने पर पुत्र अपनी स्त्री और संतान के साथ अलग हो जाता है, जितना कमाता है अपने स्त्री बच्चों के लिए खर्च करता है, वृद्ध माता पिता उसके लिए भाररूप बन जाते हैं। वह उनकी तन मन धन तीनों से बेदरकारी करता है। पुत्री भी अपने पति के घर चली जाती है उसे ही अपना सर्वस्व मानती है। कई

निःसंतान लोग पुत्र गोद लेते हैं, परंतु वह अपना स्वार्थ साध कर जमीन, मकान व धन पर अधिकार जमाकर उनसे अलग हो जाता है। शामिल रहते हुए चोरी से अलग पूंजी जमा करता है, पश्चात उसी पूंजी से पिता से कचहरी में झगड़ता है। ओह यह संसार कैसा भ्रामक है। संतान के मोह में माता पिता अपने आपको भूल जाते हैं, वही संतान कृतघ्न हो जाती है। राजा श्रेणिक का पुत्र कोणिक इसका ज्वलंत उदाहरण है। गर्भ में आते ही चेलणाराणी को अपने पति श्रेणिक के कलेजे का मांस खाने की इच्छा उत्पन्न होती है, अतः इस गर्भ को दुष्टात्मा जानकर राणी जन्मजात बच्चे कोणिक को कूड़े कचरे के ढेर पर फिंकवा देती है और संतुष्ट होती है कि भावी आपत्ति (मेरे पति की हानि) मिट गई। राजा सद्य जात शिशु के रोने की करुणासन्न वाणी सुनता है और दासी द्वारा उसे मंगवाता है तथा सब बातें जान लेने पर शिशु की एक ऊंगली जो मुर्गी ने काट ली थी उसे अपने मुंह में सदा रखकर उसका घाव मिटाता रहता है। युवावस्था आने पर वही पुत्र पिता को कारागार में डालता है और कोड़ों से मरवाता है। ओह! पिता के प्रति पुत्र का स्नेह कहां लुप्त हो जाता है ? सभी पुत्र ऐसे नहीं होते यह तो ममता के त्याग के लिए शास्त्रकार ने उपदेश दिया है। अभयकुमार भी इसी राजा का पुत्र था, वह विनम्री आज्ञाकारी व राजा की आत्मा को संतुष्ट करने वाला था। संतान दोनों तरह की होती हैं लेकिन कोणिक की तरह की अधिक व अभय की तरह की अत्यंत कम होती हैं।

गृहस्थाश्रम में संतान तो प्रायः होती ही है उसे घर से निकालने या छोड़ देने का तात्पर्य नहीं है। तात्पर्य तो यह है कि जो जीव हमारे यहां संतानरूप से आया है उसे हम उत्तम शिक्षा देवें जिससे वह अपना व्यवहार चलाता हुवा भी धर्म की तरफ रुचि वाला होकर आत्म कल्याण को साधे व उत्तरोत्तर मोक्ष की तरफ बढ़े। कितने ही लोग संतान के बिना बेचैन रहकर उसकी प्राप्ति के लिए अनेक उपाय करते हैं। देवी देवताओं की उपासना करते हैं, मंत्र, जंत्र, तावीज आदि कराकर ठगों के चंगुल में भी फंसते हैं। कई लोग एक स्त्री होते हुए भी संतान के लिए फिर विवाह कर जीवन को क्लेशमय बनाते हैं फिर उससे भी संतान नहीं होती है तो दो शोकों के बीच शोकसागर में गोते खाते हैं। वे दोनों स्त्रियां राक्षसियों की तरह से उसका कलेजा खाती रहती हैं।

अतः संतान पर मोह रखकर अपना जीवन निष्फल करने की अपेक्षा संसार का स्वरूप समझकर अपना कर्त्तव्य करते हुए उन्हें बाधक के बजाय साधक बनाना चाहिए तभी हमारा जीवन सार्थक हो सकता है और हमारे यहां जन्मी हुई संतान आते भव में पुण्यानुबंधी पुण्य के द्वारा उत्तरोत्तर मोक्षसाधक बनकर स्वयं का कल्याण करने वाली हो। अतः संतान पर से ममत्व दूर करना चाहिए और आत्म शांति में लगा रहना चाहिए।

इति अपत्य ममत्वमोचनाधिकारः

अथ चतुर्थो धनममत्व

मोचनाधिकारः

इस प्राणी को संसार में घुमाने वाला यदि कोई है तो वह मोह ही है। अनेक प्रकार के मोह में से धन, और स्त्री पुत्र का मोह विशेष कष्टकर है। स्त्री और पुत्र पुत्री संबंधी मोह के पश्चात उनके समान या उनसे भी अधिक प्रबल और अधिक भवभ्रमणकारक जो धन का मोह है वह कैसा है, किसको होता है, कैसे होता है, उसका प्रतिकार क्या है, आदि स्वरूप इस चौथे अध्याय में बताया है।

धन पाप का हेतु है

याः सुखोपकृतिकृत्वधिया त्वं, मेलयन्नसि रमा ममताभाक्।
पाप्मनोऽधिकरणत्वत एता, हेतवो ददति संसृतिपातम् ॥१॥

अर्थ—लक्ष्मी के लोभ में फंसा हुवा तू (स्व) सुख और उपकार की बुद्धि से जो लक्ष्मी प्राप्त कर रहा है वह अधिकरण होने से पाप की ही हेतु भूत है और संसार-भ्रमण को देने वाली है ॥ १ ॥ स्वगतावृत्त

विवेचन—यद्यपि लक्ष्मी प्राप्त करने में हमारी बुद्धि या भावना उपकार करने की नहीं होती है एवं दान देने के लिए भी कमाई नहीं की जाती है, परन्तु फिर भी शास्त्रकार

ने तो उसी हेतु को मानकर ही वर्णन किया है कि जो तू ऊपर की भावना से लक्ष्मी प्राप्त कर रहा है या सुख प्राप्ति के लिए लक्ष्मी का संग्रह कर रहा है वह कर्मादानी, आरंभ समारंभ युक्त होने से तुझे संसार समुद्र में डुबाने वाली एवं भवों में भ्रमण कराने वाली है अतः इसकी ममता छोड़ दे।

मम्मण सेठ की तरह से धन पर ममता रखने से मनुष्य को जीवन भर कष्ट होता है एवं वह धन स्वयं के भी उपयोग में नहीं आता है। वह सेठ तेल और चंवले का भोजन करता था, जंगल में गोबर बीनता था। एक बार चौमासे की घोर अंधेरी मध्य रात्री में वह नदी में से लकड़ी खींच रहा था, श्रेणिक राजा की राणी ने बिजली चमकने से उसे देखकर राजा से उसका दुःख दूर करने को कहा। प्रातः राजा ने उसे इच्छित वस्तु मांगने को कहा तो मम्मण ने कहा कि मुझे एक बैल चाहिए जैसा कि मेरे घर पर है। राजा की गऊशाला के बैल उसने पसंद नहीं किए, अतः विवश होकर राजा अपने पुत्र अभयकुमार के साथ सेठ के घर पर गया। जब वे उसके विशाल भवन में एक के बाद दूसरे कमरे में प्रवेश करते हुए कितने ही कमरों के पश्चात एक सुन्दर खंड में पहुंचे तो राजा की आंखें चौंधिया गईं। वह क्या देखता है कि एक स्वर्ण निर्मित बैल रत्नों से जड़ा हुवा तैयार है जिसके सामने देखा भी नहीं जा सकता है। अत्यंत अमूल्य देदीप्यमान रत्नों की प्रभा उसमें से निकल रही थी जो सूर्यकांति के सदृश थी। एक बैल तो पूरा था ही दूसरा भी सोने का बना हुवा था लेकिन

हीरों की जड़ाई अधूरी थी। ओह ! राजा के आश्चर्य का पार नहीं रहा। वैसा बैल वह दे कहां से ? उसके राज्य भंडार में भी ऐसे कीमती रत्न न थे। देखिए, मम्मण सेठ को वे बैल क्या काम आए।

जगत में राज्य लिप्सा से खून की नदियां बहती हैं, यद्यपि अब मारने के साधनों की एवं युद्धों की रीति में अन्तर पड़ गया है तथापि अणु बम व हाईड्रोजन बम से अल्पकाल में व अल्पप्रयास से अनेकों की हत्या की जा सकती है। ओह ! धन की कामना ने विद्या का उपयोग भी नाश के यंत्र बनाने में किया ! जो विद्या आत्मकल्याण के लिए थी, वह आत्मघातक सिद्ध हो रही है। विज्ञान का तात्पर्य है आत्मा को पहचानकर परमात्मा की तरफ बढ़ना परन्तु हो यह रहा है कि इसके द्वारा जीव को नित्य प्रति विनाश की ओर ले जाया जा रहा है। जगत शांति की अपेक्षा अशांति का अनुभव अधिक कर रहा है। यदि धन की ममता दूर हो जाय तो आज का मानव, दानव से देव बन जाय या कम से कम मानव तो बना रहे।

धन ऐहिक और आमुष्मिक दुःख को करने वाला है

यानि द्विषामप्युपकारकाणि, सर्पोंदुरादिष्वपि यैर्गतिश्च।
शक्या च नापन्मरणामयाद्या, हन्तुं धनेष्वेषु क एव मोहः ॥२॥

अर्थ—जो धन शत्रु का भी उपकार करने वाला हो जाता है, जिस धन के द्वारा सर्प, चूहा आदि में गति होती है, जो धन मृत्यु रोग आदि किसी भी विपत्ति को दूर करने में समर्थ नहीं है, वैसे धन पर मोह क्यों ? ॥ २ ॥ **इंद्रवज्रा**

विवेचन—कभी कभी निर्बल के हाथ में रही हुई तलवार स्वयं उसका ही घात कराती है वैसे ही निर्बल के पास रहा हुवा धन भी स्वयं उसका घात कराता है, नादिरशाह की लूट इसका प्रमाण है। पहले भी परशुरामजी ने पृथ्वी को क्षत्री रहित कर खूब संहार किया परन्तु उसका भोग सूभूम ने किया। प्रति वासुदेव सदा तीन खंड जीतते हैं और भोगने से पहले ही वासुदेव उनका संहार कर तीनों खण्ड छीन लेते हैं और प्रतिवासुदेव की मृत्यु स्वयं उसके ही चक्र द्वारा होती है। नंद राजा की स्वर्ण की पहाड़ी भी उसके काम नहीं आई। सिकन्दर बादशाह ने कहा :—

जे बाहुबल थी मेलव्युं ते भोगवी पण न शक्यो।
अब्जोनीं मिलकत आपतां पण ऐ सिकंदर न बच्यो॥

यह धन किसी को रोग से या मृत्यु से बचा नहीं सकता है अतः इसमें ममता न करो।

धन से सुख की अपेक्षा दुःख ज्यादा होता है

ममत्वमात्रेण मनःप्रसादसुखं धनैरल्पकमल्पकालम्।
आरंभपापैः सुचिरं तु दुःखं, स्याद्दुर्गतौ दारुणमित्यवेहि॥३॥

अर्थ—अहा, यह धन मेरा है, ऐसे विचार मात्र से थोड़े समय के लिए मन में आह्लादरूप सुख होता है परन्तु आरंभ के पाप से दुर्गति में लम्बे समय तक भयंकर दुःख होता है, यह तो तू समझ॥ ३॥ **उपजाति**

विवेचन—तरह तरह के आरंभ सारंभ (पाप कार्यों) से

धन एकत्रित किया जाता है जैसे कि जंगल कटवाना या जलाना, चूना ईंट आदि पकाना, पशु भाड़े देना या तांगे, बैल-गाड़ी रखकर भाड़े पर चलाना, खानें खुदवाना, हाथी दांत का व्यापार, लाख का व्यापार, रस, (घी, दूध, तेल, पतला गुड़ आदि) ऊन एवं विष का व्यापार करना। इनके अतिरिक्त धान्य का संग्रह कर सड़ने पर जन्तुओं सहित धूप में डालना। मशीनरी का कार्य करना, मिलें चलाना, कपास, गन्ने के चर्खिए रखकर व्यवसाय करना आदि पाप के कार्यों से धन संग्रह कर मनुष्य प्रसन्न होता है कि अहा ! मेरे पास इतना धन है लेकिन यह नहीं सोचता है कि मैंने अपने और अपने परिवार के मात्र ५-७ व्यक्तियों के पालन के लिए कितने ही जन्तुओं के प्राण लिए हैं। जिन व्यक्तियों के लिए इतना पाप कर्म करके धन संग्रह किया है उनमें से एक भी उन पापों के फलों को भुगतने के लिए तैयार न होगा, समय आने पर तुझे भी वाल्मीकि के माता पिता की तरह से परिवार के सब लोग नरक के कष्ट भुगतने के लिए मना कर देंगे। अतः तू अकेला पाप करके परिवार को तो थोड़े समय के लिए सुखी करता है परंतु उन कार्यों से अनंत भव तक तुझे दुःख उठाना पड़ेगा यह तू क्यों नहीं जानता है ? दुनिया के वृद्धों से पूछो तो वे यही कहेंगे कि संसार में सुख नहीं है और सुख का मूल यह धन, वास्तव में दुःख का मूल है। धन में अत्यंत व्याधि है संतोष में अत्यन्त सुख है।

क्या धर्म के लिए धन कमाना उचित है ?

द्रव्यस्तवात्मा धनसाधनो न, धर्मोऽपि सारंभतयातिशुद्धः ।
निःसंगतात्मा त्वतिशुद्धियोगान्मुक्तिश्रियं यच्छति तद्भवेपि ।।४।।

अर्थ—धन के साधन से द्रव्यस्तव स्वरूप वाला धर्म साधा जा सकता है, परन्तु वह आरम्भ युक्त होने से अति शुद्ध नहीं है; जब कि निसंगता स्वरूप वाला धर्म अति शुद्ध है और वह उसी भव में मोक्ष भी दे सकता है ।। ४ ।।

इंद्रवज्रा

विवेचन—शास्त्रकार का उपदेश तो यही है कि बने जितनी शीघ्रता से निसंगी (अपरिग्रही-संगत रहित) बन जाओ और भाव स्तव द्वारा अति शुद्ध धर्म का आराधन करो जो इस भव में भी मोक्षमार्ग दिलाने में समर्थ है। यह तो रही निसंगी साधुवर्ग की बात। अब गृहस्थवर्ग के लिए विचारना है कि यदि आपके पास पर्याप्त धन है और विविध प्रकार से पूजा, प्रतिमास्थापन, प्रतिष्ठा, स्वामीवात्सल्य, चैत्य-निर्माण, उपाश्रय बनवाना आदि द्रव्यस्तव आप करते हैं तो यह अति शुद्ध तो नहीं है कारण कि छः काय की हिंसा होती है फिर भी शुद्ध तो है ही क्योंकि इनके द्वारा आप व अन्य जीव धर्म की आराधना करते हैं। अतः जिनके पास द्रव्य है उनको इस तरह से व्यय करना चाहिए। इसका तात्पर्य यह नहीं कि छः काय की हिंसा करके आप द्रव्य कमावें और बाद में उपरोक्त धर्म के कार्यों में लगावें। इन धर्म कार्यों के निमित्त द्रव्योपार्जन करना और कीचड़ में पैर डालकर बाद में धोना

बराबर है। जरा स्पष्ट देखिए कि यदि कोई खूब पाप व्यापार करके धन कमाता है और सोचता है कि यदि धन मिलेगा तो धर्म में लगाऊंगा। मान लो उसे धन तो मिल गया लेकिन उसकी बुद्धि धर्म की तरफ से बदल गई या सांसारिक कई कार्य उपस्थित हो गए या मृत्यु हो गई तो वह कमाया हुआ धन तो धर्म में लगा नहीं लेकिन उसे उपार्जन करते हुए वह पाप तो उसके पल्ले पड़ ही गया अतः शास्त्रकारों ने कहा है कि धर्म के लिए पापकारी धन कमाना अनुचित है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मंदिर, उपासरे ज्ञानशाला बनाने में पाप है। तात्पर्य तो यह है कि **येन केन प्रकारेण** धर्म कमाते हुए यह सोचना कि अभी तो चाहे जैसे धन कमा लें, बाद में धर्म कर लेंगें। यदि द्रव्य है, तो शुभ कामों में लगाना चाहिए। यद्यपि भावस्तव की अपेक्षा यह अति शुद्ध तो नहीं है फिर भी शुद्ध तो है ही चाहे लंबे काल में ही हो मोक्ष देने वाला तो है ही। अतः द्रव्यस्तव की अपेक्षा भावस्तव श्रेष्ठ हैं। गृहस्थ धनवान, सदुपयोग के लिए द्रव्यस्तव करे और भावना सर्व त्याग की रखे व आचरण भी वैसा करे।

मिले हुए धन का खर्च कहाँ करना चाहिए

क्षेत्रवास्तु धनधान्य गवाश्वैर्मेलितैः सनिधिभिस्तनुभाजाम्।
क्लेशपाप नरकाभ्यधिकः स्यात्को गुणो न यदि धर्म नियोगः ॥५॥

अर्थ—खेत (जमीन, खेती) वस्तु (घर आदि वस्तुएं) धन, धान्य, गाय, घोड़े और धन के भंडार जो हे शरीरधारी! तूने प्राप्त किए हैं उनका उपयोग यदि धर्म के लिए नहीं

किया तो क्लेश, पाप और नरक से अधिक और क्या लाभ तुझे होगा ? ॥ ५ ॥ स्वागतावृत्त

विवेचन—पूर्व भव के पुण्य से धनधान्य आदि प्राप्त हुए हों तो उनका सदुपयोग ज्ञानदान, औषधादान, अभयदान, साधर्मी उत्थान, या निराश्रितों को आश्रय देने में, बहिनों को शिक्षित करने में, उद्योग द्वारा आजिवीका दिलाने में, या सत् शास्त्रों के प्रकाशन में या देव संबंध में करना चाहिए, वरना धन आदि के कारण तृष्णा बढ़ेगी फलतः असंतोष तो होगा ही साथ ही कुटुम्ब क्लेश भी होगा और दुर्ध्यान करते हुए मृत्यु होने से दुर्गति निश्चित होगी। अतः पूर्वजों से प्राप्त हुए या स्वयं द्वारा प्राप्त किए गए धन का सदुपयोग करना चाहिए वरना क्लेश, पाप व नरक तो समक्ष हैं ही।

धन से अनेक हानियां—उसके त्याग का उपदेश

आरंभैर्भरितो निमज्जति यतः प्राणी भवांभोनिधा-
वीहंते कुनृपादयश्च पुरुषा येनच्छलाद्बाधितुम् ।
चिंताव्याकुलताकृतेश्च हरते यो धर्मकर्मस्मृतिं,
विज्ञा ! भूरिपरिग्रहं त्यजत तं भोग्यं परैः प्रायशः ॥६॥

अर्थ—आरम्भ के पाप से भारी बना हुआ प्राणी जिस धन के कारण से संसार समुद्र में डूबता है, जिस धन के कारण से कुराजा आदि (अन्यायी राजा, राज्य कर्मचारी) पुरुष, छल के द्वारा उसे बांधना चाहते हैं, बाधा (कष्ट) देना चाहते हैं और जो धन, चिंता व्याकुलता कराता है एवं धर्म कर्म की याद को (धर्म, कर्म के स्मरण को) भुला देता है, या

चुरा लेता है और जो प्रायः अन्य के ही उपभोग में आता है वैसे धन को हे बुद्धिमानो ! आप छोड़ दो ॥ ६ ॥

शार्दूलविक्रीडित

विवेचन—शास्त्रों की परिभाषा में भारी वह है जो पाप कर्मों में रत है व लिप्त है और हल्का वह है जो पापकर्मों में कम लिप्त है या उनको काटने का प्रयत्न कर रहा है। जैसे भारी वस्तु समुद्र में डूब जाती है वैसे ही पापात्मा भी संसार समुद्र में डूब जाता है अर्थात बारंबार अनेक दुर्गतियों में जन्मता रहता है। प्रायः धन कमाने में हिंसा के कार्य करने पड़ते हैं एवं हिंसा ही पाप है, अतः वैसा धनी भारी या पापी हुवा ही, अतः उसका संसार समुद्र में डूबना निश्चित हुवा। संसार में रहते हुए भी अन्यायी राजा या उसके कर्मचारी या चोर धनी का छिद्र देखते रहते हैं और जबरदस्ती से उसका धन छीन लेते हैं। जेब कटे या चोर कंपनियां भी ऐसा ही काम करती हैं। कहा भी है कि "माया को भय है काया को नहीं"। छोटे छोटे बच्चों के गले या हाथों में सोने के ज़ेवर होने से वे मारे जाते हैं यह तो सब ही जानते हैं। इसके अतिरिक्त संग्रह किया हुवा धन दूसरा ही भोगता है जैसा कि निम्न श्लोक से स्पष्ट है—

कीटिका संचितं धान्यं, मक्षिका संचितं मधुः।
कृपणैः संचितं वित्तं, परैरेवोपभुज्यते ॥

कीड़ी द्वारा संग्रह किया गया धान्य, मधुमक्खी द्वारा संग्रह किया गया शहद और कंजूस व्यक्ति द्वारा एकत्रित किया गया धन दूसरों के द्वारा ही भोगा जाता है।

धन को तीन कारणों से छोड़ना चाहिए (१) परभव में दुर्गति (२) इस भव में वर्तमान भय (३) धर्म विमुखता। अब प्रायः राजा नष्ट हो गए और गणतंत्र का शासन है। हम सब देख रहे हैं कि देखते ही देखते कितने कर (टेक्स) सरकार ने लगा दिए हैं। आयकर के अतिरिक्त मृत्युकर व धर्मादा कर भी लागू हो गया है एवं धर्मादे के खर्च भी सरकार की संरक्षिता में करने पड़ेंगे। ऐसी हालत में हे मनुष्यों! क्यों धन का संग्रह व आवश्यकता से अधिक उपार्जन कर भारी बनते हो? सबसे बड़ी हानि जो धन से होती है वह यह है कि सदा सर्वदा इसकी धुन सवार रहने से धर्म कर्म भी याद नहीं आते हैं। एक प्रकार का नशा छाया रहता है और विद्युत् यंत्र के समान आदमी सुबह से रात तक इसी की आराधना में लगा रहता है तब धर्म की याद आ ही नहीं सकती है और बिना धर्म के आत्मा की पहचान हो नहीं सकती है, एवं नरकादि का भय पैदा नहीं हो सकता अतः आत्मा उत्तरोत्तर भारी बनता जाता है व नर्क की तरफ बढ़ता जाता है। परिणामतः जो धन सुख के लिए कमाया था वह दुःख का कारण बन गया।

सात क्षेत्रों में धन लगाने का उपदेश

क्षेत्रेषु नो वपसि यत्सदपि स्वमेत-
द्यातासि तत्परभवे किमिदं गृहीत्वा।
तस्यार्जनादिजनिताघचयार्जितात्ते,
भावी कथं नरकदुःखभराच्च मोक्षः॥ ७॥

अर्थ—तेरे पास धन होते हुए भी यदि तू (सात) क्षेत्र

में नहीं बोता है तो क्या इसे परभव में अपने साथ ले जाएगा ? धन प्राप्त करने आदि से एकत्रित हुए पाप समूह से प्राप्त किए गए नरक के दुःखों से तेरा मोक्ष (छुटकारा) कैसे होगा ? ॥ ७ ॥ वसंततिलका

विवेचन—जैसे उत्तम क्षेत्र में धान्य बोने से अधिक उत्तम उपज होगी वैसे ही धार्मिक दृष्टि से उन सात क्षेत्रों में धन बोने से अर्थात खर्च करने से आत्मिक लाभ होगा धर्म की उपज होगी एवं वास्तविक संतोष प्राप्त होगा। इस भव में बोया हुवा आते भव में मिलेगा। सात क्षेत्र हैं, (१) जिन-मंदिर (२) जिनबिंब (३) जैनआगम (धर्मशास्त्र) (४) साधु (५) साध्वी (६) श्रावक (७) श्राविका। इन सातों में द्रव्य बोने से धर्म की प्राप्ति होगी। आज आवश्यकता है सच्चे धर्म को समझाने वालों की और समझने वालों की। जैनआगमों के प्रति आज उतनी रुचि नहीं है जिसका कारण यह है कि ठीक रीति से शिक्षण नहीं होता है। अतः सातों क्षेत्रों में से श्रावक श्राविका की तरफ विशेष लक्ष देने की आवश्यकता है। जब धर्म के मानने वाले ही गिरी हुई अवस्था में होंगे तो मंदिर व प्रतिमाजी को कौन संभालेगा तथा साधु साध्वी की कौन भक्ति करेगा ? अतः समय को पहचानकर श्रावक श्राविका के उत्कर्ष का प्रयत्न करना चाहिए साथ ही जैन आगमों का हिंदी व अंग्रेजी में, अनुवाद कर सरलभाषा व अल्प मूल्य में प्रकाशन करना चाहिए तब ही जैन धर्म जन धर्म बन सकता है। हे प्राणी ! यदि फिर भी मूढ़ रहकर

धन का सदुपयोग नहीं करता है तो क्या तू समझता है कि आते भव के लिए इसे अपने साथ ले जाएगा ? यह असंभव है। एक तिनका भी साथ नहीं जा सकता अतः धन के मोह को छोड़कर दुःखों से छुटकारा प्राप्त कर। धनममत्व व स्त्री-ममत्व से रहित होकर अपने मोक्ष का उपायकर। यदि अभी धन की तृष्णा नहीं घटाएगा तो तेरी उम्र के साथ ही साथ यह भी बढ़ती जाएगी और तुझे लुब्ध करके नरक में पहुंचा देगी और मोक्ष से दूर फेंक देगी। अतः धन का ममत्व छोड़कर आत्मचिंतन कर।

इति धनममत्व मोचनाधिकारः

अथ पञ्चमो देहममत्व

मोचनाधिकारः

पिछले पाठों से स्पष्ट हो चुका है कि स्त्री, पुत्र और धन का मोह प्राणी के लिए बंधनकर्ता है । इन तीनों तरह के मोह के साथ ही शरीर का मोह भी विचारणीय है । शरीर के मोह में फंसकर अपने कर्त्तव्य से च्युत नहीं होना चाहिए और शरीर को अति कोमल नहीं बनाना चाहिए इस विषय में यह अधिकार लिखा है ।

शरीर को पाप से नहीं पालना चाहिए

पुष्णासि यं देहमघान्यचिंतयंस्तवोपकारं कमयं विधास्यति ।
कर्माणि कुर्वन्निति चिंतयायतिं, जगत्ययं वंचयते हि धूर्त्तराट् ॥१॥

अर्थ—पाप का विचार नहीं करता हुवा जो तू शरीर का पोषण करता है वह शरीर तेरा क्या उपकार करेगा ? अतः उस शरीर के लिए हिंसादि कर्म करते हुए, आते हुए काल का (भविष्य का) विचार कर । यह शरीर रूपी धूर्त, प्राणी को संसार में ठगता है ॥ १ ॥ वंशस्थ

विवेचन—शरीर और आत्मा अलग अलग वस्तुएं हैं । आत्मा का स्वभाव अजर, अमर, सत्, चित्, आनंद है जब

कि शरीर का स्वभाव नाशवान है, तो फिर इस शरीर के पोषण के लिए क्यों तू अत्यंत असावधान होकर पाप, पुण्य का विचार न करता हुवा, तन्मय (शरीरमय) होकर झूठे आनंद में विभोर रहता है। रात दिन इसका और इसके उपयोगी धन, मकान, खेती, वाणिज्य का विचार करता रहता है। हे बुद्धिमान सच्चिदानंद आत्मा ! तू इस धूर्त से दूर रह। यह जिन वस्तुओं में मोह करता है वे सब इसके सजातीय हैं, जाति से जाति को प्रेम होता ही है (वे भी नाशवान हैं यह भी नाशवान है) हे प्राणी ! तू आते कल (दिन) या आते काल (मृत्यु) का विचार कर और इससे सावधान हो जा। इससे तेरा उपकार कुछ नहीं होने वाला है। विपरीत इसके कि तू इसके वश में रहकर प्रमादी, हिंसक, पापी बना हुवा होने से संसारचक्र में फिरता रहेगा। यदि तू इसको अपने वश में कर लेता है तो यह शक्तिशाली इंजिन की तरह से काम कर सकता है। तुझे मोक्ष तक पहुंचा सकता है, वरना शरीर के मोह में फंसने से तेरी वही गति होगी जो सनत-कुमार चक्रवर्ती की या त्रिशंकु की हुई। पहले को शरीर पर बहुत मोह था जिसकी पराकाष्ठा होने पर वह शरीर विषमय बन गया—दूसरा अपने उसी शरीर द्वारा स्वर्ग में जाना चाहता था। विश्वामित्र की सहायता से वह स्वर्ग के कोट तक पहुंचा परन्तु इंद्र ने उसे ऊंधे मुख पछाड़ा, परिणामतः वह बीच में ही लटकता रहा।

शरीर रूपी कारा गृह से छूटने का उपदेश

कारागृहाद्बहुविधाशुचितादिदुःखा-
न्निर्गंतुमिच्छति जडोपि हि तद्विभिद्य ।
क्षिप्तस्ततोऽधिकतरे वपुषि स्वकर्म-
व्रातेन तद्दृढयितुं यतसे किमात्मन् ॥२॥

अर्थ—मूर्ख प्राणी भी अनेक अशुचि आदि दुःखों से भरे हुए कैदखाने को तोड़कर बाहर निकलने की इच्छा करता है। तो फिर हे आत्मा, तेरे अपने ही कर्मों द्वारा उससे भी अधिक मजबूत, शरीररूपी कैदखाने में फंसा हुवा होते हुए भी उस को अधिक मजबूत करने का उपाय तू क्यों कर रहा है ? ॥२॥

वसंततिलका

विवेचन—संसार के कानून का भंग करने वाले को या हत्या, चोरी, काला बाजार करने वाले को कैद की सजा मिलती है। वह कैद अत्यंत कष्टकर, गंदी, संकड़ी, अंधकार युक्त होती है। उसमें से निकल भागने के लिए वह कैदी उस जेल को तोड़ने का प्रयत्न करता है, चाहे वह मूर्ख ही क्यों न हो। इसी तरह से प्रकृति के नियम भंग करने से मनुष्य रोगी बनता है और रोगरूप जेल में पड़ा रहता है। सबसे बड़ी और अवश्य भोग्य जेल जो कर्मों की है, उसमें प्राणी स्वयं बंधता जाता है और अनेक बंधनों को मजबूत करता जाता है इन कर्मों के कारण ही उसे देह प्राप्त होती है और उस देह के कारण ही वह फिर नई देह का निर्माण करता है और उत्तरोत्तर मानव से गिरकर पशु, पक्षी, कीट,

पतंग, वृक्ष, घास पात तक पहुंच जाता है। एक बार पतन हुवा कि फिर तो ऊंचा आना ही कठिन हो जाता है। इस तरह शरीर का कैदखाना मजबूत हो गया और ज्ञान दशा से अज्ञान दशा में पहुंच गया। अतः इस शरीर से सत्कर्म करके जन्म मरण की शृंखला को तोड़ना ही श्रेयस्कर है। जैसे कैदखाने में से निकलने के लिए तोता, मैना छटपटाते हैं वैसे ही हमें भी पुनर्जन्म को दूर करने के लिए और परमात्म पद पाने के लिये छटपटाना चाहिए तभी यह शरीररूपी कैद जो मलमूत्र का धाम, अज्ञान रूप अंधकार का निवास व जन्म जरा मृत्यु का कारण है, छूट सकेगी। हे भाई ! कई भवों से इसमें बंधा हुवा तू मानव भव को पाया है और तुझे आत्मा परमात्मा के विषय में सोचने का अवसर मिला है यदि फिर भी यश, कीर्ति, धन, स्त्री, पुत्र व परिवार के मोह में पड़कर अपना भान भूल गया और इस शरीर को ही सर्वस्व मानता रहा तो फिर इस शरीररूपी जेल से तेरा छुटकारा होना नितांत कठिन हो जायगा।

शरीर से करने योग्य कर्त्तव्य की प्रेरणा

चेद्वांछसीदमवितुं परलोकदुःख-
भीत्या ततो न कुरुषे किमु पुण्यमेव।
शक्यं न रक्षितुमिदं हि च दुःखभीतिः,
पुण्यं विना क्षयमुपैति न वज्रिणोपि ॥३॥

अर्थ—यदि तू अपने शरीर को परलोक में होने वाले दुःखों के भय से बचाना चाहता हो तो पुण्य क्यों नहीं करता

है ? यह शरीर किसी के द्वारा बचाया नहीं जा सकता है; इंद्र जैसे समर्थ का भी दुःख-भय पुण्य बिना नष्ट नहीं होता है ।। ३ ।। वसंततिलका

विवेचन—यदि इस भव में दुःखी या मरे हुए मनुष्यों को या काटे जाने वाले पशुओं को या शिकारी द्वारा मारे गये पशु पक्षियों को देखकर तुझे भय उत्पन्न होता है कि अगले जन्म में कहीं मेरी भी यह दशा न हो जाय, या शास्त्रों में नरकों का वर्णन पढ़ते हुए अथवा सिनेमा में दुखांत दृश्य देखते हुए भय उत्पन्न होता हो तो उन दुःखों से बचने के लिए हे प्राणी तू धर्म क्यों नहीं करता है ? किए हुए कर्मों के फल को भुगतने से कोई नहीं बचा सकता है, न इस शरीर को कोई सदा सर्वदा टिकाये रख सकता है, न कोई निर्भय बनाने में समर्थ है । पुण्य का फल भुगत चुकने पर अर्थात पुण्य क्षीण होने पर देवेंद्र को भी अपना आसन छोड़कर अन्य गति में जाना पड़ता है । वह भी अपने आसन के छीनने के डर से तपस्वियों को तप-संयम से गिराने की कोशिश करता रहता है जैसा कि विश्वामित्र ऋषि के साथ किया । अतः यदि तू आते भव में सद गति पाना चाहता है तो पुण्य कर जिससे संसार का भय धीरे धीरे नष्ट हो जायगा ।

देह के आश्रित रहने से दुःख, निरालंब रहने से सुख

देहे विमुह्य कुरुषे किमघं न वेत्सि,
देहस्थ एव भजसे भवदुःखजालम् ।
लोहाश्रितो हि सहते घनघातमग्नि-
र्बाधा न तेऽस्य च नभोवदनाश्रयत्वे ।। ४ ।।

अर्थ—शरीर पर मोह करके तू पाप करता है, परन्तु तुझे मालूम क्यों नहीं है कि तू शरीर में रहा हुवा है इसीलिए संसार के दुःख जाल में फंसा हुवा है। जैसे लोह में रहते हुए ही अग्नि, घण (हथोड़ा-एरण) की चोट सहती है। अतः जब तू आकाश की तरह से निरालंबन (आलंबन रहित-निर आश्रय) स्वीकार करेगा तब तुझे भी कोई पीड़ा नहीं होगी जैसे कि अग्नि से मुक्त लोह को चोट नहीं लगती है ॥ ४ ॥

वसंततिलका

विवेचन—जैसे अकेली पड़ी हुई सुशील युवा स्त्री अपने सौंदर्य के कारण गुण्डों के चंगुल में फंसने का भय रखती है लेकिन एक युवा कुरूप स्त्री को इसका रंचमात्र भी भय नहीं होता। दोनों की युवावस्था होते हुए भी रूप के कारण से ही भय रहता है। वैसे ही हे आत्मा! तू रूप या शरीर में रहा हुवा है इसीलिए संसार का भय बना हुवा है। जब तू शरीर से मुक्त हो जाएगा तो कोई भय नहीं रहेगा। जैसे जंगल के रास्ते में जाते हुए अकेले धनवान को अपने धन व गहनों का भय रहता है लेकिन अकेले भिखारी को उसी रास्ते जाते हुए कोई भय नहीं रहता है। डर माया को है काया को नहीं है, यह लौकिक उक्ति है उसी तरह से देहातीत को कोई भय नहीं है। देह के संग से सब तरह का कष्ट व भय है अतः विदेह बनो।

जीव और सूरिजी की बातचीत

दुष्टः कर्मविपाकभूपतिवशः कायाव्हयः कर्मकृत्,
बद्ध्वा कर्मगुणैर्हृषिकचषकैः पीतप्रमादासवम् ।
कृत्वा नारकचारकापदुचितं त्वां प्राप्य चाशुच्छलं
गंतेति स्वहिताय संयमभरं तं वाहयाल्पं ददत् ।। ५ ।।

अर्थ—शरीर नाम का नौकर; कर्म विपाक नामक राजा का दुष्ट सेवक है, वह तुझे कर्मरूपी रस्सी से बांधकर इन्द्रिय रूपी जाम (शराब के पात्र) द्वारा प्रमाद रूप मदिरा पिलाएगा। इस तरह से तुझे नरक के दुःख सहने का पात्र बनाकर वह कोई बहाना बनाकर भाग जाएगा; अतः तेरे स्वयं के हित के लिए उस शरीर को अल्प-अल्प मात्रा (आहार) देकर संयम के भार को तू सहन कर ।। ५ ।।

शार्दूलविक्रीडित

विवेचन—एक कर्म विपाक नामक राजा, चतुर्गति नामा नगरी में राज्य करता है। इस राजा के अनेक सेवक हैं उनमें से शरीर भी एक सेवक है। राजा प्रतिदिन कचहरी भरता है, उसे एक दिन इस जीव की याद आ गई और उसने अपने सेवकों को आज्ञा दी कि जीव को जेल में डाल दो, नहीं तो शायद वह मोक्ष नगर में चला जाएगा जहां मेरी पहुंच भी नहीं है। शरीर नामक सेवक ने तैयार होकर राजा से कहा कि जीव को काबू में करने के लिए रस्सी की आवश्यकता पड़ेगी। राजा कर्म विपाक ने कहा कि "अरे शरीर ! तू क्यों घबराता है ? अपनी आयुधशाला में कर्म

नाम के हजारों पाश (बंधन) हैं, तुझे जरूरत हो जितने ले जा। सिर्फ तू इस जीव से सावधान रहना नहीं तो तुझे मुँह की खानी पड़ेगी यह तुझे परास्त कर देगा।" फिर वापस शरीर को स्मरण हुवा कि काम तो कठिन है अतः राजा से निवेदन किया कि, "महाराज ! इस जीव में तो अनंत शक्ति है वह मुझे मारकर भगा सकता है, अतः कोई ऐसी वस्तु दीजिए कि जिसके नशे में वह पड़ा रहे और वह नशा इतना तेज़ हो कि उसे यह भी याद न रहे कि उसमें कोई शक्ति है अर्थात उसे शक्ति का भान ही न हो। शरीर के इस निवेदन पर बहुत विचार करने के पश्चात राजा ने उसे मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा ये पांच प्रमादरूप आसव (शराब) दिए और सूचना दी कि इन्द्रियरूपी प्यालों में यह आसव भरकर जीव को पिलाया करना।

शरीर ने अपने राजा की आज्ञा का तुरंत पालन किया। शराब के नशे में चूर (प्रमत्त) हुए जीव को कृत्याकृत्य का भी विवेक न रहा; और जब शरीर को निश्चय हो गया कि यह जीव अब मोक्ष में नहीं जाएगा वरन नरक में जाएगा तब वह अपने काम में विजय मानकर जीव को वहीं छोड़कर चले जाने का विचार करता है तभी अकस्मात गुरु महाराज (मुनिसुन्दर सूरिजी) इस जीव को मिलते हैं। कैदखाने में शराबी की दशा में पड़े हुए इस जीव को देखकर उनको बहुत दया आई, अतः उन्होंने उस जीव को जेलखाने का स्वरूप समझाया और पीछे कहा कि, "हे भाई ! इस

कैदखाने में से अभी भी तू निकल जा। यह शरीररूपी जेलर जरा लोभी है अतः तू उसे थोड़ा थोड़ा भोजन दिया कर एवं मोक्ष का साधन भी उसके ही द्वारा तैयार कर और पांचों इन्द्रियों पर संयम रख, एवं पांच प्रमाद रूपी शराब का कभी सेवन न कर, यह युक्ति करना (जिससे तू शरीररूपी कैद से छूट जाएगा)।

मुनिसुन्दरसूरिजी महाराजा के इस उपदेश पर अभी वह जीव विचार कर रहा है। उपदेश के अनुसार चलने की उसे अत्यंत आवश्यकता है। मधुबिंदु का दृष्टान्त भी इसी तरह का है।

शरीर की अशुचि, स्वहित ग्रहण

यतः शुचीन्यप्यशुचीभवन्ति, कृम्याकुलात्काकशुनादिभक्ष्यात्।
द्राग्भाविनो भस्मतया ततोंऽगात्मांसादिपिंडात् स्वहितं गृहाण ।६।

अर्थ—जिस शरीर के संबंध से पवित्र वस्तुएं भी अपवित्र हो जाती हैं, जो कृमि (कीटाणु) से भरा हुवा है, जो कव्वे व कुत्तों के भक्षण के योग्य है, जो थोड़े समय में राख हो जाने वाला है और जो मांस का ही पिंड है उस शरीर से तू तो अपना हितकर ।। ६ ।। **उपजाति**

विवेचन—इस शरीर को केसर कस्तूरी मिश्रित दूध पिलाओ तो मूत्र बन जाता है, सुगंधित मेवायुक्त पकवान खिलाओ तो विष्टा बन जाता है, सुन्दर कोमती वस्त्र पहनाओ तो वे पसीने से दुर्गन्ध वाले बन जाते हैं, इसके संपर्क में आने

से यह गति उन पदार्थों की हो जाती है। कृमि से भरे हुए हैं एवं घृणित होने से कव्वे कुत्तों के खाने के योग्य इस मानव शरीर की कोई वस्तु काम में नहीं आ सकती है जब कि पशुओं की चमड़ी, हड्डी, सींग, चरबी, बाल और यहां तक कि मलमूत्र भी काम में आता है। मानव शरीर का कोई भी भाग काम में नहीं आता है। यदि मुर्दा थोड़े समय तक पड़ा रह जाता है तो दुर्गन्ध आने लगती है व कीड़े पड़ जाते हैं, रूप विकराल हो जाता है जिसे देखते ही भय लगता है। नीतिकार ने एक मनुष्य के कलेवर को जो जंगल में पड़ा था उसे खाने के लिए उद्यत हुए एक सियार को मना किया है:—

हस्तौ दान विवर्जितौ श्रुति पटौ सारस्वत द्रोहिणौ।
नेत्रे साधु विलोकनेन रहिते पादं न तीर्थं गतौ॥
अन्यायार्जित वित्त पूर्ण मुदरं गर्वेण तुंगं शिरौ।
रे! रे! जंबुक मुंच मुंच सहसा नीचं सुनिद्यं वपुः॥

अर्थात—अरे लोमड़ी तू इस शरीर को छोड़ दे, मत खा। इसके शरीर का कोई भी भाग खाने योग्य नहीं है क्योंकि हाथों ने दान नहीं दिया, कानों में विद्या या शास्त्र के शब्द नहीं पड़े, आँखें संतों के दर्शन से रहित हैं, पैर कभी तीर्थ यात्रा में नहीं गए, अतः ये सब अपवित्र हैं ही। यदि तू पेट खाना चाहता है तो यह तो अन्याय से कमाए हुए धन से भरा गया है और सिर भी अभिमान के मारे ऊंचा रहा है। अरे सियार जल्दी से इस सारे अपवित्र शरीर को छोड़ दे यह नीच और निंदा के योग्य है।

शरीर-घर को किराया और उसका उपयोग

परोपकारोस्ति तपो जपो वा, विनश्वराद्यस्य फलं न देहात् ।
सभाटकादल्पदिनाप्तगेहमृत्पिंडमूढः फलमश्नुते किम् ।। ७ ।।

अर्थ- जिस नाशवान शरीर से परोपकार, तप, जप आदि फल नहीं होते, वैसे शरीर वाला प्राणी थोड़े दिन के लिए किराए पर रखे हुए भाड़े के घर रूप मिट्टी के पिण्ड पर मोह करके क्या फल प्राप्त करेगा ? ।। ७ ।। **उपजाति**

विवेचन—जैसे किराये पर लिया हुआ घर अपना नहीं होता है वैसे ही अन्नपान आदि के किराये पर टिका हुवा यह शरीर भी अपना नहीं है अतः इस शरीर से सत्कर्म रूप फल ले लेना चाहिए। शरीर पर ममता रखकर उसे आराम से रखा जाय, विविध पकवान खिलाए जाएं, बंगले में निवास हो, मोटर में घुमाया जाय फिर भी यह स्वार्थी तो अपना स्वभाव नहीं छोड़ता है और प्रमाद आदि के द्वारा आत्मा को गढ़े में ले ही जाता है अतः मांस के पिंडरूप इस नाशवान शरीर पर मोह करने से कोई लाभ नहीं होगा। जैसे—रेल या मोटर का टिकट पूरा होते ही भाड़े के डब्बे को खाली करना पड़ता है और उसका मोह छोड़ते हुए हमें खेद नहीं होता है वैसे ही आयुष्य पूर्ण होने पर शरीर को भी छोड़ना पड़ेगा अतः इस पर भी मोह नहीं करना चाहिए। अनंत काल से इस पर मोह रहा है इसीलिए प्राणी भवकूप में पड़ते हैं। प्रभु महावीर ने नयसार के भव से लेकर अंतिम भव तक उत्तरोत्तर इस शरीर का सदुपयोग कर मोक्ष प्राप्त किया

वैसे ही हमें भी उत्तम फल (मोक्ष) प्राप्त करना चाहिए। इसके बारे में कई विचारनीय प्रश्न हैं, शरीर को क्यों टिकाये रखना, उसका पालन पोषण कब करना, क्यों करना, किस लिए करना आदि। इनका उत्तर ऊपर लिखे अनुसार विचार कर मनन करना चाहिए।

शरीर से साधा जां सकने वाला आत्म हित

मृत्पिडरूपेण विनश्वरेण, जुगुप्सनीयेन गदालयेन।
देहेन चेदात्महितं सुसाधं, धर्मान्नकिं तद्यतसेऽत्र मूढ ॥८॥

अर्थ—मिट्टी के पिंड रूप, नाशवंत, दुर्गन्ध और रोग के धाम स्वरूप इस शरीर द्वारा जब धर्म करके तू अपना हित अच्छी तरह से कर सकता है तो फिर हे मूढ़! उसके लिए प्रयत्न क्यों नहीं करता है? ॥ ८ ॥

विवेचन—तुच्छ व घृणित वस्तु में भी यदि कुछ उपयोग का गुण होता है तो हमें उसकी कदर करनी पड़ती है, उसे संभाल कर रखनी पड़ती है वैसे ही ऊपर के अवगुण वाले इस शरीर का उपयोग हम चाहें तो उत्तम रीति से कर सकते हैं क्योंकि मानव शरीर ही एक ऐसा शरीर है जिसके द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। देव, तिर्यंच, या नरक के जोव मोक्ष नहीं पा सकते हैं अतः इस निर्गुणी से भी अपना हित साधन करना चाहिए अर्थात धर्म करके मोक्ष प्राप्त करना चाहिए।

इस अध्याय का सार निम्न प्रकार से है:—

(१) शरीर का पोषण करना. कृतघ्न पर उपकार करने के तुल्य है।

(२) शरीर तेरा स्वयं का नहीं है, परन्तु मोह राजा द्वारा बनाया गया कैदखाना है।

(३) शरीर तेरी नौकरी में नहीं है, वह तो मोह राजा की सेवा में तत्पर है।

(४) शरीररूपी जेल में से मुक्त होने के लिए तुझे असाधारण पुरुषार्थ करना चाहिए।

(५) शरीररूपी जेल में से छूटने का उपाय, पुण्य प्रकृति का संचय करना है।

(६) शरीर की टापटीप (संभाल) कम करना चाहिए और इंद्रियों का संयम अधिक करना चाहिए।

(७) शरीर से आत्म हित साधने के लिए धर्मध्यान करना चाहिए।

(८) शरीर को भाड़े की झोंपड़ी मानना चाहिए।

(९) शरीर छोड़ते हुए जरा भी खेद न हो, ऐसी वृत्तियें कर देनी चाहिए।

(१०) शरीर की अशुचि पर विचार करना चाहिए।

हे देहमय प्राणी ! तू अपना और देह का स्वभाव पहचान, इस थोड़े से काल के लिए मिले हुए उत्तम सामग्री युक्त शरीर से सबसे उत्तम कार्य अर्थात धर्म साधन कर, उत्तम फल, ध्येय रूप मोक्ष प्राप्ति कर ले वरना पछताएगा।

इति देहममत्व मोचन नामः पंचमाधिकारः

अथ षष्ठः विषय प्रमाद

त्यागाधिकारः

ममत्व के मुख्य कारणभूत स्त्री, धन, पुत्र और शरीर का विचार करने के पश्चात प्रमाद त्याग का विचार किया जाता है। ऊपर के चार बाह्य ममत्व के साधन हैं अब आंतरिक ममत्व के त्याग का उपदेश शास्त्रकार देते हैं। प्रमाद का सामान्य अर्थ आलस्य होता है लेकिन जैनशास्त्रों में उसका विशेष अर्थ किया जाता है। प्रमाद के पांच भेद हैं (१) मद (आठ प्रकार का—तप, श्रुत, बल, ऐश्वर्य, जाति, कुल, लाभ रूप) (२) विषय (पांचों इन्द्रियों के २३ विषय) (३) कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) (४) विकथा (राज्यकथा, देशकथा, स्त्रीकथा, भोजनकथा) (५) निद्रा (निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला प्रचला, स्त्यानर्द्धि)। प्रमाद के दूसरी तरह से आठ भेद भी जिनेश्वर ने त्यागने योग्य बताए हैं। वे हैं— अज्ञान, असंयम, मिथ्याज्ञान, राग, द्वेष, मतिभ्रंश, धर्म का अनादर, योगों का (मन वचन, काय) दुःप्रणिधान।

विषय सेवन से होने वाले सुख-दुःख की तुलना

अत्यल्पकल्पितसुखाय किमिंद्रियार्थै
स्त्वं मुह्यसि प्रतिपदं प्रचुरप्रमादः।
एते क्षिपन्ति गहने भवभीमकक्षे,
जंतून्न यत्र सुलभा शिवमार्गदृष्टिः ॥१॥

अर्थ—बहुत ही कम और वह भी (कल्पित) माने हुए सुख के लिए तू प्रमादी बनकर बार बार इन्द्रियों के विषय में क्यों मोह करता है ? ये विषय प्राणी को संसार रूपी भयंकर गहन वन में फेंक देते हैं, जहां से उसे मोक्ष मार्ग का दर्शन दुर्लभ हो जाता है ॥ १ ॥ **वसंततिलका**

विवेचन—हे जीव ! तू ने स्वादिष्ट पदार्थ खाये, संभोग किये, मधुर गायन सुने, यह सब कितने काल तक सुख देने वाले रहे ? भोजन पचा और विष्टा बना, संभोग के पश्चात निर्बलता तथा घृणा आई गायन के पश्चात कर्कश वचन श्रवण ऐसे इंद्रिय जनित सुख नष्ट हुवा। इन अल्प सुखों में मस्त रहा हुवा तू ऐसे गहरे खड्डे में गिरेगा कि जहां से मोक्ष का मार्ग भी नजर न आएगा अर्थात पशु पक्षी या नारकी जीव बनेगा, वहां धर्म की बात ही कहां रही ? जब समझ शक्ति ही नहीं है तो धर्म की बात ही कहां से हो। अतः एकांत निर्जन वन में बैठकर शान्ति से, मन को वश में करके भगवान का भजन करना चाहिए।

परिणामतः हानिकारक विषय

आपातरम्ये परिणामदुःखे, सुखे कथं वैषयिके रतोऽसि।
जडोऽपि कार्यं रचयन् हितार्थी, करोति विद्वन् यदुदर्कतर्कम् ॥२॥

अर्थ—केवल भोगते हुए ही सुन्दर लगने वाले और परिणाम में दुःख देने वाले विषयों में तू क्यों आसक्त हुवा है ? हे विद्वान ! अपना हित चाहने वाला मूर्ख मनुष्य भी काम के परिणाम को तो सोचता है ॥ २ ॥ **उपजाति**

विवेचन—बिना पढ़ा या गंवार मनुष्य भी अपने प्रत्येक व्यापार (काम) का परिणाम अवश्य सोचता है फिर तेरे जैसा पढ़ा लिखा मनुष्य बिना परिणाम जाने ही विषय सेवन करता रहता है यह क्या उचित है ? तुझे मधुबिंदु का दृष्टांत सोचना चाहिए। एक मनुष्य जंगल में भटकता है अचानक एक जंगली हाथी की नजर उस पर पड़ जाती है। यह मनुष्य दौड़कर एक वटवृक्ष को ऊंची डाल से लटक जाता है। उसी डाली पर उसके सिर पर शहद की मक्खियों का छत्ता है जहां से शहद उसके मुख में टपकता है। उसकी आंखें उस डाली को देखती है जहां दो चूहे (सफेद और काला) उसी डाली को काट रहे हैं। एक बार उसने नीचे भी देखा और कांप गया क्योंकि ठीक उसके नीचे कुंए में एक अजगर और चार सांप मुँह फाड़े उसके गिरने की इन्तजार कर रहे हैं। वह हाथी भी यहां आ पहुंचा था और वृक्ष को उखाड़ने की कोशिश कर रहा था। कितनी भयंकर स्थिति थी उसकी !! हाथ थक गए थे, अतः गिरने का डर था ही और गिरगा भी सांपों के मुँह में। ऊपर से डाली भी कट रही थो, उधर हाथो जोर लगा हो रहा था। इसी समय दो देवी देवता विमान द्वारा आते हैं और उसे अपने विमान में बैठाने के लिए हाथ बढ़ाते हैं, लेकिन वह मूर्ख शहद की बूंद के स्वाद में क्या कहता है, "जरा ठहरो एक बूंद और चखने दो", देव ठहर गए, फिर कहा तो फिर भी उसने वही जवाब दिया देव चले गये। हाय अभागे तेरी मौत निश्चित है। इस दृष्टांत में वह मनुष्य जीव ही है, हाथी यमराज है, वृक्ष संसार

वृक्ष है, चूहे दिन व रात हैं जो आयुडाल को काट रहे हैं, कुंवा भव कूप है, चारों सांप चारों गति हैं, अजगर निगोदावस्था है, देव देवी सद् गुरू हैं, मधुबिंदु संसार के काम भोग हैं जिनके स्वाद से धर्म की तरफ रुचि ही नहीं होती है।

हे विद्वान भाई! यह कीमती दुर्लभ मानव जीवन इन्द्रियों के सुख के लिए मत गंवा। विषयों पर काबू करके आत्महित कर ले। एक बार मानव भव गया कि गया। जैसे समुद्र में गिरी हुई हीरे की अंगुठी फिर नहीं मिल सकती है वैसे ही हारा हुवा मानव भव फिर नहीं मिल सकेगा।

मोक्ष सुख और संसार सुख

यदिंद्रियार्थैरिह शर्म बिंदवद्यदर्णवत्स्वः शिवगं परत्र च।
तयोर्मिथः सप्रतिपक्षता कृतिन्, विशेषदृष्ट्यान्यतरद् गृहाण तत् ३

अर्थ—इंन्द्रियों से इस संसार में जो सुख होता है वह बिंदु जितना है और (इनके त्याग से) परलोक में जो स्वर्ग और मोक्ष का सुख होता है वह समुद्र जितना है; इन दोनों सुखों में पारस्परिक शत्रुता है। अतः हे भाई! इन दोनों में से एक को अच्छी तरह से विचार कर ग्रहण कर॥ ३॥

वंशस्थ

विवेचन—जैसे किसी मेले में कई दुकानों पर कई तरह के माल दिखाए जाते हैं और ग्राहक पसंद कर उन्हें खरीदता है, माल का अच्छा या बुरा निकलना उसकी परख बुद्धि पर निर्भर है, उसी तरह से शास्त्रकार ने संसार सुख और मोक्ष-सुख दोनों ही बता दिए हैं। हे भाई तू दोनों में से एक को पसंद

कर ले परन्तु पहले ठण्डे दिमाग से सोच जरूर लेना; करना अपनी इच्छा के अनुसार ही। मृग तृष्णा से दुःखी होना चाहता है तो संसार सुख अपना, वास्तविक सुख चाहता है तो मोक्ष मार्ग ग्रहण कर। पहला अंधेरा है और दूसरा प्रकाश है। पहला रात है तो दूसरा दिन है।

दुःख होने के कारणों का निश्चय कर

भुंक्ते कथं नारकातिर्यगादिदुःखानि देहीत्यवधेहि शास्त्रैः।
निवर्तते ते विषयेषु तृष्णा, बिभेषि पापप्रचयाच्च येन ॥ ४ ॥

अर्थ—यह जीव नरक, तिर्यंच आदि के दुःख क्यों पाता है यह शास्त्रों से जान ले, जिससे विषयों पर तेरी तृष्णा कम होगी और पाप इकट्ठा करते हुए तुझे भय लगेगा ॥४॥

उपजाति

विवेचन—भय उसी वक्त लगता है जब कि विपरीत दशा का विचार होता है। कर्मों के कारण संसार में संतप्त प्राणियों को हम देखते हैं या जब हमारे छुपे हुए पाप प्रगट होते हैं, या अदालत-जेल, अपयश, निंदा या अपमान सामने नजर आते हैं या जन्मांध, दरिद्र, भिक्षु, या कोढ़ी को देखकर करुणा उत्पन्न होती हो साथ ही यदि उस दशा को प्राप्त होने के कारणों का विचार होता हो एवं उन्हीं सब कामों को करके हम वैसा बनने की तैयारी करते हुए पाए जाते हों तो भय उत्पन्न होता है। इस प्रकार का भय उत्पन्न होने से ही नरकादि के दुःख के कारणों का विचार होगा और शास्त्र पढ़ने की रुचि पैदा होगी और विषयों पर तृष्णा कम होगी।

इसी विषय पर अधिक विचार

गर्भवासनरकादिवेदनाः, पश्यतोऽनवरतं श्रुतेक्षणैः ।
नो कषायविषयेषु मानसं, श्लिष्यते बुध विचिंतयेति ताः ॥५॥

अर्थ—हे बुद्धिमान ! ज्ञान चक्षु से गर्भावस्था तथा नरकादि की पीड़ा को बार बार देख लेने के बाद तेरा मन विषय कषाय पर नहीं लगेगा, अतः तू इसका उपयुक्त विचार कर ॥ ५ ॥

विवेचन—ज्ञान नयन खुल जाने के बाद योग्यायोग्य का भान होता है अतः बुद्धिमान वह है जो बार बार सत् शास्त्रों का अभ्यास करके ज्ञान नयनों द्वारा गर्भावस्था तथा नरकावस्था के दुःखों को जान लेता है बाद में वह उस दुःखद अवस्था से बचने का प्रयत्न करता है ।

केले के गर्भ जैसे कोमल एवं अत्यंत सुखी किसी जीव के प्रत्येक रोम में यदि कोई लोहे की गर्म सुई चुभावे, इससे जो उसे दुःख होता है उससे आठ गुणा दुःख प्राणी को गर्भ में हमेशा होता रहता है और जन्मते समय उससे भी अनंत गुणा अधिक दुःख होता है ।

नरक में प्राणी को अत्यंत क्षुधा, तृषा, शीतलता, उष्णता, पारस्परिक कलह, परमाधामी देवों की मार आदि दुःख चिरकाल तक सहना पड़ता है ।

तिर्यंचपने में (पशु पक्षी योनि में) नासिका छेदन, भार वहन, प्रहार, क्षुधा, तृषा, पराधीनता, रोगयुक्त होने पर भी

अविश्राम, भार वहन, कटे हुए, गले हुए अंगों में कीटाणु उत्पत्ति, अचिकित्सा, मानव का निर्दयपन, वृद्धावस्था में निराश्रय, गृहानिष्कासन आदि सहना पड़ता है।

मानव दशा में व्याधि, वृद्धावस्था, दुर्जन मनुष्य का संसर्ग, दुष्ट का प्रकोप, इष्ट-वियोग, अनिष्ट-योग, धन हरण, स्वजनमरण, परवशता, कामनाओं की अतृप्ति आदि सहना पड़ता है।

देव गति में. इंद्र का आज्ञा पालन, ईर्षा, आयु क्षीण जानकर रुदन, क्रंदन, एवं अन्य गति में जाने की चिंता आदि सहना पड़ता है।

इन चारो गतियों के व गर्भावस्था के दुःखों को जानने के बाद भी जो प्रमादादि द्वारा शुभ कार्य नहीं करता है उसकी दशा उस बैलगाड़े वाले की तरह होती है जो अपने गाड़े के पैयों, धुरी, बैल आदि को न संभालता हुवा केवल भाड़े के लोभ से गाड़े को हांकता रहता है और बीच जंगल में धुरी टूटने से रोता है, जहां कोई उपाय नहीं है। अतः विषय त्याग कर आत्म हित करना श्रेष्ठ है, वरना उस गाड़े वाले की तरह का अरण्य रुदन निरर्थक जाएगा।

मृत्यु-भय, प्रमाद त्याग

वध्यस्य चौरस्य यथा पशोर्वा, संप्राप्यमाणस्य पदं वधस्य।
शनैः शनैरेति मृतिः समीपं, तथाखिलस्येति कथं प्रमादः ॥६॥

अर्थ—जैसे फांसी की सजा पायें हुए चोर की, अथवा वधस्थल पर ले जाते हुए पशु की मृत्यु, धीरे धीरे नजदीक

आती जाती है, उसी प्रकार से सबकी मृत्यु नजदीक आती जा रही है तो फिर प्रमाद क्यों ? ॥ ६ ॥ उपजाति

विवेचन—बलिदान के लिए वधस्थल पर ले जाने वाले बकरे की क्या दशा होती है ? फाँसी पर लटकाए जाने वाले चोर की क्या दशा होती है ? उन पर मृत्यु का भय इतना अधिक छा जाता है कि खाना, पीना सोना सब छूट जाता है हर क्षण छुरी, तलवार या फांसी नजर आती है। उनके सामने कोई उत्तमोत्तम खाद्य व पेय पदार्थ उपस्थित करे तो भी वे उधर नहीं देखेंगे। मृत्यु के भनकारे उनके कानों में गूंजते होंगे। ओह! कैसी भयंकर दशा। उनको आलस्य कहां ? हे मानव ! रेत घड़ी में से रेत का अणु-अणु गिरकर घड़ी को खाली करता है, जल की एक एक बूंद टपक टपककर जलपूर्ण घड़े को खाली करती है वैसे ही सेकंड-सेकंड (पल-पल) में तेरा आयुष्य कम होता जा रहा है। मृत्यु नजदीक आ रही है फिर तू आलस्य व निद्रा द्वारा अपने आत्मधन को, आयु रत्न को क्यों खो रहा है ? समय की देवी की चोटी आगे रहती है पीछे नहीं, यदि तूने उसे आगे से पकड़ा तो सफल हो जाएगा और यदि पीछे से पकड़ने जाएगा तो उसकी गंजी खोपड़ी पर तेरा हाथ फिसल जायगा। समय रहते सावधान न हुवा तो पीछे पछताता रहेगा। माता समझती है कि मेरा बेटा बड़ा हो रहा है लेकिन यह नहीं जान रही है कि उसकी आयुष्य कम हो रही है वह मृत्यु की तरफ बढ़ रहा है।

सुख के लिए सेवित विषयों में दुःख

विभेषि जंतो यदि दुःखराशेस्तींदिद्रियार्थेषु रतिं कृथा मा।
तदुद्भवं नश्यति शर्म यद्द्राक्, नाशे च तस्य ध्रुवमेव दुःखम् ॥७॥

अर्थ—हे प्राणी यदि तू दुःख समूह से भयभीत होता है तो, इन्द्रियों में आसक्त न हो। उनसे उत्पन्न हुवा सुख तो शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और वह नष्ट हुवा नहीं कि फिर तो दीर्घ कालतक दुःख ही दुख है॥ ७॥

विवेचन—यदि हमें अनेक प्रकार के दुःख समूह से डर लगता हो तो, उनके कारण भूत इंन्द्रियों के स्पर्श, रस, गंध आदि विषय हैं एवं उन विषयों के पोषण में हम लुब्ध रहते हैं या हमारी उनमें आसक्ति है उसको दूर करना चाहिए तभी दुःखों से दूर रहा जाएगा। वे इन्द्रिय जनित सुख अल्पकालीन हैं और उनके नष्ट होने पर फिर दुःख ही दुःख है। संसार की लुभावनी वस्तुओं में हमारा मन इतना चिपका हुवा है कि इनको छोड़ना तो दूर रहा, इनको नाशवान और दुःखदायी मानने का विचार भी नहीं आता है। यह तो निश्चित है कि इस शरीर सहित तमाम चीजों को यहीं छोड़कर जाना पड़ेगा लेकिन जाने से पहले हमारा मन इनसे दूर हो गया, या त्याग की ओर झुक गया तब तो वह जाना सुखकर होगा लेकिन यदि इनको त्यागने के विचारों के बजाय अधिक ममता व आसक्ति की रही तो वह जाना दुःख-कर होगा।

तू किस कारण से विषयों में आसक्त रहता है

मृतः किमु प्रेतपतिर्दुरामया, गता, क्षयं किं नरकाश्च मुद्रिताः ।
ध्रुवाः किमयुर्धनदेहबंधवः, सकौतुको यद्विषयैर्विमुह्यसि ।। ८ ।।

अर्थ—क्या यमराज मर गये ? क्या संसार में से सब व्याधियां नष्ट हो गईं ? क्या नरक के फाटक बंद हो गए ? क्या आयुष्य, धन, शरीर और सगे संबंधी सदा काल रहने वाले घोषित हो गए ? जिससे तू कौतुक व हर्ष से (निर्भय बनकर) विषयों में मोह करता है ? ।। ८ ।।

विवेचन—जैसे चूहों को निर्भय से घर में नाचते हुए देखकर हमें आश्चर्य होता है, एवं जंगल में भोले प्राणियों को स्वतंत्र घूमते हुए देखकर विस्मय होता है, कि क्या शहर में से बिल्लियां नष्ट हो गईं या जंगल में से सिंह भाग गए ? यह अनहोनी बात है, चूहे व पशु दोनों की मौत प्रतीक्षा कर रही है। इसी तरह से हे आत्मा ! तू भी यह मान बैठा है कि मौत की फौत हो गई, बिमारियों को बीमारी लग गई और नरक गरक हो गया एवं विलासियों ने वैज्ञानिकों के आधार पर यह घोषणा कर दी है कि हे लोगो तुम कभी मरने वाले नहीं हो, खूब धन कमाओ यह कभी नष्ट होने वाला नहीं है, इस शरीर को खूब आराम से रखो, आनंद करो यह हमेशा आबाद रहने वाला है। प्रिया, पुत्र और मित्र हमेशा जवान व सुन्दर हालत में चिरकाल तक तुम्हारे पास ही रहेंगे।" इस पर विश्वास करते हुए तेरी भी वैसी मान्यता हो गई हो तो तू भारी भूल कर रहा है। इस मान्यता का पर्दा तब ही

फटेगा जब तूं स्वयं बीमार होगा, तेरे सगे स्नेही दूर भागेंगे, धन औरों के अधिकार में होगा और मृत्युदेवी को सामने देखेगा। उस वीभत्स्य दुःख को आज ही याद कर और वास्तविकता की ओर ध्यान देकर विषयों से दूर हो जा, अनासक्त बन जा।

विषय प्रमाद के त्याग से सुख

विमोह्यसे किं विषयप्रमादैर्भ्रमात्सुखस्यायतिदुःखराशेः।
तद्गर्धमुक्तस्य हि यत्सुखं ते गतोपमं चायतिमुक्तिदं तत् ॥९॥

अर्थ—भविष्य में जिनसे अनेक दुःख मिलने वाले हैं उनमें तू विषय प्रमाद जन्य बुद्धि से सुख के भ्रम से क्यों मोहित होता है ? उन सुखों की अभिलाषा से मुक्त प्राणि को जो सुख होता है वह अनुपम है और मोक्षदायी है ॥ ९ ॥

उपजाति

विवेचन—जिसे खुजली हुई हो या सिर में गंज हो वह बार बार खाज खणाता है और सुख मानता है लेकिन परिणामतः खून निकलता है और दर्द बढ़ता है। इसी तरह विषय सेवन से अल्पकालीन सुख चाहे मिलता हो लेकिन परिणाम भयंकर होता है। विषयरत प्राणी की वही दशा होती है जो हड्डी चबाने वाले कुत्ते की होती है। कुत्ता मानता है, कि हड्डी में से खून निकलकर उसे आनंद दे रहा है लेकिन वास्तव में तो उसके दांत या मुंह में से ही खून निकल कर उसका हड्डी चबाना जारी रखता है। परिणामतः जबड़े छुल जाने से वह अधिक दुःखी होता है। उसी

तरह से विषय सेवन करते हुए स्पर्शन से क्षणिक आनंद आता है लेकिन परिणामतः नरनारी वीर्य-रज हीन हो जाते हैं व अशक्ति द्वारा काल के मुंह में जल्दी पहुंच जाते हैं।

राजा भर्तृहरि के कथनानुसार विचारा जाय तो मालूम हो जायगा कि सुख किसमें हैं। वह कहते हैं कि:—

शरीर में रोग उत्पन्न हुवा अतः उसकी दवा की इसमें सुख कौनसा ? प्यास लगने पर शीतल जल पीते हैं इसमें सुख कौनसा ? भूख लगने पर कुछ खाते हैं उसमें सुख कौनसा ? विकार उत्पन्न होता है और प्राणी भोग करते हैं इसमें सुख कौनसा ? ये तो सब शारीरिक व मानसिक व्याधियों का उपचार है, इसमें सुख कहां है ?

वास्तविक सुख तो आत्मा के आनंद में, शांति में, एकांतः मनन में है। इन्द्रिय जन्य सुख, यह नशे की हालत में माना हुवा सुख दुःख है।

पांच प्रकार के प्रमादों में से पहला, मद्य है, उसका प्रचार बढ़ता जा रहा है। नए नए तरीकों से बनाए गए मादक पेय के शोकीन लोग इसे फैशन मानने लग गए हैं। जाति कुल, या धर्म के विचारों को दूर रखकर इसका सेवन करते हैं। दूसरा प्रमाद, विषय है इसका वर्णन कर चुके हैं। तीसरा प्रमाद, विकथा है, अर्थात् आत्मा के अतिरिक्त पदार्थों की कथा ही विकथा है जिसमें राजकथा, देशकथा, स्त्रीकथा व भोजन संबंधी कथा मुख्य हैं। राजकथा व देशकथा की भूख तो प्रायः समाचार पत्रों से प्रज्वलित होती है। स्त्रीकथा की भूख सिनेमा नाटक,

उपन्यास, एवं शृंगाररस के गानों से उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। भोजन संबंधी कथा की भूख आलीशान होटल, रिफ्रेशमेंट रूम या टी स्टॉलों के मधुरतम खाद्यों व पेयों से अतृप्त रहकर नित्य नई प्रगति करती है। कषाय प्रमाद से ज्ञान तंतुओं पर पर्दा छा जाता है और आत्मा उत्तरोत्तर पतित होता जाता है। प्रभु महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र में फरमाया है कि:—

दुमपत्तए पण्डुयए जहानिवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं गोयम मा पमायए।

अर्थात्—समय जाने पर पीला पड़ा हुवा वृक्ष का पत्ता (अचानक) गिर जाता है, वैसे ही मनुष्य का जीवन भी (अचानक) गिर जाता है, अतः हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर। [१०—१]

पांचवां प्रमाद निद्रा है इसको जितना बढ़ाया जाय बढ़ती है, घटाया जाय घटती है अतः बुद्धिमान पुरुष अल्पनिद्रा लेकर बने जहां तक आत्म ध्यान में प्रवृत्त रहे। इस प्रकार से विषय प्रमाद का त्याग कर स्वदशा को प्राप्त करना चाहिए।

इति विषयप्रमादनामः षष्ठाधिकारः

अथ सप्तमः कषाय

त्यागाधिकारः

समता प्राप्ति में रुकावट डालने वाले साधनों में प्रमुख ममत्व, विषय और कषाय हैं। विषय का अंधापन हमने पढ़ लिया, अब कषाय से होने वाले अहितों का वर्णन इस अधिकार में पढ़ें।

कषाय में क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों का समावेश होता है। इनमें से प्रत्येक के चार चार भेद हैं।

उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) १५ दिन रहता है—वह संज्वलन, उत्कृष्ट चार मास तक रहता है—वह प्रत्याख्यानी, उत्कृष्ट एक वर्ष तक रहता है वह अप्रत्याख्यानी और जीवन पर्यंत रहता है वह अनंतानुबंधी है। कषाय को उत्पन्न करने वाले हास्य, रति, अरति, शोक, भय, दुर्गंछा और पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद यह नौ नो कषाय के नाम से प्रसिद्ध हैं।

कषाय का अर्थ विद्वान लोग इस प्रकार से करते हैं:—

कष = संसार
आय = लाभ
} संसार में भटकना जिसके द्वारा होता है वह कषाय है।

क्रोध का परिणाम, उसके निग्रह की आवश्यकता

रे जीव ! सेहिथ सहिष्यसि च व्यथास्ता-
स्त्वं नारकादिषु पराभवभूः कषायैः ।
मुग्धोदितैः कुवचनादि भिरप्यतः किं,
क्रोधान्नि हंसि निजपुण्यधनं दुरापम् ॥ १ ॥

अर्थ—हे जीव ! तू ने कषायों के वशीभूत होकर नरकादि की अनेक पीड़ाएं सही हैं और भविष्य में भी सहेगा; अतः मूर्खों द्वारा दी गई गालों या कुवचनों पर क्रोधित होकर महान कठिनता से प्राप्त होने वाले पुण्य धन का नाश क्यों करता है ? **वसंततिलका**

विवेचन—कषायों द्वारा ज्ञानतंतुओं पर पर्दा छा जाता है और मनुष्य अपने स्वभाव को भूलकर क्रोधी, मानी, मायावी या लोभी बन जाता है और न करने योग्य कामों को करता है अतः यदि गाली सुनने का प्रसंग आ जाता हो तो भर्तृहरि के कथनानुसार विचारें कि :—

तुमको देनी हो उतनी गालियां खुशी से दो, कारण कि तुम गालियों वाले हो। हमारे पास गालियां हैं ही नहीं इसीलिए हम गालियां दे ही नहीं सकते हैं। दुनियां में जिसके पास जो वस्तु होती है, वही दूसरों को दे सकता है; देखो, खरगोश के सींग नहीं होते हैं अतः वह किसी को दे नहीं सकता है।

क्रोध करने से दुर्गति होती है इसका ज्वलंत प्रमाण चण्ड कौशिक सर्प के दृष्टांत से लेना चाहिए। समता से गज-

सुकुमाल ने मोक्ष प्राप्त किया तथा मैतार्य मुनि ने अपना कल्याण साध लिया।

क्रोध करने से स्वयं को व अन्य को परिताप लगता है। पूरा वातावरण कटु हो जाता है, घर श्मशान बन जाता है, अपने कुटुम्बी शत्रुवत हो जाते हैं, कोई पास नहीं फड़कता है, क्रोध वह अग्नि है जिसमें बाह्य ईंधन की अपेक्षा आंतरिक ईंधन भस्म होता है, वह दूसरों की अपेक्षा खुद को अधिक जलाती है। क्रोध के कारण बना हुवा भोजन पड़ा रह जाता है, त्योहार हत्यारा दिन हो जाता है और आए हुए महमान शत्रुदल का काम देते हैं। क्रोध वह अग्नि है जो कि दियासलाई की डब्बी में बंद रहती है जिसे जरासी रगड़ से प्रज्वलित किया जा सकता है। प्रायः घर के लोगों के प्रति अधिक क्रोध रहता है। कभी २ पिता पुत्र, भाई भाई, पति पत्नी, सासु बहु, गुरु, शिष्य, स्वामी, सेवक ये बिना ही ईंधन के जलते रहते हैं। उपदेश के शीतल जल से इनकी ज्वालाएं अधिक धधकती हैं। इनकी आग राख के ढेर के नीचे बढ़ती है, ऊपर से दृष्टिगोचर नहीं होती, वह दिखावटी स्वभाव के कारण बाहर के लोगों के सन्मुख नहीं आती है। दूसरों के सम्पर्क में आते वक्त ये लोग ठण्डे हिम जैसे बन जाते हैं, शांतमूर्ति तपस्वी सी दिखावटी बातें करते हैं परन्तु पारस्परिक अग्नि ज्वालामुखी पर्वत की तैयारी करती रहती है। अतः ऐसी दुर्दशा के समय शांतरस का पान करना चाहिए। शच्छास्त्रों का अध्ययन कर, उनका मनन कर, उन्हें जीवन में

उतारना चाहिए। क्रोध के कारणों से दूर रहने के लिए सतत् जागृत रहना चाहिए। क्रोध के वशीभूत होकर परशु-रामजी ने अनेक बार पृथ्वी को न क्षत्री किया, जब कि इसे सुभूम राजा ने नि ब्राह्मी किया। क्रोध के द्वारा आत्मा अनंत काल तक नरकादि में भटकता है, एवं यहां जीवित रहते हुए भी अपने ही घर में जहरीले सर्प की तरह से उसका परिवार उससे डरता रहता है अतः क्रोध आदि न करना चाहिए।

मान-अहंकार त्याग

पराभिभूतौ यदि मानमुक्ति, स्ततस्तपोऽखंडमतः शिवं वा।
मानादुतिर्दुर्वचनादिभिश्चेत्तपः क्षयात्तन्नरकादिदुःखम् ॥ २ ॥
वैरादि चात्रेति विचार्य लाभालाभौ कृतिन्नाभवसंभविन्याम्।
तपोऽथवा मानमवाभिभूता, विहास्ति नूनं हि गतिर्द्विधैव ॥३॥

अर्थ—पराभव की स्थिति में यदि मान का त्याग होता है तो वह अखंड तप है, मोक्ष है। दुर्वचन से यदि मान उत्पन्न होता है तो तप का क्षय होता है व नरकादि का कष्ट होता है। इस भव में भी वैर विरोध होता है अतः हे पण्डित ! हानि लाभ का विचार करके जब भी संसार में पराभव का समय उपस्थित हो तब तप अथवा मान दोनों में से एक का पक्ष कर। इस संसार में ये दो ही रास्ते हैं ॥ २ ॥ ३ ॥

उपजाति

विवेचन—जब कोई अपमान करता हो या कटु शब्द कहता हो उस वक्त आवेश में न आने वाले विरले ही होते हैं। उन शब्दों को सुनकर अपनी कसौटी करनी चाहिए कि

यदि यह ठीक कह रहा है तब तो मुझे अपनी कमजोरी दूर करनी चाहिए और यदि यह गलत कह रहा है तब तो मेरी परीक्षा है कि मैं सहनशील हूँ या नहीं ? यदि सहनशील नहीं हूँ तब तो अपमान के योग्य हूं ही और यदि इन सब कटु वचनों और अपमानों को शांति से सुनने वाला सहनशील हूं तब तो मैं उन्नति की एक सीढ़ी और चढ़ा कसौटी में ठीक उतरा।

अपने आपको वश में न रखने वाले लोग अति वृष्टि में तणाते हुए उन पशुओं की तरह होते हैं जो जाना कहीं चाहते हैं लेकिन ले जाए कहीं और जाते हैं। अतः आत्मसंयमी को मान का त्याग करना चाहिए एवं अहंकार का प्रतिकार करना चाहिए।

क्रोध का त्याग करने वाले योगी को मोक्ष प्राप्ति

श्रुत्वाक्रोशान् यो मुदा पूरितः स्यात्,
लोष्टाद्यैर्यश्चाहतो रोमहर्षी ।
यः प्राणान्तेऽप्यन्यदोषं न पश्यत्येष
श्रेयो द्राग् लभेतैव योगी ।।४।।

अर्थ—जो आक्रोश (कटु वचन, अपमान) सुनकर आनंद से भरपूर हो जाता है, जिसको लोह आदि से चोट पहुंचाने पर भी रोम रोम में हर्ष होता है, जो प्राणांत कष्ट सहता हुआ भी अन्य के दोष नहीं देखता है वही योगी है और शीघ्र मोक्षगामी है। **शालिनि**

विवेचन—सामान्य अज्ञान पुरुष में और महापुरुष में अंतर ही यही है कि पहला छोटे छोटे कारणों से क्रोधी होकर बदला लेने को तैयार हो जाता है। जब कि दूसरा शक्तिशाली होता हुवा भी बदला लेना तो दूर रहा, वरन उसका उपकार करना चाहता है, उस पर अमृत बरसाता है, उसके कल्याण की कामना करता है। अतः जिसे जन्म मरण के चक्र में से निकलने की अभिलाषा है वह इस श्लोक का मनन करे।

कषाय निग्रह

को गुणस्तव कदा च कषायैर्निर्ममे भजसि च नित्यमिमान् यत्।
किं न पश्यसि दोषममीषां, तापमत्र नरकं च परत्र ।। ५ ।।

अर्थ—कषायों ने तुझ पर कौनसा गुण (उपकार) किया और कब किया ? जिससे तू हमेशा उनका सेवन करता रहता है ? इस भव में संताप और परभव में नरक देने वाले उनके दोषों को क्या तू नहीं देखता है ? ।। ५ ।। **स्वागता**

विवेचन—कषाय से किसी प्राणी को लाभ हुवा हो यह कभी जाना नहीं गया। हानि तो प्रत्यक्ष ही है, क्रोध से अशांति, मान से अहंकार, माया से आडंबर, लोभ से परिताप होता है यह सभी के अनुभव की बात है।

कषाय करने और त्यागने के फल पर विचार

यत्कषायजनितं तव सौख्यं, यत्कषायपरिहानिभवं च।
तद्विशेषमथवै तदुदर्कं, संविभाव्य भज धीर विशिष्टम् ।। ६ ।।

अर्थ—कषाय सेवन से जो सुख मिलता है और कषाय

त्याग से जो सुख मिलता है (उन दोनों में से श्रेष्ठ कौन सा है, अथवा कषाय सेवन का और उनके त्याग का परिणाम कैसा आता है) उसका विचार करके इन दोनों में से जो श्रेष्ठ हो उसको हे पण्डित तू स्वीकार कर।

विवेचन—जीवन के कई ऐसे दृश्य हमारे सामने हैं जिनमें हमने क्रोध, मान, माया, लोभ, कपट, व ठगाई की और कुछ ऐसे भी हैं जिनमें हमने साधारण उपकार किया, किसी को सहायता दी, शांत रहे, इमानदारी रखी। इन दोनों प्रकार के दृश्यों में से पिछले दृश्यों की स्मृति से आनंद आता है व आत्मा उनका पुनरावर्तन करना चाहता है अतः कषाय त्याग में जो आनंद है वह कषाय करने में नहीं है, पहला अग्नि है तो दूसरा जल है, पहला विष है तो दूसरा अमृत है।

कषाय त्याग, माननिग्रह, बाहुबलि

सुखेन साध्या तपसां प्रवृत्तिर्यथा तथा नैव तु मानमुक्तिः।
आद्या न दत्तेऽपि शिवं परा तु, निदर्शनाद्बाहुबलेः प्रदत्ते ॥७॥

अर्थ—जैसे तपस्या में प्रवृत्ति करना सरल है, वैसे मान का त्याग करना सरल नहीं है। केवल तपस्या की प्रवृत्ति मोक्ष को नहीं दे सकती है, परन्तु मान का त्याग तो बाहुबलजी की तरह से मोक्ष को अवश्य दिलाता है ॥ ७ ॥

उपजाति

विवेचन—तपस्या का रंग लगने पर तपस्या की जाती है, शुरू में कठिनता तो आती है लेकिन बाद में यह सरल हो जाती है। यह प्रवृत्ति उत्तम है लेकिन फिर भी मान का त्याग न

होने तक यह प्रवृति मोक्षदायी नहीं हो सकती है। तपस्या के साथ ही साथ मान का त्याग हो तब ही लक्ष तक पहुंचा जा सकता है। तपस्या करते हुए क्रोध तथा मान का साम्राज्य सन्मुख उपस्थित होता है। आत्म प्रशंसा श्रवण की इच्छा सहज हो जाती है, एक तरह का मीठा नशा छा जाता है और शनैः शनैः मान वृद्धि होती जाती है यदि मान की कमान हाथ में न हो तो वह तपस्या केवल कष्ट क्रिया ही साबित होती है। ऋषभदेव भगवान के द्वितीय पुत्र बहुबलजी ने अपने भाई भरतजी को हराकर राज्य का त्याग तो किया लेकिन मान का त्याग न कर सके। अपने छोटे भाई जो पहले दीक्षित हो चुके थे उनको वंदना करना उन्हें अनुचित प्रतीत हुवा अतः प्रभु के समीप न जाकर वह एकाकी जंगल में ही तप करते रहे। निराहारी शीतोष्ण सहिष्णु, सर्वोन्मुख दशा में एक वर्ष तक खड़े खड़े तप करते रहे परन्तु फिर भी मान का त्याग न हुवा। प्रभु की आज्ञा से उनकी बहिनें आकर जब उन्हें जागृत करती हैं कि—

वीरा मारा गज थकी उतरो, गज चढयां ज्ञान न होय रे।

बस उनका मान नष्ट होता है। जो वस्तु एक वर्ष तक खड़े रहकर तप करने से न मिली वह अलभ्य वस्तु "केवल ज्ञान" मान के नष्ट होते ही एक क्षण में प्राप्त हो गई। वास्तव में मान के त्याग में अमोघ शक्ति है।

मान त्याग, अपमान सहन

सम्यग्विचार्येति विहाय मानं, रक्षन् दुरापाणि तपांसि यत्नात्।
मुदा मनीषी सहतेऽभिभूतीः, शूरः क्षमायामपि नीचजाताः ॥८॥

अर्थ—अच्छी तरह विचार करके, मान का त्याग करके, दुराराध्य तपों का रक्षण करके क्षमा करने में शूरवीर पंडित साधु, नीच पुरुषों द्वारा किए गए अपमानों को खुशी से सहन करता है ॥ ८ ॥ उपजाति

विवेचन—जैसे पोला ढोल छूते ही बज उठता है व छूनेवाले को प्रकट कर देता है, तथा कांसी का पात्र जरा सी ठपक से झनझना उठता है और अपनी हल्की जातीयता को प्रकट कर देता है, वैसे ही नीच पुरुष सत्पुरुषों के पद चिह्नों पर न चल-कर तुच्छता करते हुए अपने अंदर के दोषों को प्रगट कर उन साधु पुरुषों को अनेक तरह से कष्ट देते हैं। इसके विपरीत उत्तम पुरुष तो इन सबको सहन करते हैं, कई कष्टों से साधे गए तपों की रक्षा, रत्नों की तरह से करते हैं, मान का त्याग करते हैं तथा सरलता रखते हैं। अतः मान का त्याग अच्छी तरह विचरना चाहिए ।

संक्षेप से क्रोध निग्रह

पराभिभूत्याल्पिकयापि कुप्यस्यघैरपीमां प्रतिकर्तुमिच्छन् ।
न वेत्सि तिर्यङ्नरकादिकेषु, तास्तैरनंतास्त्वतुला भवित्रीः ॥९॥

अर्थ—ज़रा से अपमान से तू क्रोध करता है और उसका बदला चाहे जैसे पाप कृत्यों से लेना चाहता है, परन्तु नरक तिर्यंच आदि गतियों में अपार, अतुल्य, परकृत पीड़ाएं होने वाली हैं यह तू जानता नहीं है और विचारता भी नहीं है ॥९॥ उपजाति

विवेचन—किसी ने ज़रा सा अपमान किया कि उसे घोर दण्ड देना या जान से मार डालना, यह कितना खराब है। यदि

हमारी सच्ची भूल किसी ने बताई हो तो उस भूल को सुधारना तो कहीं रहा वरन उसका बदला लेने को हमारा मन छटपटाता है यह बुरा है। चाहे किसी भी तरह से उसका अपमान करना नेष्ट कार्य है और जब यह सिलसिला बढ़ता जाता है तो अपमान के प्रति अपमान होता है तो इससे आघात प्रत्याघात भी होता जाता है। समरादित्य केवली ग्रंथ में क्रोधादि कषाय का परिणाम स्पष्ट वर्णन किया है अतः इनको जीतने वाला ही बुद्धिमान है। क्रोध दुर्जय है इसी को जीतना दुष्कर है।

षड्रिपु पर क्रोध-उपसर्ग करने वाले के साथ मंत्री

धत्से कृतिन् ! यद्यपकारकेषु क्रोधं ततो धेह्यरिषट्क एव।
अथोपकारिष्वपि तद्भवार्त्तिकृत्कर्महृन्मित्रबहिर्द्विषत्सु ॥१०॥

अर्थ—हे पण्डित ! यदि तू अपने अहित करने वालों पर क्रोध करना चाहता है तो षड्रिपु पर क्रोध कर और यदि तू अपने हितैषी कर क्रोध करना चाहता हो तो संसार की समस्त व्याधियों के मूल जो कर्म हैं उनको छेदने वाले जो वास्तविक मित्र हैं और बाह्य दृष्टि से तुझे शत्रुवत दीखते हैं उन पर क्रोध कर ॥ १० ॥ **उपजाति**

विवेचन—मनुष्य अपने अपकारी पर क्रोध करता है, न कि उपकारी पर परन्तु उसे अपकारी और उपकारी की पहचान नहीं है। हानिकर्ता शत्रु कहलाता है और हितकर्ता मित्र कहलाता है। मानव की दृष्टि विपरीत हो रही है। वह कड़वी दवा देने वाले या ओपरेशन करने वाले डाक्टर को शत्रु समझता है और चटपटे खाने व मीठी दवा देने वाले लोभी

डाक्टर को मित्र समझ रहा है जब कि वास्तव में पहला मित्र है और दूसरा शत्रु है। ठीक इसी तरह से आत्मा का घात करने वाले काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष ये छः शत्रु हैं। अतः यदि तू शत्रुओं पर क्रोध करना चाहता है तो इन छः पर क्रोध कर और जैसे तुझे कभी २ अपने माता, पिता, गुरु आदि हितैषी पर क्रोध आता है और तू अपने इन मित्रों पर क्रोध करना चाहता है तो ऐसे ही तेरे मित्र और हैं उन पर क्रोध कर। ये मित्र वे हैं जो कर्मों का नाश करते हुए उपसर्ग करते हैं सारांश यह है कि कोई बुद्धिमान अपने हितैषी पर क्रोध नहीं करता है केवल शत्रुओं पर ही करता है।

माया निग्रह पर उपदेश

अधीत्यनुष्ठानतपःशमाद्यान्, धर्मान् विचित्रान् विदधत्समायान्।
न लप्स्यसे तत्फलमात्मदेहक्लेशाधिकं तांश्च भवांतरेषु ॥११॥

अर्थ—शास्त्राभ्यास, धर्मानुष्ठान, तपस्या, शम आदि अनेक धर्म के कार्य यदि तू माया सहित करता है, उनसे तुझे शरीर कष्ट के सिवाय परभव में कुछ भी फल नहीं मिलने वाला है और वे धर्म भी परभव में नहीं मिलने वाले हैं ॥११॥

उपजाति

विवेचन—बाह्यतप करना आसान है, साधु का वेष धारण करना आसान है ओली या उपधान करना भी किसी २ के लिए आसान हो सकता है, परन्तु मायारहित होना नितांत कठिन है। यश-कीर्ति की लोलुपता से मायासहित धर्मोपदेश

देने वालों की कमी नहीं है। नामवरी के लिए मनोनीत शास्त्रों की रचना करना या पुराने शास्त्रों को अपनी मान्यता के अनुसार समाज के सन्मुख रखने का मार्ग तो खुल गया है यह सब माया के ही जाल हैं। यदि माया नहीं छूटी तो सब क्रियाएं-जप-तप, साधन निरर्थक हैं। मुंह से कुछ कहना, मन में कैसे ही घात सोचते रहना या मुखाकृति को सौम्य रखना वचन मीठे कहना परन्तु समय आने पर घात करना यह सब माया के हथकण्डे हैं। उदयरत्नजी ने कहा है कि:—

मुख मीठे झूठो मने जी रे; कूड़ कपट नो रे कोट;
जीभे तो जोजी करे जी रे, चित्तमाँ ताके चोट,
रे प्राणी म करीश माया लगार ॥

माया ऐसी मधुरी है कि, स्वयं को मोहित कर दूसरों को मोहित कराती है, आत्मश्लाघा, परनिंदा, स्वगुणप्रकाशन परगुणप्रच्छादन ये इसके मुख्य कार्य हैं। मायावी मनुष्य धीरे धीरे ऐसा पतित होता है कि उसकी उन्नति का अवसर ही नहीं आता है। कम विद्वान लेकिन निष्कपट मनुष्य चाहे संसार की आंखों में साधारण ही गिना जाता हो या प्रशंसा का पात्र न गिना जाकर निंदा का पात्र गिना जाता हो तो भी वह उस धुरंधर विद्वान से श्रेष्ठ है जो माया प्रपंच द्वारा या बाहरी ढोंग द्वारा लोगों को रंजित कर उन्हें उन्मार्ग को ले जा रहा है। अतः माया रहित होकर हमें सब सांसारिक व धार्मिक कार्य करने चाहिए।

अन्य सब बातों में तो जिनेश्वर ने सभी दृष्टि से विचारना (स्याद्वाद) फरमाया है लेकिन माया न करने के लिए तो एकांत निश्चय फरमाया है।

लोभ निग्रह का उपदेश

सुखाय धत्से यदि लोभमात्मनो, ज्ञानादिरत्नत्रितये विधेहि तत्।
दुःखाय चेदत्र परत्र वा कृतिन्, परिग्रहे तद्बहिरांतरेऽपिच॥१२॥

अर्थ—हे पंडित ! यदि तू स्वयं के लिए लोभ करना चाहता है तो ज्ञान, दर्शन चरित्र में लोभ कर और यदि इस भव और परभव में दुःख की प्राप्ति के लिए लोभ करना चाहता है तो आंतरिक और बाह्य परिग्रह में लोभ कर॥१२॥

विवेचन—स्वयं के लिए लोभ से तात्पर्य है आत्मकल्याण से, जो मनुष्य आत्मकल्याण करना चाहता है उसे सम्यक् दर्शन, ज्ञान चरित्र की आराधना करनी चाहिए और सब प्रकार के आंतर परिग्रह जैसे कि (मिथ्यात्व, तीन वेद, हास्य आदि छः, चार कषाय) और बाह्य परिग्रह (धन, धान्य, क्षेत्र, वस्तु, चांदी, सोना, धातु, नौकर और पशु) का त्याग करना चाहिए तभी उसका कल्याण हो सकता है। ये दोनों प्रकार के परिग्रह आत्मा को बांधे रखते हैं इसे मुक्त नहीं होने देते। अति लोभ से धवल सेठने कई बार श्रीपाल की हानि की अंत में स्वयं ही नष्ट हुवा। लोभांध पुरुष विवेक दृष्टि खो बैठता है, आवश्यकता से अधिक धन संग्रह करने का प्रयत्न करता है, दुश्चरित्र कामांध, अभिमानी पुरुष की सेवा

करता है, अपमान सहता है अतः लोभ का त्याग कर आत्म-श्रेय करना चाहिए।

मद मत्सर त्याग का उपदेश

करोषि यत्प्रेत्यहिताय किंचित्, कदाचिदल्पं सुकृतं कथंचित्।
मा जीहरस्तन्मदमत्सराद्यैर्विना च तन्मा नरकातिथिर्भूः ॥१३॥

अर्थ—यदि तेरे द्वारा (इस भव में) कभी आते भव के लिए अल्पमात्र भी सुकृत्य हो जाय तो उसे मद मत्सर करके वापस हार मत जाना और सुकृत्य के बिना तू नरक का महमान मत बन जाना ॥ १३ ॥ उपजाति

विवेचन—इस मानवदेह के साथ आत्मा की अज्ञातना से तेरह शत्रु—आलस्य, मोह, अवज्ञा, स्तंभ, (अभिमान) क्रोध, प्रमाद, कृपणता, भय, शोक, अज्ञान, बहुकर्त्तव्यता (सांसारिक काम), कुतूहल, रमणता, लगे हुए हैं। इनको जीतने के पश्चात यदि कभी थोड़ासा भी सत्कार्य किया जाता है तो उसे वापस मद और मत्सररूपी चोर चुरा लेते हैं और आत्मा बिना पुण्य के पहिले जैसा रह जाता है और मरकर नरक का महमान बन जाता है। अतः वैसी महमानदारी से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। हम सुकृत्य या पुण्य भी दिखाने के लिए ही करते हैं, अंतर आत्मा में उसका असर कुछ भी नहीं होता है अतः उस प्रकार के सुकृत्य फलदायी नहीं होते हैं। मूल में मनुष्य देह दुर्लभ है। पश्चात धर्मश्रवण, धर्म में रुचि और धर्म मार्ग पर चलना उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। जिनको ये सुलभ हैं वैसे हम सभी इन दुर्लभों को फालतू खो रहे हैं।

ईर्षा नहीं करनी चाहिए

पुरापि पापैः पतितोऽसि संसृतौः
दधासि किं रे गुणिमत्सरं पुनः ।
न वेत्सि किं घोरजले निपात्यसे,
नियंत्र्यसे शृंखलया च सर्वतः ।। १४ ।।

अर्थ—अरे ! पहले ही तू पाप से संसार में पड़ा है, तो फिर गुणवान पर पुनः ईर्षा क्यों करता है ? इस पाप से तू गहरे पानी में उतरता है और तेरे शरीर के चारों तरफ सांकले बांधी जा रही हैं, क्या तुझे इसका भान नहीं है ? ।।१४।।

वंशस्थविल

विवेचन—संसार वृक्ष का मूल ईर्षा या कषाय है। इस मूल को काटने में समर्थ गुणवान लोग ही होते हैं। वैसे गुणवानों पर ईर्षा करने का परिणाम है संसार वृक्ष को हरा रखना। गुणवान में प्रायः ज्ञान, शक्ति, उदारता, संतोष, सरलता, विद्वत्ता, ब्रह्मचर्य, दया, नम्रता आदि गुण पाए जाते हैं अतः वह विवेकशील कहलाता है। जिसमें ये गुण नहीं होते वह प्रायः उस गुणवान से ईर्षा करके अपने चारों तरफ़ पाप के जाल बिछाता है और कर्मरूपी जंजीरों से जकड़ा जाता है। अतः हे भाई ईर्षा का त्याग कर।

कषाय से सुकृत्य का नाश

कष्टेन धर्मो लवशो मिलत्ययं, क्षयं कषायैर्युगपत्प्रयाति च ।
अतिप्रयत्नार्जितमर्जुनं ततः, किमज्ञ ही हारयसे न भस्वता ।।१५।।

अर्थ—महान कष्ट से जरा जरा धर्म प्राप्त होता है, वह

कषाय करने से एक ही साथ नष्ट हो जाता है। हे मूर्ख ! अत्यन्त प्रयत्न करके प्राप्त किये हुए स्वर्ण को एक फूंक से क्यों उड़ा देता है ॥ १५ ॥ वंशस्थ

विवेचन—चौरासी लाख जीवायोनि में भटकते हुए कभी किसी भव में इस आत्मा को थोड़ा थोड़ा धर्म प्राप्त होता है अथवा इस मानव भव में की जाने वाली धर्म क्रियाओं या तपस्याओं से थोड़ा थोड़ा धर्म प्राप्त होता है लेकिन कषाय करने से वह एक ही साथ नष्ट हो जाता है। जैसे नियारिया या स्वर्ण अन्वेषक स्वर्ण के रजकणों को महान प्रयत्न से एकत्रित करता है लेकिन कोई अज्ञानी भूल से उन कणों को एक ही फूंक से नष्ट कर देता है वैसे तू भी श्रुत चारित्र लक्षण धर्मकण को कषाय रूप फूंक से उड़ामत देना, अर्थात कषाय मत करना।

कषाय से होती हुई हानि की परम्परा

शत्रूभवन्ति सुहृदः, कलुषीभवन्ति,
धर्मा, यशांसि निचितायशसीभवन्ति।
स्निह्यंति नैव पितरोऽपि च बांधवाश्च,
लोकद्वयेऽपि विपदो भविनां कषायैः ॥ १६ ॥

अर्थ—कषाय करने से मित्र, शत्रु बन जाता है, धर्म-मलीन हो जाता है, यश अपयश में बदल जाता है, माता पिता, भाई या स्नेहीवर्ग भी प्रेम नहीं रखते हैं तथा इस लोक और परलोक में प्राणी को विपत्तियां आती हैं ॥ १६ ॥

वसंततिलका

विवेचन—क्रोध, मान, माया, लोभ इनसे आत्मा का अहित तो होता ही है साथ ही संसार के व्यवहार में भी पद पद पर आपत्तियां आती हैं। खराब स्वभाव वाले (कषायों) मनुष्य का कोई मित्र नहीं होता है क्योंकि वह स्वयं भी (कषायों से) किसी का सच्चा मित्र नहीं होता हे। अतः इस लोक और परलोक के हित को नाश करने वाले कषाय का त्याग करना चाहिए।

मद निग्रह पर विशेष उपदेश

रूपलाभकुलविक्रमविद्याश्रीतपोवितरणप्रभुताद्यैः।
किं मदं वहसि वेत्सि न मूढानंतशः स्मभृशलाघवदुःखम् ॥१७॥

अर्थ—रूप, लाभ, कुल, बल, विद्या, लक्ष्मी, तप, दान, ऐश्वर्य आदि का मद तू क्या देखकर करता है ? हे मूर्ख ! तुझे अनेक बार लघुता का दुःख सहन करना पड़ा है, क्या वह तू नहीं जानता है ? ॥ १७ ॥ **स्वागतावृत्त**

विवेचन—मद आत्मा को वास्तविकता से ढक देता है, परिणामतः उसे अधोगति में ले जाता है। आत्मा जिस वस्तु का मद करता है वही वस्तु आते भव में नहीं मिलती है। जाति-मद से हरिकेशी; लाभमद से सुभूम; कुलमद से मरीचि; ऐश्वर्यमद से दशार्णभद्र, बलमद से बाहुबलि; रूपमद से सनत्कुमार; तपमद से कूरगडु के सम्पर्क वाले चार मुनि; श्रुतमद-विद्यामद से स्थूलिभद्र की क्या दशा हुई यह शास्त्रों से (जैनकथा रत्नकोष भाग ६ आदि) से जान कर विचारना

चाहिए। मदमत्त मनुष्य की दुर्दशा अवश्य होती है अतः किसी भी वस्तु का किसी भी हालत में मद नहीं करना चाहिए।

संसार वृक्ष का मूल कषाय

विना कषायान्न भवार्त्तिराशिर्भवद्भवेदेव च तेषु सत्सु।
मूलं हि संसारतरोः कषायास्तत्तान् विहायैव सुखी भवात्मन्।१८।

अर्थ—बिना कषाय के संसार की अनेक पीड़ाएं नहीं होतीं हैं और कषाय होते हैं तब तो पीड़ाएं अवश्य होती ही हैं। संसार वृक्ष का मूल ही कषाय है। अतः हे चेतन ! उनको छोड़कर तू सुखी हो जा ॥ १८ ॥ उपजाति

विवेचन—हम अपने जीवन में अनुभव करते हैं कि सुख या आनंद बहुत जल्दी मिट जाते हैं; और दुःख या संताप जल्दी छा जाते हैं, कारण कि उनके मूल में क्रोधादि कषाय रहे हुए होते हैं और जहां क्रोधादि कषाय हैं वहां पीड़ा होती ही है। वास्तव में संसार वृक्ष का मूल ही क्रोध, मान, माया, लोभ, (कषाय) है। अतः हे आत्मा ! यदि तू वास्तव में सुखी रहना चाहता है तो इस मूल को आत्मशक्ति से काट दे। कषाय रहित बन जा।

कषाय के सहचर विषयों का त्याग

समीक्ष्य तिर्यङ्नरकादि वेदनाः, श्रुतेक्षणैर्धर्मदुरापतां तथा।
प्रमोदसे यद्विषयैः सकौतुकैस्ततस्तवात्मन् विफलैव चेतना॥१९॥

अर्थ—शास्त्ररूपी नयनों से तिर्यंच, नरकादि की वेदना देखते हुए एवं धर्म प्राप्ति की दुर्लभता जानते हुए यदि तू

कुतूहलवश विषयों में आनंद मानेगा तो हे चेतन ! तेरा चेतनपन व्यर्थ है ॥ १९ ॥ वंशस्थ

विवेचन—शास्त्र पढ़ने या सुनने के पश्चात भी यदि आत्मा विषयों से दूर रहने का प्रयत्न नहीं करता है तब तो चेतनपन से (ज्ञानमय आत्मत्त्व से) लाभ ही क्या हुवा ? नरक तिर्यंच के कष्ट अत्यंत असहनीय होते हैं एवं धर्म की प्राप्ति अत्यंत कठिनता से होती है यह जानते हुए भी जो जागृत नहीं होता है या धर्म की ओर नहीं झुकता है वह नितांत मूर्ख है ।

मानव भव की दुर्लभता के लिए टीकाकार ने दस श्लोकों द्वारा दस दृष्टांत बताए हैं जो इस ग्रंथ के अंत में दिये हैं ।

कषाय के सहचर प्रमाद का त्याग

चौरैस्तथा कर्मकरैर्गृहीते, दुष्टैः स्वमात्रेऽप्युपतप्यसे त्वम् ।
पुष्टैः प्रमादैस्तनुभिश्च पुण्यधनं न किं वेत्स्यपि लुटचमानम् ॥२०॥

अर्थ—चोर अथवा नौकर यदि तेरा ज़रा सा धन चुरा लेते हैं तब तो तू गरम हो जाता है (क्रोध करता है), परन्तु गहरे या हलके प्रमाद तेरा सारा पुण्यधन लूटते हैं यह तुझे मालूम ही नहीं है ? उपजाति

विवेचन—सोना चांदी या साधारण वस्तु की ज़रा सी चोरी हो जाती है तब तू हर प्रकार से प्रयत्न करके चोर को पकड़ाता है, सजा दिलाता है और धन को फिर से प्राप्त

करने के उपाय करता है। परन्तु मद्य, विषय, कषाय, विकथा और निद्रा रूपी प्रमाद चोर तेरा आत्मधन या पुण्यधन लूट रहे हैं जिससे तू बेखबर है। इन पांचों प्रमादों के कारण आत्मा अपना किया हुवा सत्कर्म हार जाता है तथा कर्मों के क्षय करने में समर्थ होता हुवा भी पंगु रहता है। अतः प्रमाद का त्याग कर।

जरा नीचे देखकर चल—उद्धतपन का त्याग

मृत्योः कोऽपि न रक्षितो न जगतो दारिद्र्यमुत्त्रासितं,
रोगस्तेननृपादिजा न च भियो निर्णाशिताः षोडश।
विध्वस्ता नरका न नापि सुखिता धर्मैस्त्रिलोकी सदा,
तत्को नाम गुणो मदश्च विभुता का ते स्तुतीच्छा च का ॥२१॥

अर्थ—हे भाई! तूने अभी तक किसी भी प्राणी को मरने से नहीं बचाया है, न जगत की दरिद्रता दूर की है, तूने रोग, चोर, राजा आदि से होने वाले सोलह बड़े भयों का भी नाश नहीं किया है, न तूने नरक गति का नाश किया है, और धर्म द्वारा तीनों लोकों को सुखी भी नहीं किया है तो फिर तेरे में ऐसे कौन से गुण हैं जिनसे तू मद करता है? और फिर ऐसे कोई भी काम किये बिना तू स्तुति की इच्छा भी कैसे रखता है? (अरे कहां तो तेरे गुण! और कितना तेरा मद! कितनी प्रबल तेरी स्तुति की इच्छा) ॥२१॥

विवेचन—अरे भाई तू कौन से अपने बड़े कार्य से प्रशंसा की इच्छा रखता है। उपकार बहुत ही थोड़ा करके भी तू स्तुति की इच्छा रखता है यह अयोग्य है। जगत में ऐसे कई महान उपकारी हो गए हैं जिनका नाम तक हमारे सुनने में

नहीं आया है फिर भी उनके उपकार का जगत ऋणि है। काल की चक्की में चाहे उनका नाम पिस गया हो लेकिन कार्य तो अमर ही रहेगा अतः स्वप्रशंसा की झूठी तृष्णा को नष्ट करने से ही तेरा आत्मा वास्तविक दशा को प्राप्त कर सकेगा परन्तु मद रहित हुए बिना वह दशा अशक्य है। अतः मद का त्याग कर।

सारांशतः इस अधिकार में कषाय का त्याग अत्यन्त आवश्यक बताया है, बिना कषाय त्याग के आत्मा को स्व का भान नहीं हो सकता है अतः कषाय को त्यागने का प्रयत्न करना चाहिए। क्रोध के लिए विद्वानों ने कहा है कि:—

संतापं तनुते भिनत्ति विनयं सौहार्दमुत्सादय—
त्युद्वेगं जनयत्यवद्यवचनं रूते विधत्ते कलिम्।
कीर्तिं कृंतति दुर्मतिं वितरति व्याहंति पुण्योदयं,
दत्ते यः कुगतिं स हातु मुचितो रोषः सदोषः सताम्॥

अर्थात्—क्रोध संताप करता है, विनयधर्म का नाश करता है, मित्रता का अंत लाता है, उद्वेग पैदा करता है, कुत्सित, पापाकारी वचन बोलता है, क्लेश कराता है, कीर्ति का नाश करता है, दुर्गति को उत्पन्न करता है, पुण्योदय का हनन करता है और कुमति को देता है। ऐसे ऐसे अनेक दोष क्रोध से उत्पन्न होते हैं, बुद्धिमान लोग अनुभव द्वारा समझ सकते है,। अतः क्रोध का आवेश शांत करना चाहिए व उसका सर्वथा त्याग करना चाहिए। मान मीठा विष है जो मधुरता से आत्मा का नाश करता है अतः इसका त्याग करने के लिए इस श्लोक को विचारना चाहिए:—

बलिभ्यो बलिनः संति, वादिभ्यः संति वादिनः ।
धनिभ्यो धनिनः संति, तस्माद्दर्पं त्यजेद् बुधः ।।

अर्थात्—बलवान् से भी अधिक बलवान, वादी से भी अधिक वादी, धनवान से भी अधिक धनवान दुनिया में हैं अतः चतुर पुरुष को अभिमान का त्याग करना चाहिए ।

लोभ को शास्त्रकार आकाश की उपमा देते हैं । जैसे आकाश अनंत है वैसे ही लोभ भी अनंत है । लोभी मनुष्य की दुर्दशा निश्चित है । मम्मण सेठ तथा धवल सेठ के दृष्टांत ज्वलंत प्रमाण हैं । माया को नागिनी की उपमा दी है, इसके पाश बड़े तीव्र होते हैं, मल्लिनाथजी को स्त्री वेद इसी कारण से भुगतना पड़ा था । अतः क्रोध, मान, माया और लोभरूप कषाय को अवश्य ही नष्ट करना चाहिए । यह मनन से ही सम्भव है ।

इति कषाय निग्रह नामः सप्तमोधिकारः

अथाष्टमः शास्त्र

गुणाधिकारः

इसके पूर्व के सात अधिकारों में ममत्वमोचन और कषायत्याग तथा प्रमाद त्याग का उपदेश शास्त्रकार ने दिया है परन्तु इनका असर शास्त्र अभ्यास बिना टिक नहीं सकता है। अतः शास्त्र अभ्यास कैसा होना चाहिए और उसके क्या क्या लाभ हैं वह इस अधिकार में बताते हैं।

केवल ऊपरी शास्त्र अभ्यास

शिलातलाभे हृदि ते वहंति, विशंति सिद्धान्तरसा न चान्तः।
यदत्र नो जीवदयार्द्रता ते, न भावनांकुरततिश्च लम्या ॥ १ ॥

अर्थ—सिद्धान्तरूपी जल तेरे पत्थर जैसे हृदय पर होकर बह जाता है, परन्तु अन्दर प्रवेश नहीं होता है; कारण कि उसमें जीव दयारूपी आर्द्रता नहीं है और भावनारूपी अंकुरों की श्रेणी भी नहीं है। उपेंद्रवज्रा

विवेचन—पत्थर की शिला पर पड़ा हुवा पानी निरर्थक जाता है कारण कि पत्थर में ग्रहण शक्ति नहीं है, गीलापन भी नहीं है अतः अंकुरित करने की शक्ति भी नहीं है। इसी प्रकार से जो विद्वान तो है लेकिन जिसका हृदय उस विद्या को ग्रहण किए हुए नहीं है उस पर उन शास्त्रों का कोई असर होने

वाला नहीं है। उन शास्त्रों से या उस विद्या से वह भाषण, लेखन या वादविवाद द्वारा जनरंजन, द्रव्योपार्जन या यश लाभ कर सकता है परन्तु स्वात्मा का कुछ भी हित नहीं कर सकता है। अतः ऊपर ऊपर के अभ्यास की अपेक्षा उनका अंतरतम से अभ्यास कर आत्म कल्याण करना चाहिए। ऊपर ऊपर के अभ्यास को शास्त्रकार विषय प्रतिभास ज्ञान कहते हैं जो मति अज्ञान के क्षयोपशम से होता है परन्तु साध्य तो तत्त्वसंवेदन ज्ञान है जिसे साधने से अपनी करणी का आप निरीक्षण करने की भावना उत्पन्न होती है एवं अपनी दिनचर्या का स्वयं निरीक्षण करने की उत्कंठा पैदा होती है। बीज तभी उगता है जब कि वह उत्तम क्षेत्र में पड़ा हो, जल का संयोग हो और सुरक्षित अवस्था में हो। धर्म रूप, बीज भी मनरूपी क्षेत्र में बोये जाने पर उसी दशा में उग सकता है जब कि मन का निग्रह हो, जीव दयारूपी गीलापन हो। इतना होने पर भावनारूपी अंकुर अवश्य विकसित होंगे। अतः शास्त्रों का केवल ऊपरी अभ्यास कुछ भी लाभदायी नहीं है।

शास्त्र पढ़े हुए प्रमादी को उपदेश

यस्यागमांभोदरसैर्न धौतः प्रमादपंकः स कथं शिवेच्छुः।
रसायनैर्यस्य गदाः क्षता नो, सुदुर्लभं जीवितमस्य नूनम् ॥२॥

अर्थ—जिस प्राणी का प्रमादरूपी कीचड़ सिद्धांतरूपी वर्षा के जल के प्रवाह से भी नहीं धोया जाता है वह किस प्रकार से मुमुक्षु हो सकता है ? वास्तव में, रसायन से भी यदि किसी

प्राणी की व्याधियां नष्ट नहीं होती हैं तो फिर उसका जीवित रहना दुर्लभ है वह अवश्य ही मरने वाला है ऐसा जानना चाहिए। उपजाति

विवेचन—व्यवहारिक दृष्टि से जैसे आठ मास का कीचड़ श्रावण भादव में हुई मूसलाधार बारिश के प्रवाह से बह जाता है वैसे ही आत्मा में आया हुवा प्रमादरूपी मैल भी शास्त्राभ्यास से या शास्त्र सिद्धान्त के सतत् श्रवण से बह जाता है, यदि इतना होने पर भी आत्मा का मैल नहीं धुलता है तो जानना चाहिए कि इस प्राणी का आत्मरोग असाध्य है, एवं यह दूर भव्य है या मुमुक्षु नहीं है। शारीरिक व्याधियों के लिए ताम्रभस्म, लोहभस्म या पारा भस्म आदि देने पर भी रोग शांत न होता हो तो समझना चाहिए कि यह रोगी बच नहीं सकता है वैसे ही सिद्धान्तरस का पान कराने पर भी जिस आत्मा में जागृति नहीं आती है या अपने आपको पहचान कर प्रमाद रूपी कीचड़ को धोने की इच्छा पैदा नहीं होती है वह मुमुक्षु कैसे हो सकता है ? यदि मोक्ष की इच्छा जागृति में हो तो उसके लिए प्रयत्न अवश्य ही होता है प्रमाद को दूर करने का अभ्यास किया जाता है। प्रमाद आठ हैं १. संशय, २. विपर्यय, ३. राग, ४. द्वेष, ५. मतिभ्रंश, ६. मन वचन काया का दुःप्रणिधान, ७. धर्म का अनादर, ८. अज्ञान। इन आठ के अतिरिक्त पांच प्रकार से भी प्रमाद गिना जाता है मद्य, विषय, कषाय, विकथा व निद्रा।

सारांश कि शास्त्रों का अभ्यास कर प्रमादों का त्याग करके उत्तम साध्य जो मोक्ष है उसे साधना चाहिए। शास्त्र का अभ्यास करके यदि स्वात्म का कल्याण नहीं किया, मात्र दूसरों को ही उपदेश देते रहे तो इसमें आत्मकल्याण कुछ भी नहीं है। शास्त्रों का मनन कर प्रमाद त्याग करने में ही पुरुषार्थ है, यही आलस्य का त्याग है। आत्मा मोक्ष के अतिरिक्त अन्य को अच्छा समझता है वही प्रमाद है जो त्याज्य है।

स्वपूजा के लिए शास्त्राभ्यास करने वालों के प्रति

अधीतिनोऽर्चादिकृते जिनागमः, प्रमादिनो दुर्गतिपापतेर्मुधा।
ज्योतिर्विमूढस्य हि दीपपातिनो, गुणाय कस्मै शलभस्य चक्षुषी ३

अर्थ—दुर्गति में गिरने वाला प्रमादी प्राणी, स्वपूजा के लिए जैन शास्त्र का अभ्यास करता है वह निष्फल जाता है। दीपक की ज्योति से पागल (मूढ) बने हुए, दीपक में गिरने वाले पतंगिए की आंखें उसको क्या लाभकारी होती है ॥३॥

वंशस्थ

विवेचन—आंखें देखने के लिए हैं एवं आपत्ति से बचने के लिए हैं परन्तु अज्ञान पतंगियां उन्हीं आंखों द्वारा दीपक में जान बूझकर गिरता है। दीपक की लौ के रूप को देखकर वह मुग्ध होता है, उसके पंख झुलस जाते हैं और वह अपना भग्नावशेष दीपक में गिराकर भस्मीभूत हो जाता है। वैसी ही शास्त्ररूप आंखों से देखने वाला पंडित भी स्वपूजा के प्रसंग पर देखता हुवा भी अंधा हो जाता है और जान बूझ कर अपनी पूजा कराता है और मानता है कि मैं उन्नत

बन रहा हूं परन्तु वास्तव में वह उन्नत की अपेक्षा अवनत बन रहा है। उसका आध्यात्मिक पतन हो रहा है अतः जो शास्त्र पढ़कर स्वप्रशंसा या स्वपूजा चाहता है वह भूल करता है। ऐसे पंडित का शास्त्राभ्यास उसके स्वयं के लिये क्या लाभकारी हुवा। ऐसी आखें क्या काम की जो कि पतंगिए की तरह से जान बूझकर प्राणांत कराती हों? अतः जो स्वपूजा के लिए जैनशास्त्र पढ़ते हों उन्हें सोचना चाहिए कि शास्त्ररूपी आंखों से नरक निगोद को देखकर उनसे बचा जा सकता है, मोक्ष साधा जा सकता है।

परलोक हित की बुद्धि रहित-अभ्यासियों को

मोदन्ते बहुतर्कतर्कणचणाः केचिज्जयाद्वादिनां,
काव्यैः केचन कल्पितार्थघटनैस्तुष्टाः कविख्यातितः।
ज्योतिर्नाटकनीतिलक्षणधनुर्वेदादिशास्त्रैः परे,
ब्रूमः प्रेत्यहिते तु कर्मणि जडान् कुक्षिंभरीनेव तान् ॥४॥

अर्थ—कितने ही अभ्यासी नाना तरह के तर्क वितर्कों के विचारों में प्रसिद्ध होकर वादियों को जीतकर आनंद मानते हैं, कितने ही कल्पना शक्ति से काव्यों की रचना कर कवि तरीके प्रसिद्धि प्राप्त कर आनंद मानते हैं, कितने ही ज्योतिष-शास्त्र, नाटचशास्त्र, नीतिशास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र और धनुर्वेद आदि शास्त्रों के अभ्यास के द्वारा प्रसन्न होते हैं, परन्तु यदि वे आते भव के लिए हितकारी कार्यों से उदासीन हों, लापरवाह हों तो हम उन्हें पेट भरने वाले ही कहते हैं ॥ ४ ॥

शार्दूल विक्रीडित

विवेचन—भौतिक वाद के विज्ञानशील युग में चाहे कितने ही विषयों के विशेषज्ञ बनकर हमने डिगरियां हासिल कर ली हों या निष्णात पंडित एवं महामहोपाध्याय बन गए हों लेकिन परलोक के कल्याणकारी, आत्महितैषी कार्यों से अनभिज्ञ रहते हों तो हमारी वे सभी डिगरियां केवल अपना व कुटुम्ब का पेट भरने का साधन मात्र समझना चाहिए। यदि शास्त्र ज्ञान केवल लोक रंजन कुतूहल व यश प्राप्ति के लिए ही किया हो तो वह निरर्थक है, कमाने का, पेट भरने का तरीका मात्र है, आत्मा के लिए उसका कोई लाभ नहीं है, यह शास्त्रकार फरमाते हैं। शास्त्राभ्यास लोकरंजन की अपेक्षा आत्मरंजन के लिए होना चाहिए तभी वह सच्चा शास्त्राभ्यास कहलाएगा। यदि शास्त्र पढ़े हुए भी हों फिर भी जीवन के बरताव में उनका कुछ भी असर न हो तो समझना चाहिए कि शास्त्रजल ऊपर से बह गया है अभी तक अंतर-तल सूखा ही है या कोरा का कोरा रह गया है। वैसा शास्त्र ज्ञान सम्यक् ज्ञान नहीं है या सम्यक् दृष्टि प्रात भी नहीं है, वैसे कोरे दिखावे रूप शास्त्र ज्ञान से आत्मा का कुछ भी कल्याण नहीं होता है। अतः सच्चा शास्त्र ज्ञान तो वही है जिससे स्व का व पर का कल्याण साधा जा सकता हो। वैसा अभ्यास पेट भराने की अपेक्षा सदा काल अमृत रस का पान कराने वाला होता है अर्थात मोक्ष दिलाने वाला होता है।

शास्त्र पढ़ कर करना क्या ?

किं मोदसे पंडितनाममात्रात्, शास्त्रेष्वधीती जनरंजकेषु।
तत्किं नाधीष्व कुरुष्व चाशु न ते भवेद्येन भवाब्धिपातः ॥५॥

अर्थ—लोकरंजक शास्त्रों का पाठक होकर केवल नाम मात्र से पंडित कहलाने में तू क्यों आनंदित होता है ? तू कुछ ऐसा अभ्यास करके, ऐसा अनुष्ठान कर कि जिससे तुझे फिर से इस संसार समुद्र में गिरना ही न पड़े ॥ ५ ॥

उपजाति

विवेचन—मधुर कंठ से कविता पाठ करने वाला कथा वार्ता की स्वरलहरी से सभा को आकर्षित करने वाला, गंभीर गिरा से संस्कृत के श्लोकों का उच्चारण करने वाला, बिना संकोच के अंग्रेजी, संस्कृत आदि भाषा बोलने वाला, घंटों तक धारा प्रवाह भाषण देने वाला, अनेक तर्क वितर्क से वाद विवाद करने वाला या मयूर की छटा से व्याख्यान देने वाला यदि अपने मन में प्रसन्न होता है कि मैंने कितनों का मन जीत लिया है, चारों तरफ से वाह वाह की पुकार उठती है, तालियों की गड़गड़ाहट सुनाई देती है, धन्यवाद प्रदान किया जाता है व पारितोषक के रूप में प्रमाण पत्र या मैडल दिया जाता है या सन्मान पत्र अर्पण किया जाता है परंतु यह सब उस स्वयं के आत्मा के लिये तो भार रूप ही है। अतः हे बुद्धि धन ! तू कुछ ऐसा अभ्यास कर कि जिससे संसार समुद्र तरा जाय। मात्र वाह वाही में फूल जाने से क्या लाभ होगा ? अमूल्य औषधि भी यदि सेवन करने की अपेक्षा शरीर पर लगाई जाय तो वह क्या हित कर सकती है ? भव रोग की दवा रूप सत् शास्त्रों का पठन यदि आत्मकल्याण के लिए न करके लोकरंजन के लिए किया गया तो परिणाम वैसा ही

होगा जैसा कि गाय का दूध निकाल कर कुत्तों को चटा दिया जाय। अतः धर्मशास्त्रों से ऐसा सार निकाल कि पुनर्जन्म ही न हो। मात्र मस्तिष्क मार्जन करने वाले ज्ञान की अपेक्षा आत्म परिणतिमत् ज्ञान को ग्रहण करना चाहिए।

शास्त्र अभ्यास करके संयम रखना

धिगागमैर्मार्द्यसि रंजयन् जनान्, नोद्यच्छसि प्रेत्यहिताय संयमे।
दधासि कुक्षिभरिमात्रतां मुने, क्व ते क्व तत् क्वैष च ते भवांतरे ६

अर्थ—हे मुनि ! तू धर्म शास्त्रों द्वारा लोक रंजन करके तो खुश होता है परन्तु अपने स्वयं के आत्म हित के लिए प्रयत्न नहीं करता है, अतः तुझे धिक्कार है ! तू तो केवल पेट भरने की कला को ही धारण किए हुए है, परन्तु हे मुनि ! परभव में तेरे वे आगम कहां जाऐंगे, तेरा वह लोक रंजन कहां जाएगा और तेरा यह संयम कहां जाएगा ? ॥६॥

उपजाति

विवेचन—संसार में एक से एक बढ़कर कवि, कथाकार, कलाविद व शास्त्रज्ञ मौजूद हैं। एक की कीर्ति दूसरा छीन लेता है, पहले वाला निस्तेज होता है, दूसरा गौरव अनुभव करता है लेकिन फिर उस दूसरे से भी कोई तीसरा विशेष गुणवान प्रकट होता है और वह दूसरा निस्तेज हो जाता है यह क्रम तो चलता ही रहता है अतः कीर्ति के लोभ से या मान की भूख से अधिक कष्ट परिसह सहन न करता हुवा तू लोक रंजन छोड़कर, आगमों द्वारा आत्महित कर ले।

केवल अभ्यास करने वाले और अल्पाभ्यासी साधक में श्रेष्ठ कौन ?

धन्याः केऽप्यनधीतिनोऽपि सदनुष्ठानेषु बद्धादरा,
दुःसाध्येषु परोपदेशलवतः श्रद्धानशुद्धाशयाः ।
केचित्त्वागमपाठिनोऽपि दधतस्तत्पुस्तकान् येऽलसाः
अत्रामुत्रहितेषु कर्मसु कथं ते भाविनः प्रेत्यहाः ॥ ७ ॥

अर्थ—कितने ही प्राणी जिन्होंने शास्त्र का अभ्यास नहीं किया है तो भी दूसरों के ज़रा से उपदेश से कठिन (दुश्कर), अनुष्ठानों का आदर करने वाले और श्रद्धापूर्वक शुद्ध आशय वाले हो जाते हैं उनको धन्य है। विपरीत इसके कितने तो आगम के अभ्यासी होते हुए व आगम पुस्तकों को साथ रखते हुए भी इस भव और परभव के हितकारी कार्यों में प्रमादी हो जाते हैं और परलोक को नष्ट कर डालते हैं उनका क्या होगा ? ॥ ७ ॥ **शार्दूलविक्रीडित**

विवेचन—जो विशेष शास्त्र जानता है वही कभी २ अधिक भूलता है। उसे ही (संशय) कुशंका आदि प्रमाद उत्पन्न हो जाते हैं जिससे वह आत्मनाश के साथ ही साथ अनेक भोले जीवों को अपने साथ कुगति में घसीटता है। सरल परिणामी जीव यद्यपि अधिक पढ़े लिखे नहीं होते हैं तथापि किसी शास्त्रज्ञ पंडित या मुनिराज के वचनों पर श्रद्धा रखकर अत्यंत कठिन तप (उपधान, वर्षी तप, ओली, वीस स्थानक का तप आदि) करने को उद्यत हो जाते हैं व करते भी हैं। उन्हें धन्य है। विपरीत इसके कितने ही महामना, सूरि पुंगव शासन सम्राट, देशोद्धारक, प्रांत केसरी आदि पदवी धारक

अपने आपको बड़ा भारी विद्वान मानने वाले यश के मोह में पड़कर कीर्ति की भूख मिटाते हुए प्रमादाचरण करते हैं एवं स्वमति से भिन्न मार्ग निकालते हैं व भोले जीवों को अपने पीछे नरक आदि में ले जाते हैं। जैनागमों का सहारा लेकर, उन्हें साथ साथ लिये फिरने पर भी कई मुनि उत्सूत्रपरूपणा (विपरीत अर्थ) करके मतमतांतर डालते हैं। इन्द्रियों के सुख में पड़कर उन शास्त्रों से विपरीत चलते हुए भी यशस्वी बनने का ढोंग करते हैं ओह उनकी परभव में क्या गति होगी ? यहां ज्ञान को हीन न बता कर ज्ञान का सदुपयोग करने को शास्त्रकार ने कहा है।

मुग्ध बुद्धि, विद्वान-पण्डित

धन्यः स मुग्धमतिरप्युदितार्हदाज्ञा-
रागेणः यः सृजति पुण्यमदुर्विकल्पः।
पाठेन किं व्यसनतोऽस्य तु दुर्विकल्पै-
र्योदुस्थितोऽत्र सदनुष्ठितिषु प्रमादी ॥ ८ ॥

अर्थ—खराब संकल्प नहीं करने वाला और अरिहंत की आज्ञा के राग से शुभ क्रिया करने वाला प्राणी यदि पढ़ने में मुग्धबुद्धि (मंद बुद्धि) वाला भी है तो भी भाग्यशाली है। जो प्राणी खराब विचार करता रहता है और शुभ क्रिया में आलसी रहता है वैसे प्राणी को अभ्यास से और पढ़ने के व्यसन से क्या लाभ है ? ॥ ८ ॥ **वसंततिलका**

विवेचन—मनुष्य, बीमारी के समय ऐसे वैद्य या डाक्टर की दवा लेता है जिस पर उसे पूर्ण विश्वास होता है यह अनुभव

सिद्ध है। विश्वास करने के लिए वह दूसरों की सुनी हुई बातों का आलंबन लेता है, उसके लिए अशक्य है कि आरोग्य शास्त्र को पढ़े या डाक्टरी विद्या पढ़ने के पश्चात ही अपनी बुद्धि से अपने रोग का निदान करे एवं अमुक डाक्टर द्वारा दी जाने वाली दवा का विश्वास करे। यह नितांत कठिन है कारण कि समय का अभाव है। अतः उसे विश्वस्त लोगों द्वारा निर्दिष्ट वैद्य या डाक्टर का विश्वास करना ही पड़ेगा। उसी तरह भव रोग से संतप्त प्राणी के लिए वीतराग अरिहंत देव ही वैद्य व उनकी वाणी ही रामबाण दवा है उसी पर श्रद्धा करना चाहिए। यद्यपि उसकी परीक्षा के लिए साधनों में से, वीतराग दशा, शुद्धमार्ग कथन, अपेक्षाओं का शुद्ध स्थापन नय-स्वरूप का विचार, स्याद्वाद विचार श्रेणी आदि हैं। विशेष क्षयोपशम हो और अनुकूलता हो तो विशेष परीक्षा भी की जा सकती है, परन्तु मनुष्य को अपना उदर पोषण करते हुए शास्त्राभ्यास को फुरसत नहीं है अतः जिन वाणी पर श्रद्धा करने वाला और कुविल्प चिंतन नहीं करने वाला प्राणी यदि कम पढ़ा लिखा भी हो तो भी आत्मकल्याण साधने से अधिक भाग्यवान है अपेक्षा उस प्राणी के जो कि सतत पठन-पाठन में व्यस्त रहता है, दूसरों को उपदेश देता है लेकिन स्वयं कुविल्प चिंतन करता रहता है। बारीक बारीक तर्क निकालकर दूसरों को परास्त कर अपनी जिद्द रखने के लिए उन्मार्ग ढूंढता है व शुभ क्रियाओं में आलसी रहता है अतः कम पढ़ा लेकिन सरल मानव ज्यादा उत्तम है, अपेक्षा उसके जो अधिक पढ़ा हो लेकिन धर्म क्रिया में आलसी हो।

शास्त्राभ्यास-उपसंहार

अधीतिमात्रेण फलंति नागमाः,
समीहितैर्जीवसुखैर्भवान्तरे ।
स्वनुष्टितैः किंतु तदीरितैः खरौ,
न यत्सितायाः वहनश्रमात्सुखी ॥ ६ ॥

अर्थ—केवल अभ्यास से ही अन्य भव में मनोवांछित फल देने में आगम फलते नहीं हैं, परन्तु उनमें बताए हुए शुभ अनुष्ठान करने से ही आगम फलते हैं; जिस प्रकार से मिश्री का भार उठाने के श्रम से ही गधा सुखी नहीं हो जाता है ॥६॥

वंशस्थ

विवेचन—मात्र अभ्यास करने से ही सुख नहीं प्राप्त होता वरन उस अभ्यास को या सीखे हुए गुणों को जीवन में उतारने से सुख प्राप्त होता है। एक विद्वान जो बहुत ही पदवियां (डिगरियां) पाए हुए हो लेकिन उसमें, क्रोध, अहंकार, बेईमानी आदि दुर्गुण हों तो वह सफलता नहीं पाता है जब कि साधारण पढ़ा लिखा एक इमानदार सरल उदार पुरुष सफलता पाता है। जो गुणों को जानता हुवा भी वैसा आचरण नहीं करता है उसकी तुलना मिश्री के बोरे से लदे हुए गधे से की गई है। गधे के लिए तो सब भार बराबर हैं। चाहे मिट्टी लादो, या सोना, चाहे नमक लादो या मिश्री। वैसे ही केवल अभ्यास मात्र के लिए शास्त्र पढ़ने वाले को समझना चाहिए कि इन शास्त्रों में बताए गए मार्ग के अनुसरण के बिना या अनुष्ठान के बिना ये कुछ भी फलदायी नहीं होंगे।

अतः शास्त्र पढ़कर उनमें उपदिष्ठ मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। उपदेश माला में धर्मदासगणिजी ने कहा है कि:—

जहा खरो चंदनभारवाही, भारस्स भागी न हु चंदनस्य।
एवं खु नाणी चरणेण हीणो, नाणस्स भागो न हु सुगाइए॥

अर्थात जिस प्रकार से चन्दन का भार उठाने वाला गधा केवल भार का ही भागी है न कि, चंदन का, वैसे ही आचरण बिना के ज्ञान को जानने वाला मात्र ज्ञान का भागी है न कि सुगति का।

अपने उपदेश द्वारा दूसरों को वैराग्यवासित करने वाले या व्रत नियम दिलाने वाले यदि स्वयं रसना के या कीर्ति के लोलुपी हों तो वे भी गर्दभ तुल्य हैं। ज्ञानी द्वारा फरमाई हुई क्रिया, ज्ञान सहित अवश्य करते रहना चाहिए नहीं तो प्रमाद आए बिना नहीं रह सकता है और प्रमाद आया नहीं कि पतन हुवा नहीं।

"क्रियारहित मात्र अकेला ज्ञान पंगु है। जैसे मार्ग जानने वाला भी जब तक उस ओर गति नहीं करता है तब तक गंतव्य नगर को पहुंच नहीं सकता है। (ज्ञानसार ९-२)।

चतुर्गति के दुःख—नरकगति के दुःख

दुर्गंधतो यदणुतोपि पुरस्य मृत्यु-
रायूंषि सागरमितान्यनुपक्रमाणि।
स्पर्शः खरः क्रकचतोऽतितमामितश्च,
दुःखावनंतगुणितौ भृशशैत्यतापौ॥ १०॥

तीव्रा व्यथाः सुरकृता विविधाश्च यत्रा-
क्रन्दारवैः सततमभ्रभृतोऽप्यमुष्मात् ।
किं भाविनो न नरकात्कुमते बिभेषि,
यन्मोदसे क्षणसुखैर्विषयैः कषायी ॥ ११ ॥ युग्मम् ॥

अर्थ—जिस नरक की दुर्गंधि के एक सूक्ष्म भाग से (इस मनुष्य लोक के) पूरे नगर की मृत्यु हो जाती है, जहां सागरोपम से मापा जाने वाला आयुष्य निरुपक्रम होता है, जिसका स्पर्श करवत से भी बहुत अधिक कर्कश है, जहां सर्दी गर्मी का दुःख यहां (मनुष्यलोक) की अपेक्षा अनंतगुणा है जहां देवों द्वारा की जाने वाली इतनी पीड़ाएं होती हैं कि उनके चीत्कार या आक्रंद के द्वारा आकाश भर जाता है—इस प्रकार की नरक गति तुझे भविष्य में मिलेगी। ऐसे विचार से भी हे कुमति तुझे डर नहीं है क्योंकि तू कषाय करके थोड़े समय सुख देनेवाले विषयों का सेवन करके आनंद मनाता है ॥१०—११ ॥

वसंततिलका

विवेचन—नरकों में दुर्गंध इतनी प्रबल होती है कि उसमें से यदि एक अणुमात्र दुर्गंध भी मनुष्यलोक में आ जाय तो सारे नगर के प्राणी क्षणमात्र में मर जाएं !! मानवी आयुष्य तो क्षय, महामारी आदि रोगों से या शस्त्राघात से नष्ट हो जाता है अतः सोपक्रम कहलाता है (बीच में नष्ट होने वाला) परन्तु नरक के जीवों का आयुष्य किसी भी दशा में नहीं टूटता है। शरीर के विभाग हो जाने पर भी फिर से वे पारे की तरह जुड़ जाते हैं। मनुष्य का आयुष्य तो वर्षों में गिना जाता

है जब कि उनका आयुष्य सागर वर्षों से मापा जाता है जिसका वर्णन उतराध्ययन सूत्र में इस प्रकार से बताया है एक योजन (८ मील) गहरा और इतना ही चौड़ा एक गोल खड्डा हो, उसे बालों के बारीक अग्रभागों से ठूंस ठूंस कर भर दिया जाय। प्रति सौ वर्ष के पश्चात बालों का एक एक टुकड़ा निकाला जाय, इस विधि से जब वह खड्डा खाली हो जाय तब उतने समय को एक व्यवहार पल्य कहते हैं।

ऐसे असंख्य व्यवहार पल्य = १ उद्धार पल्य।

असंख्य उद्धार पल्य = १ अद्धा पल्य।

१० × (१ करोड़ × १ करोड़) अद्धा पल्य = १ सागर

नरक भूमियों का स्पर्श करौती की धार से भी अधिक सख्त होता है। वहां की सर्दी के सामने उत्तरीध्रुव की सर्दी व गर्मी के सामने सहारा के रेगिस्तान की गरमी भी कुछ गिनती में नहीं है। वहां कोई क्षेत्र अत्यंत गर्म है जब कि कोई क्षेत्र अत्यंत सर्द है। वहां गरमी इतनी तीव्र होती है कि यदि उष्णक्षेत्र से एक नारकी जीव को मनुष्यलोक में लाकर खैर के लकड़ों की भट्टी में डाल दिया जाय तो उसे वहां इतना सुख महसूस होगा जैसे कि वह कमल की शैया में सोया हो, वहां वह छः माह तक सोता रहेगा उसे आग का असर ही नहीं होगा कारण कि इससे अनंतगुणी आग में वह रहता आया है।

दूसरी पीड़ा परमाधामी देवों की है। ये हलकी जाति के देव वहां जाकर उन जीवों को मारते हैं पीटते हैं, काटते

हैं, उनकी जीभ खेंच लेते हैं, उन्हें करौती से काटते हैं, तथा नाना प्रकार की पीड़ा देते हैं, फिर भी वे जीव मरते नहीं हैं, अनेक पीड़ाएं उठाते हुए भी उनके शरीर कायम रहते हैं।

तीसरी पीड़ा अन्योन्य है अर्थात पारस्परिक है। पूर्व भव के वैर को याद कर वे आपस में ही हरदम लड़ते झगड़ते रहते हैं तथा अत्यंत दुःखी होते हैं व दूसरों को दुःखी करते हैं।

इस गति में जाने का कारण क्रोध, अहंकार कपट, लोभ विषय की आसक्ति आदि है परन्तु हे मोहान्ध जीव ! ऐसा जानते हुए भी तुझे नरक का डर नहीं लगता है ! थोड़े समय तक मिलने वाला विषयजन्य सुख थोड़े समय में नष्ट भी हो जाता है लेकिन उस सुख से प्राप्त दुःख, सागर वर्षों तक समाप्त नहीं होता है, अब तेरी इच्छा हो उस तरह से आचरण कर ॥

तिर्यंच गति के दुःख

बंधोऽनिशं वाहनताडनानि, क्षुत्तृड् दुरामातपशीतवाताः।
निजान्यजातीयभयापमृत्युदुःखानि तिर्यक्ष्वपि दुस्सहानि ॥१२॥

अर्थ—निरंतर बंधन, भार वहन, ताड़न, भूख, प्यास, असाध्य रोग, गरमी, सरदी, हवा, अपनी व पराई जाति का भय, अकाल व दुर्दशा से मरण ये तिर्यंच गति के असह्य दुःख हैं ॥ १२ ॥ उपजाति

विवेचन—मनुष्य पशुओं से अनेक प्रकार से काम लेता है, वे मूक प्राणी विवशता से सब काम करते हैं व दुःख सहते हैं। उनका जीवन मनुष्य की कृपा पर आधारित है। सूर्योदय

से सूर्यास्त तक वाहन में जुते रहते हुए भी बैलों या घोड़ों की क्या दुर्दशा होती है ? उन्हें खाने को कितना दिया जाता है ? यह तो हम सभी जानते ही हैं। सरदी, गरमी या वर्षा के बचाव के लिए उनके पास क्या साधन हैं ? ओह ! मानव कितना क्रूर है। गाय, भैंस जब तक दूध देती है तब तक उसे भर पेट घास आदि देता है, पश्चात कम कर देता है। यद्यपि वह उसके बछड़े या पाड़े के लिए भी पर्याप्त दूध नहीं रखता है, वह पशु को भी धोखा देता है। बछड़े को छोड़कर गाय को विश्वास दिलाता है कि तेरा बच्चा ही दूध पिएगा लेकिन ज्योंही स्नेह के वशीभूत होकर गाय स्तनों में दूध उतारती है वह उसे जबरन खींचकर पास में ही बांध देता है व तमाम दूध निकाल लेता है। जब गाय भैंस दूध देना बन्द कर देती है तब पिछली तमाम सेवाओं को, दूध के दान तक को भुलाकर वह उस पशु को प्रकृति के भरोसे छोड़ देता है या कसाई को बेच देता है। उसकी ही दया के वशीभूत होकर धरती माता घास उगाती है, इन्द्रदेव जल बरसाते हैं, सूर्यदेव गरमी देते हैं, चन्द्रदेव शीतलता देते हैं, आकाश छाया देता है। इस प्रकार से मानव से (या दानव से) संतप्त प्राणियों की कुछ समय के लिए रक्षा होती है तो केवल प्रकृति देवी की कृपा से। बाकी मानव तो उन्हें मारकर खा तक जाते हैं। ओह ! जंगल में रहे हुए प्राणी स्वतंत्र तो हैं परन्तु आपसी वैर भाव से लड़ते हैं, तथा बड़े छोटों को मार खाते हैं। दुष्ट मानवों द्वारा शिकार व मनोरंजन के बहाने उनके प्राणों की आहुति होती है, कभी २ मात्र टांग या पंख ही टूट जाते हैं और निराधार

अवस्था में वे भूख प्यास से छटपटाते हुए मृत्युदेवी की शरण में जाते हैं। मानव की यह लीला तमाशे की वस्तु न होकर उस स्वयं को इसी गति में निश्चित निमंत्रण देती है।

ओह ! वे भोले हिरण या रोज़ जंगल में रोगासन्न हो जाते हैं तो उनको कौन दवा लाकर देता है ! कौन उन्हें घास लाकर डालता है, कौन उन्हें पानी पिलाता है। मूक पशु संवेदना से, पारस्परिक स्नेह से उस रोगी पशु के पास अल्पकाल के लिए चाहे स्थिरता कर सकते हों लेकिन न तो वे दवा ला सकते हैं न घास पानी ही पहुंचा सकते हैं, इतनी उनमें बुद्धि ही नहीं होती। इस प्रकार के अनेक कष्ट इस पशु पक्षी योनी में होते हैं। हे मानव! यदि तू सच्चा मानव है तो इन सबको शांत चित्त से विचार कर इस गति के अपने निश्चित गंतव्य (रिजर्वेशन) को खतम कर। इस गति में गया हुवा प्राणी यदि हिंसक शरीरधारी सिंह या व्याघ्र हुवा या विषैला सर्पादि हुवा तो कितने ही अन्य जीवों को मारकर नरक तिर्यंच योनि की घटमाला को बनाता रहता है अतः सावधान हो जा।

देवगति के दुःख

मुधान्यदास्याभिभवाभ्यसूया, भियोऽन्तगर्भस्थिति दुर्गतीनाम्।
एवं सुरेष्वप्यसुखानि नित्यं किं तत्सुखैर्वा परिणामदुःखैः ॥१३॥

अर्थ—इन्द्रादि की निष्प्रयोजन सेवा करना, पराभव, मत्सर, अंतकाल, गर्भस्थिति, एवं दुर्गति का भय। इस प्रकार

से देवगति में भी निरन्तर दुःख है। एवं जिस सुख के परिणाम से दुःख होता है उस सुख से भी क्या लाभ है ? ॥ १३ ॥

उपजाति

विवेचन—देवताओं की यह रीति है कि उन्हें अपने स्वामी इंद्र आदि की चाकरी करनी पड़ती है यद्यपि मनुष्य की तरह उनको सेवा का कोई परिणाम या वेतन आदि नहीं मिलता है फिर भी मजबूरन सेवा निश्चित है। बलवान देव कमजोर देव की देवी को उठाकर ले जाता है जिससे उसका पराभव होता है। ईर्षाग्नि से वे आपस में जलते रहते हैं। मरने का डर हर वक्त उन्हें भयभीत करता रहता है। पुष्पमाला का मुरझाना आदि चिन्हों से मृत्यु जानकर वे छः मास पूर्व से ही विलाप करना शुरू कर देते हैं। उन्हें देव गति का आयुष्य सम्पूर्ण कर अन्य गतियों में भी जाना पड़ेगा इसका डर लगा रहता है। उपदेशमाला में धर्मदासगणि ने कहा है कि:—

च्यवन के समय (देवायुष्य की समाप्ति व अन्यत्र जन्मने के पूर्व की अवस्था) अपना पूर्व का सुख व भविष्य में होने वाले दुःख का विचार कर देवता सिर फोड़ते हैं और दीवार से सिर टकराते हैं।

इस प्रकार से देवगति का सुख भी परिणामतः दुःख ही है।

मनुष्य गति के दुःख

सप्तभीत्यभीभवेष्टविप्लवानिष्टयोगगददुःसुतादिभिः ।
स्याच्चिरं विरसता नृजन्मनः, पुण्यतः सरसतां तदानय ॥१४॥

अर्थ—सात भय, अपमान, प्रिय वियोग, अप्रिय योग,

व्याधियां, कपूत संतान, आदि से मनुष्य जन्म भी लंबे समय तक कडुए ज़हर जैसा हो जाता है अतः इसीलिए पुण्य के द्वारा मनुष्य जन्म का मधुरपन प्राप्त कर ॥ १४ ॥ **स्वागता**

विवेचन—मनुष्य भव में ये सात भय—इस लोक का भय, परलोक का भय, चोरी का भय, अकस्मात का भय, आजीविका का भय, अपकीर्ति का भय और मृत्यु का भय बहुत पीड़ाकारी हैं। इन भयों के अतिरिक्त राज्य का भय, सेठ का या अफसर का भय, भी कम नहीं है। मानसिक दुःखों में मुख्य कारणभूत स्त्री-पुत्र का मरण, दुष्ट स्वभाव के स्त्री-पुत्र के साथ जीवन यापन, धन नाश, परदेश निवास, निसंतान-पन, दरिद्रपन आदि कलेजे को काटते रहते हैं। जब तक शरीर स्वस्थ है, धन की आय है या धन का संग्रह है तभी तक कुटुम्ब के लोग हमारी सेवा करते हैं और हमें प्रतीत होता है कि संसार स्वर्ग तुल्य है। परंतु जब शरीर अशक्त, रोगी या जर्जरित, हो जाता है, धन का कोष खतम हो जाता है तब कुटुम्ब का रोष बढ़ जाता है। वृद्धावस्था में प्रायः खांसी, दमा, ज्वर, अतिसार आदि रोग उत्पन्न होते ही हैं। मनुष्य कलेवर के ९ और स्त्री कलेवर के १२ स्थानों से अपवित्र वस्तु सतत् निकलती रहती है तब बच्चे व युवा, पुत्र पुत्री वृद्धों की हंसी करते हैं, उनसे घृणा करते हैं, उनकी आज्ञा की अवहेलना करते हैं। वे सोचते हैं कि बुढ़ा या बुढ़िया कब मरे और कब हम आराम से खाएं पीएं। यही प्रणाली इस संसार की परम्परागत है इस तरह

से मनुष्य भव में भी सुख नहीं है अतः इस शरीर से आत्म-कल्याण साध लेना चाहिए, यही इसका सदुपयोग है।

उक्त स्थिति दर्शन का परिणाम

इति चतुर्गतिदुःखततीः कृतिन्नतिभयास्त्वमनंतमनेहसम् ।
हृदि विभाव्य जिनोक्तकृतांततः, कुरु तथा न यथा स्युरिमास्तव १५

अर्थ—इस प्रकार से अनंत काल तक अतिशय भय देने वाली चारों गतियों के दुःखों की राशियों को केवली भगवान द्वारा फरमाए गए सिद्धांत के द्वारा हृदय में विचार कर। हे विद्वान ! ऐसा उपाय कर कि जिससे तुझे वे पीड़ाएं पुनः प्राप्त न हों ॥ १५ ॥ द्रुतविलंबित

विवेचन—शास्त्रों के अभ्यास से हमने यह जान लिया है कि चारों गतियों में किस प्रकार के दुःख हैं अतः अब उस ज्ञान के द्वारा हमें ऐसा उपाय करना चाहिए कि इन चारों गतियों में पुनः जन्म न होकर आत्मा ऐसी जगह पहुंच जाए जहां अनंत अव्याबाध सुख है, वह स्थान मोक्ष ही है।

पूरे अध्याय का सारांश

आत्मन् परस्त्वमसि साहसिकः श्रुताक्षै-
र्यद्भाविनं चिरचतुर्गतिदुःखराशिम् ।
पश्यन्नपीह न बिभेषि ततो न तस्य,
विच्छित्तये च यतसे विपरीतकरी ॥ १६ ॥

अर्थ—हे आत्मा ! तू भी गजब का साहसी है कारण कि भविष्य में लंबे काल तक होने वाले चारों गतियों के दुःखों को ज्ञानचक्षु से देखता हुवा भी उनसे डरता नहीं है, वरन विपरीत आचरण करता हुवा उन दुःखों के नाश का ज़रा भी उपाय नहीं करता हे ॥ १६ ॥ **वसंततिलका**

विवेचन—जो मनुष्य देखते हुए भी जानबूझकर अग्नि कुण्ड में, जलाशय में, नदी में या समुद्र में कूदता है वह साहसी तो है साथ ही महामूर्ख भी है। उसके उस साहस का परिणाम मुत्यु के सिवाय और कुछ नहीं है। इसी तरह से शास्त्रज्ञान रूप आंखों द्वारा चारों गतियों के दुःखों को देखता हुवा या संसार के स्वरूप को जानता हुवा भी जो उन दुःखों के नाश का उपाय नहीं करता है वह मूर्ख-साहसी है। मानव भव में ऐसी सुविधा मिल सकती है कि प्राणी सुख से आत्म कल्याण कर सकता है, लेकिन कब ? जब कि आत्मदशा का भान हो। शरीर व उसमें व्याप्त वस्तु (आत्मा) को अलग देखा जाय, दोनों के स्वरूप को पहचाना जाय, दोनों की गति का विचार किया जाय इसी का नाम "तत्त्व संवेदन ज्ञान" है जिससे हेय, (छोड़ने योग्य) ज्ञेय, (जानने योग्य) उपादेय (ग्रहण करने योग्य) का अंतर समझा जा सकता है।

यह प्राणी अनंत भवों से ऐसे कर्म परिणामों में फंसा हुवा है कि उसे अपने हिताहित का भान ही नहीं हो रहा है वह सांसारिक सुख दुःख के कारणों का भेद नहीं कर सकता

है। उसे तो सूखी हड्डी चबाते हुए कुत्ते की तरह विषय सेवन में आनंद आता रहता है जब कि कुत्ता यह नहीं जानता है कि खून हड्डी से नहीं वरन उसके मुँह से निकल कर उसे स्वाद दे रहा है उसी प्रकार से हम जिन विषयों में सुख महसूस कर रहे हैं वे विषय हमें निर्वीर्य या अशक्त कर हमारा आत्म नाश कर रहे हैं। अतः शास्त्रों को पढ़कर ज्ञान नेत्रों द्वारा संसार के स्वरूप को देखकर हमें समस्त दुःखों का अंत लाना चाहिए।

इति अष्टमोध्यायः

अथ नवमाश्चित्त

दमनाधिकारः

इन्द्रियों पर नियंत्रण, प्रमाद कषाय का त्याग, समभाव, आदि विषय में जो कुछ कहा उसका तात्पर्य यही है कि मन पर अंकुश रखना चाहिए। मन पर काबू न हो वहां तक शास्त्राभ्यास और धार्मिक बाह्य क्रियाएं भी योग्य फल की अपेक्षा अल्प फल देती हैं जब कि कभी कभी मन को वश में करने वाला प्राणी पराधीनता से पाप क्रियाओं में रत रहता हुवा भी अल्प दोष का भागी बनता है यह सूक्ष्म विषय इस ग्रंथ के मध्य बिंदुरूप अधिकार में बताते हैं जो कि पुस्तक के मध्य में ही आया है।

मन धीवर का विश्वास न करो

कुकर्मजालैः कुविकल्पसूत्रजैर्निबध्य
गाढं नरकाग्निभिश्चिरम्।
विसारवत् पक्ष्यति जीव ! हे मनः,
कैवर्तकस्त्वामिति मास्य विश्वसीः ॥ १ ॥

अर्थ—हे चेतन ! मनधीवर, (मन—मछलीमार) कुविकल्परूपी रस्सियों से बनी हुई कुकर्मरूप जाल बिछाकर उसमें तुझे मजबूत उलझाकर लंबे समय तक मछली की तरह से

नरक की अग्नि में तलेगा अतः तू उस (मन मछलीमार) पर विश्वास न कर ।। १ ।। वंशस्थवृत्तं

विवेचन .यह आत्मा भोली मछली की तरह है, जब कि मन मछलीमार की तरह है। जैसे मछलीमार बारीक डोरी की जाल बिछाकर मछली को फंसाता है बाद में उसे घर ले जाकर कढ़ाई में भूंजता है, ठीक उसी तरह से यह मन भी तरह तरह की कुविकल्परूपी डोरी से बनी जाल में आत्मा को फंसाता है और उसे नरकरूपी अग्नि में सेकता है। वास्तव में मन यदि काबू में न हो तो अनेक उत्पात मचाता है, तथा इन्द्रियों की सहायता से अनेक पापकारी काम करता है, यद्यपि करते वक्त वे काम मधुर मालूम होते हैं परन्तु बाद में कटु फल के देने वाले होते हैं अतः मन मछलीमार पर विश्वास नहीं करना चाहिए।

मन मित्र से अनुकूल होने की प्रार्थना

चेतोऽर्थये मयि चिरत्नसख्र प्रसीद,
किं दुर्विकल्पनिकरैः क्षिपसे भवे माम् ।
बद्धोऽञ्जलिः कुरु कृपां भज सद्विकल्पान्,
मैत्रीं कृतार्थय यतो नरकाद्बिभेमि ।। २ ।।

अर्थ—हे मन ! मेरे चिरकाल के मित्र ! मैं तुझसे प्रार्थना करता हूं कि मेरे पर कृपा कर ! मैं हाथ जोड़कर खड़ा हूं, मेरे पर कृपा कर, अच्छे विचार कर और अपनी लंबे समय की मित्रता सफल कर, कारण कि मैं नरक से डरता हूं ।।२।।

वसंततिलका

विवेचन—मन बड़ा समर्थ है अतः जबरदस्ती से वश में नहीं आता है अतः इसे प्रेमपूर्वक मनाने के लिए जीव ने प्रार्थना की है कि हे मेरे चिरकाल के मित्र (संज्ञी पंचेंद्रिय के समय से ही इसका साथ है) तू अपनी दोस्ती निभा और अपनी उच्छृंखलता द्वारा मुझे नरक में मत लेजा। मन के वश में नहीं रहने से नरक आदि कुगति मिलती है जिससे मैं डरता हूं।

मन पर अंकुश करने का सीधा उपदेश

स्वर्गापवर्गौ नरकं तथान्तर्मुहूर्तमात्रेण वशावशं यत्।
ददाति जंतो सततं प्रयत्नाद्वशं तदंतःकरणं कुरुष्व ।।३।।

अर्थ—वश और अवश मन क्षण में स्वर्ग–मोक्ष या नरक अनुक्रम से जीव को देता है अतः प्रयत्न करके तू उस मन को शीघ्र वश में कर ।। ३ ।। **उपजाति**

विवेचन—"मन एव मनुष्याणां कारणंबंधमोक्षयोः"। मन के कारण से ही मनुष्यों को मोक्ष या नरक मिलता है। प्रसन्नचंद्र राजर्षि का वृतांत स्पष्ट है। युद्ध में रत अपने पुत्रों का विचार करते करते वे स्वयं भी ध्यानावस्था में युद्ध करते हैं, जब शस्त्र खतम होते हैं तो शत्रु पर फेंकने के लिए मुकुट उठाने के लिए सिर पर हाथ ले जाते हैं पर वहां तो मुकुट के बजाय मुंडित सिर पर हाथ जाता है तब उन्हें भान होता है कि मैं तो दीक्षित हूं। मन वापस काबू में आता है और क्षण पूर्व जो उन्होंने सातवीं नारकी का बंध किया था वह केवल ज्ञान में बदल जाता है। एक दृष्टांत और देखिए। मगरमच्छ की आंख की पलक में एक चांवल जैसी छोटी सी

मछली—तंदुलमत्स्य—पैदा होती है और वहां बैठी २ वह क्या देखती है कि मगरमच्छ मछलियों को खाने के लिए मुंह खोलता है उसमें कई छोटी बड़ी मछलियां पानी के साथ मुंह में आ जाती हैं, मुंह बंद कर वह पानी निकाल देता है और मछलियों को रोक लेता है। ऐसा करते हुए दांतों के छिद्रों में से कई छोटी छोटी मछलियां बाहर निकल जाती हैं। वह तंदुलमत्स्य क्या सोचता है कि यदि मैं इतना बड़ा होता तो एक भी मछली को जाने न देता, ऐसा विचार करके वह तेतीस सागरोपम का सातवीं नरक का आयुष्य बांधता है। वह मछलियां खा नहीं सकता है फिर भी कुविकल्प से नरक भुगतता है,इसी तरह से हम भी कई कामों में प्रवृत्त न होते हुए भी कुविकल्प द्वारा नरक का आयुष्य बांधते हैं। दूसरी तरफ सदभाव से जीरण सेठ ने प्रभु महावीर को पारणा कराने की उत्कृष्ठ भावना भायी व उत्तम विचारों से चढ़ता हुवा बारहवाँ देवलोक का आयुष्य बांधा, यदि देव दुंदुभी न बजती तो वह मोक्ष पाता। अतः उत्तम फल की प्राप्ति के लिए मन को वश में करना आवश्यक है।

संसार भ्रमण का हेतु मन

सुखाय दुःखाय च नैव देवा, न चापि कालः सुहृदोऽरयो वा।
भवेत्परं मानसमेव जंतोः संसारचक्रभ्रमणैकहेतुः ॥ ४ ॥

अर्थ—इस जीव को सुख, दुःख न देव देते हैं न काल देता है, न मित्र देते हैं, न शत्रु ही देते हैं (परन्तु) मनुष्य को संसारचक्र में फिराने का मात्र एक कारण मन ही है ॥ ४ ॥

उपजाति

विवेचन—संसारी जीव को सदा अनेक दुःख होते रहते हैं। वह मानता है कि शायद कुल के देवी देवता असंतुष्ट हैं या ग्रह नक्षत्र विपरीत हैं या कोई अन्य दैवी दोष है। यह सब उसकी मान्यता गलत है। यह सब उसके कर्मों का परिणाम है। कर्म मन के परिणामों से बंधते हैं, मन को वश में करना स्वयं उसके हाथ में हैं। संसारचक्र एक बार गति में आने के बाद बड़ी मुश्किल से ठहरता है। एक चक्र दूसरे चक्र को पैदा करता है, एक संकल्प दूसरे विकल्प को पैदा करता है और जन्म मरण की परंपरा बढ़ती है अतः इस संसारचक्र को रोकने के लिए दो ही उपाय हैं एक तो मन को जबरदस्ती से वश में करना और दूसरा त्याग एवं तप द्वारा उसे निर्विकारी कर देना।

मनोनिग्रह और यम नियम

वशं मनो यस्य समाहितं स्यात्, किं तस्य कार्यं नियमैर्यमैश्च।
हतं मनो यस्य च दुर्विकल्पैः, किं तस्य कार्यं नियमैर्यमैश्च ॥५॥

अर्थ—जिस प्राणी का मन समाधियुक्त होकर अपने वश में होता है उसे फिर यम नियम से क्या लाभ ? और जिसका मन दुर्विकल्पों से आहत है उसे भी यम नियम से क्या लाभ ?

उपजाति

विवेचन—नियम पांच प्रकार के हैं। काया और मन की शुद्धि–शौच। सुलभ, प्राप्त साधनों से अधिक प्राप्त करने की अनिच्छा–संतोष। मोक्षमार्ग दर्शक शास्त्रों का अध्ययन या परमात्मा का जाप–स्वाध्याय। जो कर्मों को

तपाते हैं वे चांद्रायण आदि-तप। वीतराग का ध्यान-देवता प्रणिधान। यम भी पांच प्रकार के हैं—अहिंसा, सुनृत, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अकिंचनता।

जिसका मन सदा सब परिस्थियों में समाधि युक्त—समता युक्त रहता है उसे फिर यम नियमों से कोई प्रयोजन नहीं है एवं जिसका मन उद्विग्न या निरंकुश है उसे भी इन यम नियमों से कोई लाभ होने वाला नहीं है। यहां यम नियमों की अनावश्यकता न बताकर यह बताया है कि मन को वश किए बिना ये कुछ भी लाभ न देंगे। बाकी यम नियमों पर चलने से ही मन वश में होता है।

श्रीमद् यशोविजयीजी ने लिखा है कि:—

जब लग मन आवे नहिं ठाम,
तब लग कष्ट क्रिया सब निष्फल ज्यों गगने चित्राम॥

अन्यत्र भी शास्त्रकार कहते हैं कि:—

राग द्वेषौ यदि स्यातां, तपसा किं प्रयोजनम्।
तावेव यदि न स्यातां, तपसा किं प्रयोजनम्॥

अर्थात्—यदि राग द्वेष हैं तो तप से क्या काम है और यदि राग द्वेष नहीं हैं तो फिर तप से क्या काम हैं।

श्रीमद् यशोविजयजी ने फिर आगे लिखा है कि:—

"चित्त अन्तर पर छलवे कुं चितवत् क्या जपत मुख राम।

अर्थात चित्त तो दूसरे को ठगने में सोच रहा है, तब

मुंह से राम राम जपने से क्या लाभ होता है। "मुख में राम, बगल में छुरी ।।"

मनोनिग्रह बिना के दानादि धर्मों का व्यर्थपन

दानश्रुतध्यानतपोऽर्चनादि, वृथा मनोनिग्रहमंतरेण ।
कषायचिंताकुलतोज्झितस्य, परो हि योगो मनसो वशत्वम् ।।६।।

अर्थ—दान, ज्ञान, ध्यान, तप, पूजा आदि सभी मनोनिग्रह के बिना व्यर्थ हैं। कषाय से होने वाली चिंता और आकुल-व्याकुलता से रहित, ऐसे प्राणी के लिए मन को वश करना महायोग है ।। ६ ।। उपजाति

विवेचन—दान पांच प्रकार के होते हैं। किसी जीव को मरने से बचाना, अभय दान। सुपात्र को, सुसमय में, उत्तम वस्तु का सुरीति से दान करना—सुपात्रदान। दीन दुःखी पर दया कर दान देना—अनुकंपा दान। देव गुरू के निमित्त या प्रतिष्ठा आदि शुभ कार्यों में दान देना—उचित दान। यश कीर्ति के लिये दान देना—कीर्तिदान। प्रथम के तीन उत्तम कोटि के हैं जब कि बाकी के दो संसार के भोगफल देने वाले हैं।

ज्ञान में पठन पाठन, श्रवण, मनन आदि; ध्यान में धर्म-ध्यान शुक्ल ध्यान आदि। तप बारह प्रकार का है। पूजा, अष्ट प्रकारी; सतरभेदी चौसठ प्रकारी, नवाणु प्रकारी आदि द्रव्य पूजा।

ऐसे ज्ञान, ध्यान, पूजा आदि सब करते हुए यदि मन वश में है तभी सब सार्थक हैं, नहीं तो सब निरर्थक हैं।

श्री विनय विजयजी महाराज ने लिखा है:—

पढ़ो हो बहुत पाठ तप करो जैने पहार ।
मनवश किए बिनु तप जप बश हैं ।।

अर्थात चाहे जितना पढ़ो, खूब तप करो, परन्तु मन को वश किए बिना सब तप जप निरर्थक है ।

जिसने मन साधा उसने सब साधा

जपो न मुक्त्यै न तपो द्विभेदं, न संयमो नापि दमो न मौनम् ।
न साधनाद्यं पवनादिकस्य, किं त्वेकमंतःकरणं सुदान्तम् ।।७।।

अर्थ—न तो केवल जाप करने से ही मोक्ष मिलता है, न दोनों तरह के तप करने से ही मिलता है, न संयम, दम, मौन धारण, या पवनादि की साधना ही मोक्ष दे सकती है, परन्तु अच्छी तरह से वश किया हुवा अकेला मन ही मोक्ष को देता है ।। ७ ।। *उपजाति*

विवेचन—जिसने मन को वश में कर रखा है उसके लिए मोक्ष दूर नहीं है लेकिन जिसका मन निरंकुश है वह जो कुछ भी करता है सब व्यर्थ जाता है । परम योगी आनंदघनजी ने कुंथुजिन स्तवन में लिखा है कि:—

मन साध्युं तेणे सघलुं साध्युं, एह बात नहिं खोटी ।
ऐम कहे साध्युं ते नवि मानुं एक ही बात छे मोटी ।।
होकुंथुजिन ।।

जो मन के वश हुवा वह भटका

लब्ध्वापि धर्मं सकलं जिनोदितं, सुदुर्लभं पोतनिभं विहाय च ।
मनः पिशाचग्रहिलीकृतः पतन्, भवांबुधौ नायतिदृग् जडो जनाः ८

अर्थ—संसार समुद्र में भटकते हुए, महान कठिनता से जिन भाषित धर्मरूप जहाज को पाकर भी जो, मन रूप पिशाच के वशीभूत हो, उस जहाज को छोड़कर संसार समुद्र में गिरता है वह मूर्ख व अदूरदर्शी है ।

विवेचन—अगाध समुद्र को तरने के लिए जहाज की परम आवश्यकता है उसके बिना तरा ही नहीं जा सकता । यदि कभी कोई दुर्भाग्य से समुद्र में जा गिरता है और उसे जहाज का सहारा मिल जाता है फिर भी यदि वह किसी पिशाच के चक्कर में आकर उस जहाज को छोड़ देता है तब तो उसके जैसा अदूरदर्शी व महामूर्खाधिराज कौन होगा ? ठीक उसी तरह से हम सब भी संसार समुद्र में पड़े हुए हैं हमें वीतराग का उपदेश रूप धर्म जहाज मिला है फिर भी मनरूपी पिशाच के वश में होकर उस सद्धर्म रूप जहाज को छोड़कर फिर से संसार समुद्र में कूदते हैं अतः हम भी कम मूर्ख व अदूरदर्शी नहीं हैं । यह संसार समुद्र बड़ा गहरा व दुस्तर है कोई विरले ही तैरते हैं, जो प्रयत्न करता है वह सफल होता है अतः सब जीवों को इस संसार समुद्र से तैरने का प्रयत्न करना चाहिये ।

परवश मन वाले को तीन शत्रुओं से भय

सुदुर्जयं ही रिपवत्यदो मनो, रिपूकरोत्येव च वाक्तनू अपि ।
त्रिभिर्हतस्तद्रिपुभिः करोतु किं पदीभवन् दुर्विपदां पदे पदे ॥६॥

अर्थ—बड़ी मुश्किल से जीता जा सकने वाला यह मन शत्रु के जैसा आचरण करता है कारण कि वह वचन और

काया को भी दुश्मन बनाता है। ऐसे तीन शत्रुओं से हराया गया तू स्थान स्थान पर विपत्तियों का भाजन होकर क्या करेगा ? ॥ ९ ॥ वंशस्थ

विवेचन—एक शत्रु दूसरे दो और शत्रुओं को बढ़ाता है ऐसे शत्रु का विश्वास नहीं करना चाहिए। मन जब अपने वश में नहीं होता है तब वह सबसे बड़ा शत्रु बन जाता है और अपने स्वभाव के कारण वचन व काया को भी भड़का कर शत्रु बना देता है इस तरह से तीन शत्रुओं से आत्मा को भय बना रहता है। इन तीनों शत्रुओं से हारा हुवा तू (आत्मा) पद २ पर विपत्तियों का पात्र क्यों बनता है अर्थात् इन तीनों से कष्ट क्यों पाता है। यदि अकेले मन को ही वश में कर लेता है तो अन्य दो भी तेरे शत्रु नहीं बनेंगे और तुझे भी कष्ट नहीं मिलेगा अतः मन को ही वश में करने का प्रयत्न कर। इस एक को जीतने से वचन काया भी जीते गए जान।

मन के लिए उक्ति

रे चित्त वैरि तव किं नु मयापराद्धं,
यद्दुर्गतौ क्षिपसि मां कुविकल्पजालैः।
जानासि मामयमपास्य शिवेऽस्ति गंता,
तत्किं न संति तव वासपदं ह्यसंख्याः ॥ १० ॥

अर्थ—हे चित्त वैरि ! मैंने तेरा क्या अपराध किया है कि तू मुझे कुविकल्प जाल से बांधकर दुर्गति में फेंक देता है ? क्या तुझे ऐसा विचार आता है कि यह जीव मुझे छोड़कर

मोक्ष में चला जाने वाला है (अतः इसे पकड़ रखता है) ? परन्तु क्या तेरे रहने के और अनेक स्थान नहीं हैं ? ॥ १० ॥

वसंततिलका

विवेचन—जब मनुष्य का मन संसार से संतप्त होता है, तब उसे कुछ शांति की इच्छा जागृत होती है उस समय वह किसी निर्जन, एकांत स्थान में बैठकर विचार करता है कि मुझे यह दुःख क्यों हुवा ? विचारते विचारते भान होता है कि यह सब मैंने स्वयं ने किया है। मेरा मन मेरे वश में नहीं है। मैं चाहे जिससे हंसी मजाक करता हूं, चाहे जिसको अपना जानकर उससे परिचय बढ़ाता हूं, उससे संबंध स्थापित करता हूं परन्तु समय आने पर विपरीत परिणाम आते हैं। मेरे मन ने जितने अधिक लोगों से संपर्क बढ़ाया है उतना ही अधिक संताप यह पा रहा है। उन दुःखों के कारण कुविकल्प आते हैं और प्रतिक्षण मन क्षुब्ध व चिंतित रहता है और प्रभु का स्मरण होता ही नहीं है। अतः शांत स्थान में स्थिर चित्त से बैठकर ऊपर के श्लोक को विचारना चाहिए।

पराधीन मन वाले का भविष्य

पूतिश्रुतिः श्वेव रतेर्विदूरे, कुष्टीव संपत्सुदृशामनर्हः।
श्वपाकवत्सद्गतिमंदिरेषु, नार्हेत्प्रवेशं कुमनोहतोंगी ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस प्राणी का मन खराब स्थिति में होने से संताप देता रहता है वह प्राणी उस कुत्ते की तरह से तमाम आनंद से दूर रहता है जिसके कान में कीड़े पड़ रहे हों, वह

कोढ़ी की तरह से लक्ष्मी सुन्दरी का पाणिग्रहण करने में अयोग्य हो जाता है और चण्डाल की तरह से शुभ गतिरूप मंदिर में प्रवेश करने के लायक भी नहीं रहता है ॥ ११ ॥

विवेचन—परवश जीव की दशा इस श्लोक में स्पष्ट बताई है। वह कीड़ेयुक्त कुत्ते की तरह, निर्धनी कोढ़ी की तरह व घृणित चंडाल की तरह पद पद पर अपमानित होता है, एवं उसे जरा सी भी शांति नहीं मिलती है।

मनो निग्रह बिना के तप जप आदि धर्म

तपो जपाद्याः स्वफलाय धर्मा, न दुर्विकल्पैर्हतचेतसः स्युः।
तत्खाद्यपेयैः सुभृतेऽपि गेहे, क्षुधातृषाभ्यां म्रियते स्वदोषात् ॥१२॥

अर्थ—जिस प्राणी का चित्त दुर्विकल्पों से मारा गया है उसको तप जप आदि धर्म अपना फल नहीं देते हैं; ऐसा प्राणी अन्न-जलपूर्ण घर में भी अपने ही दोष से भूख और प्यास के मारे मर जाता है ॥ १२ ॥ **उपजाति**

विवेचन—कई बार जीवन में ऐसा होता है कि भोजन तैयार होने पर भी हम घरेलु झगड़ों के कारणों से विषाक्त होकर भूखों मरते रहते हैं। घर के लोग बार बार अनुरोध करते हैं, बच्चे गिड़गिड़ाते हैं, स्त्री पैरों पड़ती है फिर भी क्रोध दावानल से झुलसे हुए हम विक्षिप्त चित्त वाले होने से खाद्य पदार्थ की तरफ़ देखते भी नहीं हैं और हमारे ही कारण से घर के अन्य लोग भी भूखों मरते हैं। इस प्रकार के स्वभाव वाले मनुष्य स्वयं भी दुःखी होते हैं और दूसरों को

भी दुःखी करते हैं। वैसे प्राणी का मन दुर्विकल्पों से घिरा रहता है अतः उसके किए गए तप जप निष्फल जाते हैं।

मन के साथ पुण्य पाप का संबंध

अकृच्छ्रसाध्यं मनसो वशीकृतात्, परं च पुण्यं, न तु यस्य तद्वशम्।
स वंचितः पुण्यचयैस्तदुद्भवैः, फलैश्च हीहो हतकः करोतु किम् १३

अर्थ—वश में किए हुए मन से महान उत्तम प्रकार का पुण्य, बिना कष्ट के साधा जा सकता है। जिसका मन वश में नहीं है वह प्राणी पुण्य के समूह से ठगा जाता है और पुण्य से होने वाले फल से भी ठगा जाता है। अरे! अरे! ऐसा हतभाग्य जीव विचारा क्या कर सकता है?

वंशस्थविल

विवेचन—जिसका मन वश में नहीं है वह पुण्य के उत्तम फल के लोभ से कष्ट सहन करता है, तप करता है लेकिन मन में संकल्प विकल्प पैदा होते रहते हैं अतः उसे तप जप फल नहीं देते हैं। श्री चिदानंदजी ने कहा है कि:—

जब लग मन आवे नहिं ठाम,
तब लग कष्ट क्रिया सवि निष्फल ज्यों गगने चित्राम॥
वचन काय गोपे दृढ़ न धरे चित्त तुरंग लगाम।
ता मे तुंग न लहे शिव साधन, जिऊं कण सूने गाम॥

अर्थात जब तक चित्तरूप चंचल घोड़े की लगाम हाथ में नहीं है तब तक कष्ट क्रिया सब बेकार हैं जैसे कि आकाश में कल्पित चित्र निरर्थक है। जब तक मन, वचन और शरीर गुप्त (वश) नहीं है तब तक तुझे शिव (मोक्ष) नहीं मिल

सकता जैसे सूने, निर्जन गांव में से नाज का एक दाना भी नहीं मिल सकता है।

बिना मनोनिग्रह के विद्वान भी नरकगामी होता है

अकारणं यस्य च दुर्विकल्पैर्हतं मनः शास्त्रविदोपि नित्यम्।
घोरैरघैर्निश्चितनारकायुर्मृत्यौ प्रयाता नरके स नूनम्।।१४।।

अर्थ—जिस प्राणी का मन निरंतर खराब संकल्पों से आहत रहता है, वह प्राणी चाहे जैसा विद्वान भी हो तो भी भयंकर पापों से नारकी का निकाचित आयुष्य बांधता है और मृत्यु पाने पर अवश्य ही नरक को प्रस्थान करता है ।।१४।।

उपजाति

विवेचन—धर्म विद्या प्राप्त करने से जीव को संसार की वास्तविकता का भान हो जाता है, उसे जन्म मरण के कारणों की समझ आ जाती है फिर भी यदि मन सांसारिक विषयों में उलझा रहता हो और संकल्प विकल्प करता रहता हो एवं आत्महित के विचार न आते हों तो वह प्राणी अवश्य ही नरकगामी होता है। विशेष जानकार को विशेष सावधान रहना चाहिए कारण कि बाल (भोले) जीव उसका अनुकरण करते हैं यदि वह स्वयं जानते हुए भी यश आदि की कामना से वास्तविकता को छिपाता रहकर निरंतर कुविकल्पों से आहत रहता हो तो स्वयं भी डूबता है तथा औरों को भी डुबोता है। अतः सावधानी की आवश्यकता है।

मनो निग्रह से मोक्ष

योगस्य हेतुर्मनसः समाधिः, परं निदानं तपसश्च योगः ।
तपश्च मूलं शिवशर्मवल्ल्या, मनः समाधिं भज तत्कथंचित् ॥१५॥

अर्थ—मन की समाधि, योग का कारण है; योग, तप का उत्कृष्ट साधन है और तप, शिव सुख वल्ली का मूल है; अतः किसी भी तरह से मन की समाधि (एकाग्रता) रख ॥ १५ ॥ उपजाति

विवेचन—किसी वस्त्र पर कोई रंग चढ़ाना हो तो पहले उसे साफ करना चाहिए । उसका कच्चा रंग उड़े बिना नया रंग नहीं चढ़ सकता है । खेत को पहली फसल के ढूंठे निकाले बिना या उसे हमवार किए बिना या बार बार जोते बिना नई फसल नहीं उग सकती है ठीक उसी तरह से भवरूप अग्नि से दग्धप्राणी को यदि शांति की—मोक्ष की—अभिलाषा हो तो सर्व प्रथम मन को एकाग्र तथा राग द्वेष रहित करना चाहिए । मन की शांति या समता ही योग का कारण है, योग से तप किया जाता है । तप मोक्ष रूपी वेल की जड़ है अतः जैसे बने वैसे मन की एकाग्रता साधना चाहिए, यह तभी हो सकता है जब कि जन संपर्क व वस्तु परिग्रह कम किया जाय । सांसारिक विषयों में भटकने वाले मन की लगाम काबू में आए बिना समाधि नहीं हो सकती है ।

मनो निग्रह के चारउपाय

स्वाध्याययोगैश्चरणक्रियासु, व्यापारणैर्द्वादशभावनाभिः ।
सुधीस्त्रियोगी सदसत्प्रवृत्तिफलोपयोगैश्च मनो निरुंध्यात् ॥१६॥

अर्थ—स्वाध्याय, योग वहन, चारित्र क्रिया में व्यापार, बारह भावना और मन वचन काया की शुभाशुभ प्रवृत्ति के फलों के चिंतवन से सुज्ञ प्राणी मन का निरोध करता है।

विवेचन—मन को वश करने के चार उपाय बताए हैं (१) स्वाध्य अर्थात शास्त्राभ्यास। इसके पांच भेद हैं—पढना, प्रश्न करना, पुनरावर्तन, चिंतवन एवं धर्मकथा। योग-वहन अर्थात मूल सूत्रों के अभ्यास की योग्यता के लिए क्रिया व तप करना। ऐसा करने से ही शास्त्राभ्यास सुरीति से हो सकता है। (२) क्रियामार्ग अर्थात् धर्म क्रिया का करना। श्रावक—देवपूजा, छः आवश्यक, सामायिक, पौषध आदि करे। साधु—आहार निहार प्रतिलेखन, प्रमार्जन, कायोत्सर्ग आदि में काया की शुभ प्रवृत्ति रखे। (३) बारह भावना—भाना। १ अनित्य, २ अशरण, ३ भव, ४ एकत्व, ५ अन्यत्व, ६ अशुचि, ७ आश्रव, ८ संवर, ९ निर्जरा, १० लोकस्वभाव, ११ बोधी, १२ धर्म, ये बारह भावनाएं सदा मन में सोचते रहना। इनका अर्थ ऐसे भी क्रमशः हो सकता है; १ सर्वनाशवंत, २ निराश्रयता, ३ संसार रचना वैचित्र्य, ४ एकाकीपन, ५ स्वतंत्रता, ६ शरीर की अपवित्रता, ७ पापकर्म से संसार भ्रमण, ८ समता से कर्मबंध का अटकाव, ९ सर्वकर्म क्षय, १० चौदह राजलोक का स्वरूप चिंतन, ११ सम्यक्त्व पाने की दुर्लभता, १२ अरिहंत समान निरागी धर्मोपदेशक। इन

बारह भावनाओं से मन वश में आ सकता। (४) आत्मावलोकन—अर्थात शुभ प्रवृति का फल शुभ और अशुभ प्रवृत्ति का फल अशुभ होता है यह विचारना, अपने मन वचन काया की प्रवृति का अवलोकन करना यह चौथा उपाय है।

आज प्रायः हम सब ही इस प्रकार प्रमत्त व संसार प्रवृत हो रहे हैं कि हमें स्वयं का भान ही नहीं है। सुबह से शाम तक हम ऐसे लोगों के संपर्क में रहते हैं जो हमें सिवाय कमाने, खाने, नाटक, मोज, शौक करने के और किसी तरफ सोचने की फुरसत ही नहीं पाने देते हैं। हम स्वतंत्र आत्मा हैं हमारा अच्छा या बुरा हमें ही भुगतना पड़ेगा। अकेले आए हैं अकेले जावेंगे। वृद्धावस्था में या दुःख आने पर हमारा कोई सहायक न होगा। परिवार तो अपना स्वार्थ साध रहा है। यह सब सोचकर आत्महित करना चाहिए।

मनो निग्रह में भावना का महत्त्व

भावनापरिणामेषु, सिंहेष्विव मनोवने।
सदा जाग्रत्सु दुर्ध्यान—सूकरा न विशंत्यपि ॥ १७ ॥

अर्थ—मनरूपी वन में यदि भावना अध्यवसाय रूपी सिंह सदा जाग्रत रहते हों तो दुर्ध्यानरूपी सूअर उसमें प्रवृष्ट नहीं हो सकते ॥ १७ ॥ **अनुष्टुप**

विवेचन—जिस वन में केसरीसिंह जागता रहता हो उस वन में सूअर प्रवेश नहीं कर सकता है, वैसे ही जिसका मन सद्भावनाओं से व्याप्त रहता हो उसमें दुर्भावना आ ही नहीं सकती। मन को वन मानकर सदभावनाओं को

सिंह माना है और दुर्ध्यान को सूअर माना है। वास्तव में सद्भावना सिंह के समान है यह तो अनुभव से ही मालूम होगा। प्रार्थना में आता है कि:—

हम मगन भए प्रभु ध्यान में,
विसर गई दुविधा तन मन की—अचिरा सुतगुण गान में।

जिसका मन सदा सांसारिक विषय वासना से वासित रहता है या व्यापार धंधे में संलग्न रहता है या धन के लिए भटकता रहता है उसे धर्म की बातें सुनना पसंद नहीं है। उसे ये बातें पुराने लोगों की या पुराने जमाने की फालतू सी लगती हैं। लेकिन जिस भाग्यशाली का मन सदा आत्मा परमात्मा के विचार में रहता है, सदा स्व पर हित साधन के भावों से ओत प्रोत रहता है उसे सांसारिक बातें विष सामान प्रतीत होती हैं। सुखी व शांत रहने के लिए अर्थात शिवसाधन के लिए सद्भावना आवश्यक है।

सदा सर्वदा, सर्वसंयोगों में एक जैसा मन रखो

यह शिक्षा ग्रहण करो
इसका प्रयोग करो,
इसके अनुसार चलो,
इसके अनुसार बात करो
इस पर आधार रखो
इसमें विश्वास रखो

इति सविवरणश्चित्तदमननाम नवमोऽधिकारः

अथ दशमो

वैराग्योपदेशाधिकारः

मृत्यु की शक्ति, उस पर विजय और उस पर विचार

किं जीव माद्यसि हसस्ययमीहसेऽर्थान्,
कामांश्च खेलसि तथा कुतुकैरशंकः ।
चिक्षिप्सु घोरनरकावटकोटरे त्वा-
मभ्यापतल्लघु विभावय मृत्युरक्षः ॥ १ ॥
आलंबनं तव लवादिकुठारधाता-
श्छिदंति जीविततरुं न हि यावदात्मन् ॥
तावद्यतस्व परिणामहिताय तस्मि-
श्छिन्ने हि कः क्व च कथं भवतास्यतंत्रः ॥ २ ॥

अर्थ—अरे जीव ! तू क्या देखकर अभिमान करता है ? क्यों हंसता है ? धन और काम भोगों की इच्छा किस लिए करता है ? और किस पर निशंक होकर कुतुहल से खेल करता है ? कारण कि तुझे गहरे नरक के खड्डे में फेंक देने की इच्छा से मृत्यु राक्षसी बहुत तेजी से तेरे पास आती जा रही है, इसका तू विचार तो कर ॥ १ ॥

वसंततिलका

जब तक लव (दो घड़ी का सतरहवां भाग २ मिनिट ४९।। सेकिंड) आदि कुल्हाड़े के प्रहार तेरे आधाररूप जीवन वृक्ष को नहीं काट डालते तब तक हे आत्मा ! अपने हित के लिए प्रयत्न कर; उसके कट जाने के पश्चात् तू परतंत्र हो जाएगा और कौन जाने तू कौन (क्या) होगा और कहां होगा और किस तरह से होगा ?

विवेचन—क्या मृत्यु को किसी ने जीता है ? नहीं, मृत्यु ने सबको जीत रखा है। आज मानव अपने आपको वैज्ञानिक उन्नति के शिखर पर पहुंचा हुवा मानता है। क्या उसने मृत्यु पर काबू पा लिया है ? नहीं यह उसकी शक्ति से परे की बात है। आज की आधिभौतिक विद्या आध्यात्मिक विद्या से कोसों दूर रहती है। मानव यही मानता जा रहा है कि उसे मरना ही नहीं है। इसीलिए वह हर समय बेफिक्र होकर हंसता रहता है काम भोगों के साधन जुटाने में ही अपनी शक्ति का संचय करता है लेकिन वह यह सब जानते हुए भी मृत्यु को भुलाने का प्रयत्न करता है। जब मृत्यु देवी विकराल रूप से सामने आ उपस्थित होती है तब उसे होश आता है कि मैंने तो जीवन भर मौज शौक और राग रंग किये अब मेरा क्या होगा ? वह उस अनजान चूहे के बच्चे की तरह भूल में रहता है जो घर के अंधेरे कमरे में मौज से खाता पीता है व कुतर कुतर करता हुवा कपड़े आदि काटता है, उछलता है, कूदता है, आनंद मानाता है, उसके इस आमोद प्रमोद की प्रमत्त दशा का लाभ लेकर बिल्ली राणी चुपके चुपके

दबे पांव चौकन्नी होकर पास आ जाती है और अपने विकराल गाल में उस निरीह—बच्चे को दबा देती है। बस १-२ बार चूं चूं की आवाज के साथ वह मूर्ख बच्चा अपनी प्राण लीला समाप्त कर देता है। हे संसार लिप्त प्राणियो ! हम भी तो इस जीवन में अज्ञान रूपी अंधकार के कारण अपने आपको निडर, अमर सदा काल रहने वाला मान कर मनमानी रीति से चल रहे हैं। हम उस मृत्यु को नहीं देख रहे हैं जो तेज गति से हमारे पास आ रही है। जेब घड़ी या हाथ घड़ी हमारे पास सदा रहती है व सैंकेंड सैंकेंड पर टक टक करके चेतावनी देती है कि हे मानव तूने मेरा निर्माण किया है अतः मित्र के नाते तुझे सावधान करती हूं कि मैं उस सर्वशक्तिमान मृत्यु देवी की दूती हूं तो अजेय है, अवश्य तेरे पास आने वाली हैं और तुझे तेरे कर्मानुसार गति में ले जाने वाली है अतः जागृत रहकर अपने हित के काम को कर ले।

इस जीवन रूपी वृक्ष पर सैंकेंड २ रूप कुल्हाड़े का घाव पड़ रहा है और एक दिन वह वृक्ष अवश्य मेव कट कर गिर जाने वाला है। जब तक तेरा जीवन वृक्ष नहीं कट जाता है तब तक आत्म हित कर ले। उस वृक्ष के कट जाने के बाद तू परतंत्र हो जाएगा तुझ पर जबरदस्ती काल देव का शासन होगा तब कौन जाने तेरा क्या होगा ? तू किस दशा में होगा और किस दिशा में जाएगा, कैसी तेरी परिस्थिति होगी ? शायद तू यह माने हुए है कि ये आराम व आनंद

के सब साधन मेरे साथ चलने वाले हैं वे उस दूसरी दुनियां में भी मुझे खुश रखने वाले हैं। इसे तू भूल जा। तेरे ये रेडियो के तार मृत्यु के समय के बंधन होंगे। तेरे कर्ण प्रिय वाद्ययंत्र नरक की चीत्कारों व आक्रंदों में बदल जायेंगे। तेरे सब स्वजन संबंधी मृत्यु देवी के दूत के समान नजर आवेंगे। ओह जब ऐसा परिणाम अवश्यंभावी है तब क्यों न तू पहले से ही सावधान हो जाता है। सुबह से शाम तक तू जिस तरह अपना समय व्यतीत करता है इसकी दशा को बदल दे और आत्म मनन कर स्वहित साधन कर ले।

आत्मा के पुरुषार्थ से सिद्धि

त्वमेव मोग्धा मतिमान् त्वमात्मन्,
नेष्टाप्यनेष्टा सुखदुःखयोस्त्वम् ।
दाता च भोक्ता च तयोस्त्वमेव,
तच्चेष्टसे किं न यथा हिताप्तिः ॥ ३ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू ही मुग्ध (अज्ञानी) है और तू ही ज्ञानी है; सुख की इच्छा करने वाला और दुःख पर द्वेष करने वाला भी तू ही है; और सुख दुःख के देने वाला और भोगने वाला भी तू ही है तब स्वयं के हित की प्राप्ति के लिए प्रयत्न क्यों नहीं करता है ? ॥ ३ ॥ **उपजाति**

विवेचन—आत्मा में अनंत शक्ति है परन्तु अज्ञानादि के कारण कर्मों के पराधीन हुवा यह वास्तविकता को नहीं पहचान पा रहा है; अतः शास्त्रकार फरमाते हैं कि हे आत्मा तू सब कुछ करने में समर्थ है। सब प्रकार के अच्छे बुरे

फलों का निर्माण करने वाला भी तू ही है अतः पुरुषार्थ कर, शास्त्रसम्मत पथ पर चल और आत्म हित का प्रयत्न कर। आत्मा के सिवाय अन्य कोई वस्तु में ऐसी शक्ति नहीं है जो तुझे सुख दुःख से मुक्त कर सकती हो। श्री उत्तराध्याय सूत्र में वीर प्रभु ने फरमाया है:—

अप्पा नइ वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा काम दुहा धेणू, अप्पा मे नंदणंवणं॥
अप्पा कत्ता विकत्ता य दुखाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पठ्ठिय सुपठ्ठिओ॥

अर्थात—मेरा आत्मा ही नरक की वैतरणी नदी है, मेरा आत्मा ही कूट शाल्मली वृक्ष है। मेरा आत्मा ही स्वर्ग की कामधेनु है, मेरा आत्मा ही स्वर्ग का नंदन वन है। दुःखों और सुखों का कर्ता और विकर्ता भी आत्मा ही है। सन्मार्ग पर जाने वाला आत्मा ही मित्र है और उन्मार्ग पर जाने वाला आत्मा ही शत्रु है।

लोक रंजन और आत्मरंजन

कस्ते निरंजन चिरं जनरंजनेन,
धीमन् ! गुणोऽस्ति परमार्थदृशेति पश्य।
तं रंजयाशु विशदैश्चरितैर्भवाब्धौ,
यस्त्वां पतंतमबलं परिपातुमीष्टे॥ ४॥

अर्थ—हे निरंजन (निर्लेप)! हे बुद्धिमान! लम्बे समय तक जनरंजन करने से तुझे कौनसा गुण प्राप्त होगा यह परमार्थ दृष्टि से देख; एवं विशुद्ध आचरण द्वारा तू तो

उस पदार्थ का (धर्म का) रंजन कर जो संसार समुद्र में गिरते हुए तेरे निर्बल आत्मा का संरक्षण करने में सशक्त है ॥ ४ ॥ वसंततिलका

विवेचन—हे अकेले जन्मने व मरने वाले आत्मा ! तू दुनियां को खुश करने का काम किस लिए करता है इससे तुझे क्या लाभ होने वाला है। तू इस फालतू काम को छोड़-कर उत्तम धर्म को प्रसन्न रखने का प्रयत्न कर जो तुझे संसार समुद्र में गिरने व डूबने से बचाने वाला है। दुनियां के सामने तरह तरह के वेष परिवर्तन करके अपने आपको साधारण जनता से ऊंचा मानने का जो तेरा अभिमान है और उस अभिमान की पुष्टि के लिए सबके देखते हुए तेरे आचरण आहार-विहार जुदे रहते हैं और एकांत में या अपने समूह में जुदे रहते हैं इन हाथी के दो तरह के दांतों से जो खाने के और व दिखाने के और होते हैं इनसे तुझे कोई लाभ नहीं होने वाला है। तरह तरह के पद, छप्पय कविता, कथा, आदि कहकर बाहरीरूप से दुनिया के सामने जो तू विद्वान या वक्ता बनने का ढोंग किये फिरता है और तेरे अंदर की तो तू ही जानता है या परमात्मा जानता है कैसी दशा है ? इस बाहरी लोकरंजन से तू अपने आपको मत ठग, धर्म कर।

मद त्याग और शुद्धवासना

विद्वानहं सकललब्धिरहं नृपोऽहं,
दाताहमद्भुतगुणोऽहमहं गरीयान्।
इत्याद्यहंकृतिवशात्परितोषमेषि,
नो वेत्सि किं परभवे लघुतां भावित्रीम् ॥ ५ ॥

अर्थ—मैं विद्वान हूं, मैं सर्व लब्धिवान हूं, मैं राजा हूं, मैं दानी हूं, मैं अद्भुत गुण वाला हूं, मैं बड़ा हूं, इत्यादि अहंकार के वश होकर तू संतोष अनुभव करता है परन्तु परभव में होने वाले अपमानों (दुर्दशा-लघुता) को क्या तू नहीं जानता है ? ॥ ५ ॥ **वसंततिलका**

विवेचन—अहंकार, पतन की प्रथम सीढ़ी है। मनुष्य अपने आपको बहुत कुछ मानता है और फूला हुवा फिरता है, उसे ऐसा लगता हे कि मेरे जैसा बलवान, गुणवान या विद्वान कोई नहीं है। लेकिन संसार में एक से एक बढ़कर बैठे हैं। दूसरों से जब पराजय होती है तब आंखें खुलती हैं और अनुभव होता है कि मैं तो इसके सामने तुच्छ हूं। श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य ने योगशास्त्र में कहा है कि:—

जाति लाभकुलैश्वर्यबलरूप तपः श्रुतैः
कुर्वन् मदं पुनस्तानि हीनानि लभते जनः ॥

अर्थात जाति, लाभ, कुल, ऐश्वर्य, बल रूप तप और ज्ञान का मद करने से प्राणी उन्हीं उन्हीं वस्तुओं को आते भव में कम प्राप्त करता है। बल के अभिमान से रावण की, दान के अभिमान से बलि की, ऐश्वर्यरूप के अभिमान से सनत्कुमार की, बड़प्पन के अभिमान से स्थूलिभद्र की क्या दशा हुई यह तो प्रसिद्ध ही हे।

तुझे प्राप्त सुविधा

वेत्सि स्वरूपफलसाधनबाधनानि,
धर्मस्य, तं प्रभवसि स्ववशश्च कर्तुम् ।
तस्मिन् यतस्व मतिमन्नधुनेत्यमुत्र,
किंचित्त्वया हि न हि सेत्स्यति भोत्स्यते वा ॥६॥

अर्थ—तू धर्म का स्वरूप फल, साधन और बाधन जानता है, तू स्वतंत्र होकर धर्म करने में भी समर्थ है। अतः हे मतिमान ! तू अभी हो इसी भव में प्रयत्न कर क्योंकि आते भव में तेरे से कुछ भी सिद्धि नहीं हो सकेगी न तू उसे जान सकेगा ॥ ७ ॥ **वसंततिलका**

विवेचन—मनुष्य योनि में रहा हुवा ज्ञानवान जीव शास्त्रों के पठन व विद्वानों के संपर्क से धर्म का स्वरूप, फल, साधन, व धर्म में रुकावट करने वाली बाधाओं को जानता है। मनुष्य सब उपाधियों से मुक्त होकर धर्म करने की शक्ति भी रखता है। अतः शास्त्रकार फरमाते हैं कि हे बुद्धिमान ! तू इसी भव में प्रयत्न शुरू कर दे नहीं तो आते भव में तू कुछ भी साधन नहीं कर सकेगा न अपने आपको या उपरोक्त भावों को जान सकेगा। अज्ञान दशा में तू न मालूम कहां भटकता फिरेगा अतः इसी भव में धर्म साधन का प्रयत्न शुरू कर दे।

धर्म का स्वरूप—श्रावक धर्म या साधु धर्म का स्वरूप।

धर्म का फल—परंपरा से मोक्ष, तात्कालिक निर्जरा या पुण्य प्राप्ति।

साधन—चार अनुयोग, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अनुकूलता।

दुर्लभ प्राप्ति—मनुष्यपन, धर्मश्रवण, श्रद्धा और धर्म में वीर्य का स्फुरन।

बाधक—कुजन्म, कुक्षेत्र, प्रतिकूल द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव; प्रमाद।

धर्म करने की आवश्यकता—जिससे दुःख का क्षय

धर्मस्यावसरोऽस्ति पुद्गलपरावर्तैरनंतैस्तवा-
यातः संप्रति जोव हे प्रसहतो दुःखान्यनंतान्ययम्।
स्वल्पाहः पुनरेष दुर्लभतमश्चामिस्न् यतस्वार्हतो,
धर्मं कर्तुमिमं विना हि न हि ते दुःखक्षयः कर्हिचित् ॥७॥

अर्थ—हे चेतन ! अनेक प्रकार से बहुत दुःख सहते सहते अनंता पुद्गल परावर्तन करने के पश्चात अभी ही तुझे यह धर्म करने का अवसर प्राप्त हुवा है; वह भी थोड़े दिनों के लिए है और फिर पीछे बार बार ऐसा अवसर मिलना महान कठिन है; अतः धर्म करने में प्रयत्न कर। इसके बिना तेरे दुःखों का कभी भी अन्त नहीं आएगा ॥ ७ ॥

शार्दूलविक्रीडित

विवेचन—जीव, चौरासी लाख जीवायोनियों में भटकता हुवा कुदरती रीति से नदी के प्रवाह में घिसते घिसते गोल होते हुए पत्थर के न्याय से मनुष्य भव पाता है। मनुष्य भव कितना दुर्लभ है यह तो पहले आया ही है और आगे भी

आएगा ही। मनुष्य भव पाने के बाद भी बाल्यावस्था व वृद्धावस्था में तो कुछ भी धर्म साधन होता ही नहीं है। युवावस्था में मानव गृहस्थी के चक्कर में पड़ा रहता है, घर के बोझ व स्त्री पुत्र के लालन पालन की चिंता से उसे धर्म के लिए फुरसत ही नहीं मिलती है। इसके सिवाय दिन रात के चौबीस घंटोंमें से ६-७ घंटे सोने में, २-३ घंटे खाने पीने में, १-२ घंटे शौच स्नान आदि में बाकी समय व्यापार या नौकरी आदि में चले जाते हैं। इस तरह से बहुत ही लंबे समय के पश्चात (अनंत पुद्गल परावर्तन का समय बहुत ही लम्बा समय होता है गुरू महाराज से या शास्त्रों से जान लेवें) मिले हुए मनुष्य भव का तू सदुपयोग कर ले वरना दुबारा यह भव प्राप्त होना नितांत कठिन है।

अधिकारी होने का प्रयत्न कर

गुणस्तुतीर्वांछसि निर्गुणोऽपि सुखप्रतिष्ठादि विनापि पुण्यम्।
अष्टांगयोगं च विनापि सिद्धीर्वातूलता कापि नवा तवात्मन् ॥८॥

अर्थ—तू निर्गुणी है फिर भी गुण की प्रशंसा सुनना चाहता है। पुण्य के बिना सुख और सन्मान चाहता है एवं अष्टांग योग के बिना सिद्धियों की इच्छा रखता है। तेरा पागलपन तो कोई विचित्र सा लगता है ॥ ८ ॥

उपजाति

विवेचन—बड़े बड़े लोगों को मोटर में घूमते व बंगलों में रहते देखकर तू भी वैसी इच्छा रखता है परन्तु हे पुण्य-हीन तेरी यह अभिलाषा वृथा है। पुण्य के बिना सुख कहां ?

धन्नाजी व शालिभद्रजी के पुण्य कितने प्रबल थे। उनको सब ही सुख प्राप्त थे फिर भी इस सांसारिक सुख को छोड़कर अव्याबाध सुख की प्राप्ति के लिए उन्होंने कदम उठाया। तेरे में कोई गुण नहीं है, सन्मान योग्य कोई कला या विद्या भी नहीं है फिर भी प्रशंसा व सन्मान चाहता है यह तेरा पागलपन नहीं है तो और क्या है ? यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा व समाधि इन अष्टांग योगों के बिना तू सिद्धि चाहता है, यही तो विचित्रता है ? प्रत्येक वस्तु की अभिलाषा की अपेक्षा अधिकारी बनना चाहिए।

पुण्य के अभाव से अपमान और पुण्यसाधन का अनुकरणीयपन

पदे पदे जीव पराभिभूतीः, पश्यन् किमीर्ष्यस्यधमः परेभ्यः।
अपुण्यमात्मानमवैषि किं न, तनोषि किं वा न हि पुण्यमेव ॥९॥

अर्थ—हे जीव पद पद पर दूसरों द्वारा अपना अपमान देखकर तू अधमपन से उन पर ईर्षा क्यों करता है ? तू अपने आपके पुण्यहीनपन को क्यों नहीं देखता है अथवा पुण्य ही क्यों नहीं करने लग जाता है ? ॥ ९ ॥

उपजाति

विवेचन—अयोग्य होने से अपमान होता है अतः अपमान करने वाले पर ईर्षा करने एवं मन में आर्त्त रौद्र ध्यान करने की अपेक्षा उस अयोग्यता को मिटाने का उपाय करना चाहिए। गत भवों का पाप उदय में है अतएव अपमान होता है अतः उन समस्त भवों के पापों को मिटाने के लिए

पुण्य का सेवन करना चाहिए व ऐसे कर्म करने चाहिए जो पुण्यानुबंधी पुण्य कराने वाले हों वैसे कर्म, धर्म के आधारभूत ही हो सकते हैं।

पाप से दुःख और उसका त्याग

किमर्दयन्निर्दयमंगिनो लघून्, विचेष्टसे कर्मसु ही प्रमादतः।
यदेकशोऽप्यन्यकृतार्दनः सहत्यनंतशोऽप्यंग्ययमर्दनं भवे ।।१०।।

अर्थ—तू प्रमाद से छोटे छोटे जीवों को पीड़ा देने के कामों में निर्दयपन से क्यों प्रवृत्ति करता है? जो प्राणी दूसरे प्राणी को एक बार पीड़ा देता है वही पीड़ा उसे अनंत बार अन्य भवों में सहनी पड़ती है ।। १० ।। **वंशस्थविल**

विवेचन—प्रमादों का वर्णन पीछे आया है। उन प्रमादों से हम अनेक छोटे छोटे जीवों की हत्या नित्य प्रति करते रहते हैं और हमें उसका कुछ भी विचार ही नहीं होता है न भय ही लगता है। इससे भी बढ़कर दुःख की बात तो यह है कि कई प्रकार के मनुष्य जो जीवहिंसा के धंधे को अपनाए हुए हैं, जीवों को मार कर ही अपना और अपने परिवार का पेट भरते हैं वे कितने दया के पात्र हैं। ओह! उनके अंधकारपूर्ण क्रूर मन में जरासी दया की किरण भी नहीं है वे बेधड़क बकरे, पाड़े मछलियां आदि मारते हैं, खाते हैं और बेचते हैं। उनकी आत्मा पर पूर्ण तरह से परदा पड़ गया है व दिन प्रति दिन वह पर्दा तीव्रतर होता जाता है। शुरूआत में प्रत्येक पाप करते हुए आत्मा को आघात लगता है, भय लगता है उसी वक्त यदि मन की

तरंगों की परवाह न की जाय तो उस पाप से और भावी अनेक पापों से बचा जा सकता है लेकिन यदि मन की इच्छाओं की प्रबलता हो और वे आत्मा की बातों की परवाह नहीं करती हों तब तो उस पाप और अन्य पापों का भय मिटता जाता है और फिर तो पापों की शृंखला बढ़ती जाती है, गिनती ही नहीं रहती। किसी भारी पुण्योदय से किसी भव में जाकर आत्मा को साधारण सा भान होता है कि मैं बुरा कर रहा हूं मुझे सावधान होना चाहिए उस वक्त यदि सद्गुरू या सद्शास्त्रों का योग मिल जाता है तब तो आत्मा का अंधकार धीमे धीमे मिटने लगता है और ज्ञान का प्रकाश फैलते फैलते कुछ भवों में संपूर्ण ज्ञान दिवाकर का उदय हो जाता है अर्थात केवल ज्ञान हो जाता है।

हे प्राणी! मानवभव में तू यदि उस सुअवसर का अवलोकन करेगा तो एकदम प्रकाश नज़र आएगा और पिछले पापों को धोने की तुझे इच्छा उत्पन्न होगी यदि तू उस इच्छा के अनुसार चलेगा तो तेरे द्वारा किए गए अनेक भवों के अनेक पाप नष्ट हो जाएंगे। यदि तू ऐसा नहीं करता है तो यह जीवन भी भवों की परंपरा की एक संख्या को भुगताकर खतम हो जाएगा और तू फिर भटकता ही फिरेगा। इसी विषय में महावीर प्रभु के हस्त दीक्षित शिष्य धर्मदासगणि ने कहा है कि:—लकड़ी आदि का प्रहार, प्राण हरण, झूठा कलंक लगाना, परधन हरण आदि जो एक बार किए जाते हैं उनका कम से कम उदय (जघन्य उदय) दस बार तो

होता ही है और वे ही यदि तीव्र द्वेष से किए गए हों तो सौ, हजार, लाख और करोड़ बार भी उदय में आते हैं।

जैन शास्त्रों का मुख्य भार इसी पर है कि जीवों पर दया करो, स्वयं तरो और औरों को भी तारो।

प्राणी-पीड़ा और उसके त्याग की आवश्यकता

यथा सर्पमुखस्थोऽपि, भेको जंतूनि भक्षयेत्।
तथा मृत्युमुखस्थोऽपि, किमात्मन्नर्दसेऽगिनः॥ ११॥

अर्थ—जैसे सांप के मुँह में रहा हुवा भी मेंढक अन्य जन्तुओं का भक्षण करता है वैसे ही हे आत्मा! तू भी मृत्यु के मुख में रहा हुवा भी अनेक प्राणियो को क्यों पीड़ा देता है? ॥ ११॥ अनुष्टुप

विवेचन—स्वयं मौत के मुख में फंसा हुवा है, सांप निगलने की तैयारी में है ऐसी दशा में भी मुख के पास उड़ते हुए मच्छरों को मेंढक खुशी खुशी खाता है, मान लो उसे मौत का भय ही नहीं है। वैसे ही हे मानव! तू भी तो मृत्युरूपी विकराल काले सर्प के मुख में फंसा हुवा है फिर भी मौज शौक में मस्त होकर अन्य जीवों काभ क्षण कर रहा है बिचारे गरीबों का खून चूस रहा है! तेरी शिक्षा तुझे उन्मार्ग पर ले जा रही है जिससे मानव जाति के उपकार के बदले उनकी कठिन आवश्यकताओं व मुसीबतों का लाभ लेकर तू कानूनी दृष्टि से या वकालत से या डाक्टरी की विद्या से या व्यापार की कला से उनका गला घोंट

रहा है और उनसे मीठा रहता हुवा भी धीरे धीरे उनका द्रव्य हरण कर अपने लिए नए बंगले व मोटरें खरीदता है। उनकी प्राणप्रिय प्रियाओं और बच्चों का हिस्सा छीनकर उनको टुकड़ों का मोहताज कर देता है ? बिचारों के बदन पर जाड़े कपड़े भी नहीं रहने पाते। तू उन्हीं के धन पर मौज उड़ाता है एवं उनकी मूर्खता व अज्ञानता का लाभ उठाता है लेकिन विकराल काल तेरी इंतज़ार कर रहा है। फिर तेरे ये बंगले व मोटरें तो यहीं रह जायगी परन्तु तेरे काले कारनामें तेरे साथ जावेंगे और तुझे अनेक तरह के कष्ट देंगे। जन्म से अंधे, लंगड़े, बहरे, कोढ़ी व टीबी के रोगी और किसी धरती में से नहीं आते हैं, पापी ही तो मर-कर उस दशा को पाते हैं।

माना हुवा सुख—उसका परिणाम

आत्मानमल्पैरिह वंचयित्वा, प्रकल्पितैर्वा तनुचित्तसौख्यैः।
भवाधमे किं जन सागराणि, सोढासि ही नारकदुःखराशीन् १२

अर्थ—हे मनुष्य ! शरीर और मन के कल्पित सुखों द्वारा (जो कि बहुत ही कम हैं,) इस भव में तेरी आत्मा को ठग कर अधम भवों में सागरोपम तक नारकी के दुःखों को तू सहन करेगा ।। १२ ।। उपजाति

विवेचन—मनुष्य भी एक विचित्र प्राणी है। उसके सुख के साधनों और आशाओं का पार ही नहीं है। जिन्हें वह सुख मानता है थोड़े काल बाद वे ही दुःख के कारण बन जाते हैं। भूख से दुःखी था तो खूब पेट भर कर स्वादिष्ट

वस्तुओं को आकंठ खा गया, वे नहीं पची और दस्तें लगनी शुरू हुई, दवाइयां आने लगीं और वह रोग शैया पर जा पड़ा उसका सुख दुःख में पलट गया। मानव एकाकी व स्वावलंबी न रह सका एवं इन्द्रिय जनित काम विकार को न जीत सका अतः गृहस्थाश्रम को सुख का साधन मानकर उसने विवाह किया। पहले स्वयं के खाने पीने व रहने की चिंता थी अब दो की हुई। कमाई का अधिक भाग घरगृहस्थी के राच रचीले व सामान खरीदने में जाने लगा। उसने नया घर बसाया, बाल बच्चे हुए और उसकी चिन्तावेलड़ी के नई कूंपलें फूटने लगीं। कमाई उतनी हो, खर्च अधिक। कर्ज की रस्सी गले में बंधती है, धीरे धीरे वह फांसी का फन्दा बन जाती है। यह है मानव का माना हुवा सुख। तमाम दिन इसी उधेड़बुन में रहने से आत्मा परमात्मा के विषय में सोच ही नहीं पाता व जैसा आया था उससे भी खराब कर्म लिए चला जाता है परिणामतः अनेक अधोगतियों में कई तरह के कष्ट सहता है। अतः इस क्षणिक माने हुए सुख की अपेक्षा सच्चे सुख की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रमाद से दुःख—शास्त्रगत दृष्टांत

उरभ्रकाकिण्युदबिंदुकाभ्र, वणिक्त्रयीशाकटभिक्षुकाद्यैः।
निदर्शनैर्हारितमर्त्यजन्मा, दुःखी प्रमादैर्बहु शोचितासि ॥ १३ ॥

अर्थ—प्रमाद के द्वारा हे जीव ! तू मनुष्यभव को खो बैठता है और इससे दुःखी होकर बकरे, काकिणी, जलबिन्दु,

ग्राम, तीन वणिक्, गाड़ी चलाने वाले तथा भिखारी आदि के दृष्टांतों की तरह से बहुत दुःख पाएगा ।। १३ ।।

उपजाति

विवेचन–प्रमाद से यह जीव दुर्लभ मनुष्य भव को खो बैठता है और नीचे दिए गए दृष्टातों की तरह से पछताता है। ये दृष्टांत विशेषतः मनन करने योग्य हैं। टीकाकार कहते हैं कि प्रमाद के वशीभूत हुवा यह प्राणी सुकृत नहीं करता है जिससे मनुष्य भव से पतित होता है व दुर्गति में जाता है। वहां पछताता है जिससे कोई लाभ नहीं होता है। हमें भी मनुष्य भव मिला है अतः कहीं पीछे पछताना न पड़े इसलिए अभी से सावधान हो जाना चाहिए।

१. बकरे का दृष्टांत

किसी गांव में एक गृहस्थ के घर एक बकरा था जिसे बहुत खिलाया पिलाया जाता था। उसी के यहां एक गाय व बछड़ा था। बकरे की पूरी सार संभाल देखकर बछड़े ने गाय से कहा कि हे माता मुझे तो मालिक पूरा दूध व दाना पानी भी नहीं देता है जब कि इस बकरे की कितनी सार संभाल की जा रही है ?" मां ने कहा, "बेटे ! जैसे मृत्यु शैया पर पड़े असाध्य रोगी को सब कुछ खाने पीने की छूट दी जाती है और उसकी आशा तृष्णाएं पूरी की जाती हैं वैसे ही इस बकरे को भी मारने के लिए ही मोटा ताजा किया जा रहा है; तू देखना इसका क्या हाल होता है।" थोड़े दिनों के बाद वहां कोई बड़ा मेहमान आया उसके स्वागत के लिए उस बकरे

को मारा गया और उसका मांस भूनकर खाया गया। ठीक इसी तरह से हम भी यमराज के मेहमान के भोज्य बनने के लिए मस्त होकर खा पी रहे हैं, प्रमाद द्वारा उस बकरे की तरह मृत्यु का भान भूले हुए संसार में आनंद मना रहे हैं।

२. काकिणी का दृष्टांत

एक गरीब मनुष्य धन कमाने के लिए परदेश गया। वह महा मुसीबत से एक हजार स्वर्ण मुद्रा कमा घर लौटने लगा, रास्ते में खर्च करने के लिए एक मोहर के रुपये कराए व एक रुपए की ८० काकिणी (सिक्का) मिलती थी वह ले लीं। बाकी धन को एक बांस की नली में रख कर उसे अपनी कमर में बांध ली। चलते चलते उसके साथ वालों ने एक जगह पड़ाव डाला। वह गरीब हिसाब मिलाने लगा तो एक काकिणी कम हो गई। उसे याद आया कि पिछले पड़ाव पर एक वृक्ष के नीचे वह पड़ी रह गई है। उसने नली को एक वृक्ष के नीचे गाड़ दिया और उस एक काकिणी के लिए पीछे गया परंतु काकिणी वहां नहीं मिली। इधर लौटकर देखता क्या है कि वह बांस की नली भी नहीं है, किसी ने निकाल ली थी। इस तरह उस पुण्यहीन ने एक काकिणी के लोभ से एक हजार मोहरें खो डालीं। इसी तरह से संसार के काम भोग काकिणी तुल्य हैं और दुर्लभ मानवभव हजार मोहरों के तुल्य है जो महान कठिनता से कई भवों के बाद मिला है अतः इसका सदुपयोग कर लेना चाहिए।

३. जलबिन्दु का दृष्टांत

एक बार किसी मनुष्य को बहुत प्यास लगी, उसने किसी देव की उपासना की। देव ने उसे क्षीर समुद्र के किनारे ला छोड़ा। वह मनुष्य बोला कि मुझे तो मेरे गांव के बाहर घास की नोक पर पड़ी हुई मोती के समान जलबिंदुओं को पीने की इच्छा है अतः देव उसे वहां ले आया परन्तु हवा के कारण सब ओस बूंदे गिर चुकी थीं। देव उसे वहीं छोड़कर चला गया। उस मूर्ख ने क्षीर समुद्र के जल को छोड़कर ओस की बूंदों को पसंद किया परंतु वे भी नहीं मिलीं और वह प्यासा ही रहा। देव को प्रसन्न करके उसने कोई लाभ नहीं उठाया। जलबिंदु के समान विषय-कषाय, देवतुल्य सद् गुरू, क्षीर समुद्र तुल्य सम्यक् चरित्र समझें। जैसे वह मूर्ख मनुष्य दोनों तरफ़ से गया वैसे ही भोग ऐश्वर्य के वशीभूत हुए हम भी मानव-भव को खो रहे हैं, उसका लाभ नहीं ले रहे हैं।

४. आम्र का दृष्टांत

किसी राजा को आम खाने का बड़ा शौक था। एक बार उसे विशूचिका (पेचिस-दस्तें लगना) का रोग हुवा। उसने कई इलाज कराए, पर सब व्यर्थ गए। एक वैद्य ने कहा कि "यदि आप जीवन भर आम खाना छोड़ दो तो अच्छे हो सकते हो, जिस दिन आम खाओगे फिर विशूचिका हो जाएगी और आप अवश्य मर जाओगे"। राजा ने आम का त्याग किया। एक बार वह अपने मंत्री सहित जंगल में शिकार खेलने गया। वहां उसने सुन्दर आम देखे और उन्हें खाने की उसकी इच्छा तीव्र होती गई,

मंत्री ने मना किया लेकिन राजा माना नहीं और आम के लोभ को न रोककर मृत्यु को प्राप्त हुवा। जैसे राजा ने जिह्वा के वशीभूत होकर अपने प्राण खोए वैसे ही हम भी सब तरह के विषय कषायों के वश में होकर—कर्मों की असाध्य बीमारी की परवाह न कर मानव भव को खो रहे हैं। हमें आम रूप विषयों के लिए जीवन न खो देना चाहिए।

५. तीन व्यापारियों का दृष्टांत

एक व्यापारी के तीन पुत्र थे। उनकी परीक्षा लेने के लिए उसने प्रत्येक को एक एक हजार स्वर्ण मुद्राएं देकर कहा कि इस धन से गुजारा चला कर इतने समय बाद वापस घर आओ। पहला समझदार था उसे कोई शौक या दुर्व्यसन नहीं था अतः उसने व्यापार करके मितव्यता से पर्याप्त धन पैदा किया। दूसरे ने सोचा कि मूल को खर्च न कर सारे नफे व ब्याज से आनंद करूं। तीसरे ने सोचा कि खाओ पीओ लहर करो धन है जितने मौज उड़ाओ। उसने वैसा ही किया। निश्चित समय पर सब घर लौटे और पिता को अपना २ हिसाब बताया। पहले के पास खूब धन निकला, दूसरे के पास केवल मूल पूंजी ज्यों की त्यों पाई गई परन्तु तीसरे के पास से फूटी कौड़ी भी नहीं मिली। परिणामतः पहला धनवान व यशस्वी होकर स्तुति का पात्र बना, दूसरा साधारण स्थिति का माना गया और तीसरा निंदित होकर घर से निष्कासित हुवा। जो जीव मनुष्य भव पाकर धर्म ध्यान करते हैं वे प्रथम भाई के समान आते भव को सुखी करते हैं, जो

धर्म नहीं करते हैं लेकिन पाप भी नहीं करते हैं, वे द्वितीय के समान हैं। जो धर्म तो नहीं करते वरन अनेक पाप करते हैं, जीव हिंसा करते हैं झूठ कपट से व्यवहार करते हैं वे तीसरे भाई के समान मूल पूंजी (मानव भव) को खोकर नरक आदि की तैयारी करते हैं।

६. गाड़ीवान का दृष्टांत

एक गाड़ी वाला किसी गांव से दूसरे गांव को जा रहा था। उस गांव के दो मार्ग थे। एक पथरीला, खड्डे वाला व खराब था, दूसरा अच्छा था। दोनों को वह जानता था लेकिन वह जानबूझ कर प्रथम मार्ग पर अग्रसर हुवा। परिणामतः राह में पत्थरों के कारण गाड़े की धुरी (लोहे की धुरी जो दोनों पहियों को जोड़ती है—गाड़े का आधार) टूट गई और वह जंगल में अकेला ही भटकता रहा। इसी तरह से कई विद्वान व शास्त्रज्ञ धर्म के मर्म को जानते हुए भी विपरीत मार्ग अंगीकार करते हैं, वे जानते हैं, कि मोह और प्रमाद से संसार बढ़ता है यह मार्ग खराब है। दूसरा मार्ग शम, दम, दया, दान व धैर्य युक्त होने से पुण्य का है परन्तु प्रायः करके जानकार मनुष्य तक गाड़ी वाले की तरह प्रथम मार्ग का अनुसरण कर संसार वन में भटकते हैं।

७. भिक्षुक का दृष्टांत

एक दरिद्र भिखारी अन्न का भी मोहताज था। एक बार वह किसी यक्ष के मंदिर के पास सोया ही था कि क्या देखता है एक विद्यासिद्ध पुरुष घड़े की सहायता से इच्छित

वस्तु प्राप्त करता है। देखते ही देखते वहां एक सुंदर स्त्री व खाने पीने की सामग्री आ गई व सुबह होते ही वापस लुप्त हो गई। प्रातः काल उसने उस सिद्ध पुरुष की सेवा करके वह घड़ा प्राप्त किया जिससे वह भी अपने घर जाकर भव्य मकान व सुख सामग्री प्राप्त कर अच्छी स्थिति में आ गया। धन मिलते ही उसको दुर्व्यसनों ने आ घेरा, मौज शौक के सिवाय वह पापाचरण भी करने लगा व एक दिन मद्यपान करके उस घड़े को सिर पर लेकर नाचने लगा अंत में वह घड़ा फूटा और साथ ही उसका भाग्य भी फूटा। वह पहले जैसा था वैसा का वैसा निर्धन हो गया। यह मानव भव कामकुंभ है। जो सुख सामग्री पाकर उसके नशे में नाचते हैं वह मानव भव को व्यर्थ खोते हैं तथा उस भिक्षुक की तरह पछताते हैं।

८. दरिद्र कुटुम्ब का दृष्टांत

किसी गांव में एक दरिद्र कुटुम्ब रहता था। किसी त्योहार के दिन उस कुटुम्ब के लोग एक गृहस्थ के घर गए और दूध पाक (खीर) बनता हुवा देखकर उन्हें खाने की अभिलाषा हुई। घर आकर सबने निर्णय किया कि चाहे भीख भी मांग कर सब वस्तुएं लावें लेकिन दूध पाक जरूर बनाकर खावें। सब एक एक वस्तु मांग लाये और उन्होंने दूध पाक बनाया। जीवन में पहली बार उत्तम वस्तु बनाई थी अतः सबकी इच्छा अधिक से अधिक मात्रा में उसे खाने की हुई और भीख के प्रमाण से दूध पाक बांटने का उन्होंने विचार किया लेकिन समस्या आपस में न सुलझने से कचहरी की

शरण में गए और पीछे लौटकर क्या देखते हैं कि कुत्तों ने सब विवाद निपटा दिया है अर्थात उस विवाद की जड़ दूध पाक को वे चाट गए हैं। सबने पछतावा किया कि इतने कठिन परिश्रम से निर्लज्ज होकर भीख मांगकर भी जिस उत्तम वस्तु को जीवन में प्रथम बार बनाया उसे चख भी न सके। हाय हमारी आशा व महनत व्यर्थ गई। इसी प्रकार से हम भी महान प्रयत्न से मिले हुए मनुष्य भव को व्यर्थ न जाने दें, नहीं तो इस दरिद्र कुटुम्ब की तरह पछताना पड़ेगा।

९. दो वणिकों का दृष्टांत

किसी गांव में दो निर्धन वणिक रहते थे। उन्होंने एक यक्ष की उपासना कर उसे प्रसन्न किया। यक्ष ने कहा कि, "काली चवदस के दिन तुम एक एक गाड़ा तैयार कर रखना, मैं तुम्हें गाड़ों सहित रत्नद्वीप को ले जाऊंगा और दोपहर (६ घंटे) के बाद वापस यहां छोड़ दूंगा। तुम अपनी इच्छानुसार रत्नों से गाड़े भर लेना"। निश्चित दिन दोनों वाणिकों को रत्नद्वीप पहुंचाया गया। जैसे वे लोग वहां पहुंचे तो क्या देखते हैं कि दो सुन्दर पलंग सुगंधित पदार्थ से वासित हुए गदलों से ढके हुए बिछे हुए हैं, एक को बहुत नींद आ रही थी, उसने सोचा ६ घंटों में से एक घंटा नींद ले लूं बाद में रत्न एकत्रित करूंगा और वह सो गया। दूसरा तो उसी समय से ही रत्न बटोरने में उन्हें और गाड़े में रखने लगा। समय पूरा होने पर यक्ष ने दोनों को गाड़ों में डाला और जहां से चले थे वहीं छोड़ दिया।

परिणामतः दूसरा धनवान और सुखी हुवा। पहला जैसा था वैसा ही रहा और दूसरे की ईर्षा करने लगा एवं मिला हुवा अवसर खोकर पछताने लगा। इसी तरह से मानव भव का सदुपयोग न करेंगे तो हमें भी पछताना पड़ेगा। शुद्ध देव गुरू धर्म ये रत्नद्वीप हैं, धर्म ही धन है। जो सावधान होकर व प्रमाद छोड़ कर इस धन को एकत्रित करते हैं वे दूसरे वणिक की तरह सुखी होंगे और जो संसार की मोह निद्रा में सोते रह जाएंगे वे पहले की तरह पछतावेंगे।

१०. दो विद्याधरों का दृष्टांत

वैताढ्य पर्वत पर दो विद्याधर (देव) रहते थे। गुरू-जनों की सेवा कर उन्होंने विद्या प्राप्त की व उस विद्या की सिद्धि के लिए दो चण्डालों से विवाह की प्रार्थना कर दो कन्याएं प्राप्त कीं। ६ मास तक साधना करते हुए एक तो ब्रह्मचारी व दृढ़ रहा, दूसरा चंडाल कन्या के हाव भाव व मोह में फंस गया और चण्डाल कन्या के संसर्ग से भ्रष्ट होकर उस विद्या व पूर्व सिद्ध सभी विद्याओं को खो बैठा। प्रथम स्वस्थान में जाकर सब तरह से सुखी व राजा हुआ जब कि दूसरा चण्डाल बनकर वहीं रह गया। जैसे दूसरा विकार के वशीभूत होकर दोनों तरफ से भ्रष्ट हुआ और इन्द्रियों पर अंकुश रखने से पहला सुखी हुवा वैसे ही मनुष्य भी सब तरह के सन्मान व साधन मिलने पर जरा से लालच के कारण भ्रष्ट होता है और जीवन को घृणित व भ्रष्ट बना देता है। अतः हमें इस उदाहरण को पूरी तरह समझ कर मानव भव का सदुपयोग करना चाहिए।

११. भाग्यहीन का दृष्टांत

अनेक देवों को उपासना के पश्चात एक भिखारी को चिंता मणिरत्न (मनोवांछित देने वाला) की प्राप्ति हुई। एक बार वह जहाज में बैठा हुवा समुद्र की सफर कर रहा था। पूर्णचन्द्र को निर्मल आकाश में देखकर वह सोचता है कि चंद्र की कांति अधिक है या मेरे रत्न की, ऐसा सोचता हुवा वह उससे खेलता है, उसे उछालता है, परंतु अचानक वह रत्न समुद्र में जा गिरता है और वह पहले जैसा भिखारी बन जाता है मनुष्य भव में जैन धर्म चिन्तामणि रत्न के बराबर है। जो प्रमाद व कषाय के द्वारा इस धर्म रत्न को खो देता है वह मानव भव को खोकर नरक आदि में जाता है व दरिद्री की तरह अनेक भव भवान्तर में भटकता है।

शास्त्रकारों ने अनेक दृष्टांतों द्वारा हमारा उपकार किया है। सबका सार यही है कि विषयों के वश न होना, मन पर काबू रखना, अपनी जुम्मेदारी समझना, मनुष्यभव और देव गुरू धर्म की प्राप्ति की दुर्लभता समझ कर इन्हें व्यर्थ न जाने देना।

मनुष्य भव बार बार नहीं मिलता है अतः हर क्षण आत्म विचार करना चाहिए, आत्म निरीक्षण करते हुए और मोह मदिरा से दूर रहते हुए आते भव के लिए कुछ सत्कर्म कर लेना ही श्रेष्ठ है।

प्रत्येक इन्द्रिय से होने वाले दुःख पर दृष्टांत

पतंगभृंगैणखगाहिमीन द्विपद्विपारिप्रमुखाः प्रमादैः ।
शोच्या यथा स्युर्मृतिबंधदुःखैश्चिराय भावी त्वमपीति जंतो १४

अर्थ—पतंगिया, भमरा, हिरण, पक्षी, मछली, हाथी, सिंह आदि प्रमाद से एक एक इन्द्रिय के विषय पर वशीभूत होकर जैसे मरण-बंधन आदि दुःखों से पीड़ा पाते हैं वैसे ही हे जीव ! तू भी इन्द्रियों के वश में होकर चिरकाल तक दुःख (शोच्य) पाएगा ।

विवेचन—एक एक इंद्रिय के विषय मे लुब्ध होने से वाचा बिना के जन्तु भी किस प्रकार से दुःखी होते हैं यह नीचे बताया है जब कि हे मानव ! तूं तो पांचों इन्द्रियों के विषयों में लुब्ध बना रहता है तब तेरी कितनी दुर्दशा होगी ?

(१) पतंगिया—चक्षुरिंद्रय के वश में होकर दीपक की लौ में जल कर या दीपक में गिरकर मर जाता है । उसकी आंखें ही मृत्यु का कारण बनती हैं ।

(२) भंवरा—घ्राणेन्द्रिय (नासिका) के वश में होकर सुगंधी के मोह से कमल में बैठा रहता है । सूर्यास्त के साथ ही धीरे धीरे कमल की पंखुड़ियां बन्द होती जाती हैं, वह थोड़ा उड़ता है और यह सोचकर कि अभी तो बहुत दिन है, कमल भी बहुत खिला हुवा है—उसका द्वार खुला ही है, वह फिर से बैठ जाता है और मधुर रस का पान करता है । इस दशा में उसे भान भी नहीं रहता है कि कब सूर्य

ग्रस्त हुवा है और कब फाटक (वज्रपाट) बंद हो गया है। (लोहे के फाटक की अपेक्षा—स्त्रियों के लुभावने चितबन का कोमल द्वार वज्रतर है, वैसे ही भंवर के लिए कोमल कमल के पत्तों का द्वार वज्रमय समझना चाहिए) वह सोचता है, कल सूर्योदय होगा और कमल खिलेगा उस वक्त में निकल भागूंगा, लेकिन हाय ! रात को एक हाथी उस तलाब में आता है और कमल को सूंड से पकड़ कर भंवरे सहित उसे निगल जाता है। भंवरा बिचारा अपनी ही मोह दशा से काल के वश में हुवा। हे मानवी! तू भंवरा है, संसार कमल दल है, विषय वासना सुगंधित रस है, प्रभु जिन वर की वाणी सूर्य ज्योति है, प्रमाद कल्पना है, हाथी कालदेव है, यदि तू ज्ञान की ज्योति से देखता हुवा, संसार में सावधानी से चला तो ठीक है नहीं तो भंवरे की सी दशा तो तेरी निश्चित है ही। हे मोह के वशीभूत प्राणी जरा तो निर्मल बुद्धि से काम ले। जैसे कितने ही भंवरे हाथी के गंडस्थल से झरने वाले मद से आकर्षित होकर उसके मस्तक के चारों तरफ गूंजते हुए फिरते रहते हैं लेकिन जब हाथी कान फड़फड़ाता है तब एक ही झपट्टे में वे मर जाते हैं वैसे ही हे प्राणी तू भी सांसारिक सुखों के लिए सदा काल भटकता है लेकिन काल के एक ही सपाटे में मृत्यु को पाता है।

(३) हिरण—श्रवणेंद्रिय के वशीभूत होकर शिकारी की वंसी से आकर्षित होकर कैद में पड़ता है।

(४) पक्षी—रसनेंद्रिय के वशीभूत होकर दाना खाने के लोभ में शिकारी की जाल में फंस जाते हैं। दाना तो नजर आता है परंतु जाल नजर नहीं आती है। हमें धन तो नजर आता है लेकिन मौत नजर नहीं आती है। लोभी की एक ही आंख खुली रहती है।

(५) सर्प—कर्णेंद्रिय के वशीभूत होकर—सपेरे की पूंगी से आकर्षित होकर पकड़ा जाता है तथा बंधन या वध को पाता है।

(६) मछली—रसनेंद्रिय के वश से मच्छीमार के कांटे पर लगे हुए आटे को तो देखती है लेकिन कांटे को न देखकर प्राण खोती है।

(७) हाथी—स्पर्शेन्द्रिय के वशीभूत हुवा दूर खड्डे में खड़ी हथिनी को देखता है और उसके मूत्र को सूंघता हुवा वहां जाने का प्रयत्न करता है, घास से ढके हुए खड्डे का विचार नहीं कर सीधा भागता है और फंस जाता है। वह काम विकार से कैसी दुर्दशा को पाता है।

(८) सिंह—रसनेंद्रिय के वश हुवा सिंह जंगल में शिकारियों द्वारा रखे गए पिंजरे के पास आता है और उसमें रहे हुए बकरे की तरफ ललचाता है। जैसे ही वह उसमें घुसता है, फाटक बंद कर दिया जाता है। पिंजरे के दो भाग होने से बकरे के पास तो वह पहुंच नहीं पाता है, उल्टा स्वयं उसमें फंस जाता है।

इन दृष्टांतों से अवश्य शिक्षा लेकर हमें सावधान हो जाना चाहिए।

प्रमाद—त्याग

पुरापि पापैः पतितोऽसि दुःखराशौ पुनर्मूढ ! करोषि तानि।
मज्जन्महापंकिलवारिपूरे, शिला निजे मूर्ध्नि गले च धत्से ॥१५॥

अर्थ—हे मूढ़ ! पहले भी तू दुःख समूह में पड़ा है और फिर भी उनको (पापों को) कर रहा है। महा कीचड़ वाले पानी के प्रवाह में गिरते हुए वास्तव में तूने अपने गले और मस्तक पर बड़ी शिला धारण कर रक्खी है ॥ १५ ॥

उपजाति

विवेचन—हे मूर्ख ! तूने पहले भी पाप किए थे जिससे दुःख में पड़ा है और अब उनसे दूर रहने की अपेक्षा फिर भी वैसे ही किये जा रहा है जैसे कि कोई आदमी गंदे कीचड़ के नाले में अकस्मात जा गिरा हो और उसके गले में पत्थर बंधा हो व सिर पर शिला धरी हो तो वह वहां से निकलने की अपेक्षा अधिक अधिक गहरा जाएगा तथा उसका शव भी हाथ नहीं लगेगा। पापी डूबता डूबता भी ऐसे पाप करता है कि जिससे वह अधिकाधिक संसार के दुःखों में गिरता है।

सुख-प्राप्ति और दुःख-नाश का उपाय

पुनःपुनर्जीव तवोपदिश्यते, विभेषि दुःखात्सुखमीहसे चेत्।
कुरुष्व तत्किंचन येन वांछितं, भवेत्तवास्तेऽवसरोयमेव यत् ॥१६॥

अर्थ—हे जीव ! तुझे बार बार उपदेश दिया जाता है कि यदि तू दुःखों से डरता है और सुखों को चाहता है तो

कुछ ऐसा कर कि जिससे तुझे इच्छित फल की प्राप्ति हो ! तेरे लिए उसकी प्राप्ति का यही योग्य अवसर है ! ।। १६ ।।

वंशस्थ

विवेचन—सुख की प्राप्ति के लिए तुझे ऐसे सुयोग (पंचेंद्रियपन, आर्य क्षेत्र, मनुष्य भव, वीतराग का धर्म, सत्य उपदेशक) साधन मिले हैं अतः तुझे ऐसा (तप, संयम, धृति, व्यवहार शुद्धि, विरति) कर लेना चाहिए जिससे तेरा मनोवांछित (आत्मसुख सच्चिदानंद) प्राप्त हो । अवसर बीतने के बाद कुछ भी न होगा ।

सुख-प्राप्ति का उपाय

धनांगसौख्यस्वजनानसूनपि, त्यज त्यजैकं न च धर्ममार्हतम् ।
भवन्ति धर्माद्धि भवे भवेऽर्थितान्यमून्यमीभिः पुनरेष दुर्लभः ।। १७।।

अर्थ—धन, शरीर, सुख, सगे संबंधी और यह प्राण भी छोड़ देना, परंतु एक वीतराग अर्हंत परमात्मा के बताए हुए धर्म को न छोड़ना, धर्म से भवोभव में ये धनादि तो मिलेंगे लेकिन इन (धनादि) से धर्म मिलना दुर्लभ है ।। १७ ।।

वंशस्थ

विवेचन—ओह ! मानव प्राणी मूल को न देखकर केवल डाली व पत्तों की ही रक्षा करता है, वह शरीर व उसके आनंद के साधनों को जुटाने में व्यस्त रहता है लेकिन धर्म को कुछ गिनता ही नहीं है । बिना धर्म के ये सब वस्तुएं नष्ट हो जाती हैं अतः इन सबके मूल एक मात्र धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए, अन्य सब तो इसके आधार पर ही हैं, मूल

होगा तो पत्ते व डालियां सब अपने आप आते रहेंगे, अतः तू सर्वस्व भी छोड़ देना परन्तु धर्म को न छोड़ना।

सकाम दुःख सहन के लाभ

दुखं यथा बहुविधं सहसेऽप्यकामः,
कामं तथा सहसि चेत्करुणादिभावैः।
अल्पोयसापि तव तेन भवांतरे स्या-
दात्यंतिकी सकलदुःखनिवृत्तिरेव ॥ १८ ॥

अर्थ—जैसे तू कितने ही दुःख बिना इच्छा से सहता है वैसे ही यदि तू करुणा आदि भावना से इच्छा पूर्वक थोड़े से भी दुःख सहन करेगा तो अन्य भव में हमेशा के लिए सर्व दुःखों से निवृत्त हो जाएगा ॥ १८ ॥ **वसंततिलका**

विवेचन—हे प्राणी ! जैसे तू गृहस्थाश्रम को निभाने के लिए या अपने माने हुए बड़प्पन को टिकाए रखने के लिए या लोगों से सदा यशकीर्ति सुनते रहने के लिए, अच्छी आर्थिक स्थिति होते हुए भी और धन पैदा करता हुवा अनेक कष्ट व परिश्रम उठाता है। निर्धन होने पर धन की पूर्ति के लिए सर्दी गर्मी गुलामी आदि कष्ट व पराभव सहता है जो कि तुझे विवश होकर सहने पड़ते हैं, यद्यपि इन सबसे प्राप्त होने वाले अशांति मिश्रित पुद्गल पदार्थ तेरे लिए वास्तव में कुछ भी हित नहीं करने वाले हैं अतः यदि तू इच्छापूर्वक मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ इन चारों भावनाओं को भाता हुवा कष्ट सहता है या तप आदि करता है तो उस तप के प्रभाव से अन्य भवों में किसी भी प्रकार के

कष्ट तुझे नहीं होंगे और तू परम शांत, आनंद ध्रुव पद को प्राप्त करेगा।

सकाम शब्द का अर्थ यहां यह है कि इच्छापूर्वक समझ कर किया हुवा, बिना सांसारिक अभिलाषा का काम। पौद्गलिक पदार्थों की अनेच्छा व केवल कर्म क्षय की ही इच्छा से जान बूझकर जल्दी से जल्दी कर्म रहित होने के लिए किये जाने वाले तप सकाम हैं। जब आत्म जागृति प्राप्त हो जाती है तब बिना धारणा से भी शुद्ध बरताव ही होता है, तब कर्म क्षय की इच्छा भी नहीं रहती है। अकाम शब्द का अर्थ है बिना तप के, स्वभाव से ही कर्म का क्षय होना, जिस कर्म की जितनी स्थिति है वह भुगतने के बाद वह आत्मा से अलग हो जाता है। आत्म दशा का भान न होने से प्राणी ८४ लाख जीवा योनि में इसीलिए भटकता है और भटकते हुए नए कर्म बांधता जाता है, पिछले कर्म पूरे भुगत भी नहीं पाता है कि पल पल में नए बांधता जाता है अतः संसार का स्वरूप समझ कर सकाम निर्जरा से भवचक्र को समाप्त करना चाहिए। जैसे आम केला आदि फल वृक्ष पर लगे रहते हुए भी पकते हैं लेकिन उनका व्यापार करने वाले लोग पूरे पकने से पहले ही तोड़ कर उन्हें विधि से पकाते हैं व वृक्ष पर पकने के टाइम से पहले ही उनको पका लेते हैं वैसे ही आत्मार्थी लोग कर्म को रोते हुए भुगतने की अपेक्षा तप संयम द्वारा उसे शीघ्र नष्ट कर देते हैं इसी का नाम सकाम निर्जरा है। फलों का वृक्ष पर अपने अपने आप पकना यह अकाम निर्जरा का दृष्टांत है।

पाप कर्मों में चतुराई दिखाने वालों के लिए

प्रगल्भसे कर्मसु पापकेष्वरे, यदाशया शर्म न तद्विनानितम्।
विभावयंस्तच्च विनश्वरं द्रुतं, विभेषि किं दुर्गतिदुःखतो न हि १९

अर्थ—जिस सुख की इच्छा से तू पाप कर्मों में मूर्खता से लवलीन होता है, वे सुख जीवन के बिना किसी काम के नहीं हैं और जीवन तो शीघ्र नाश होने वाला है ऐसा जब तू समझता है तब हे भाई ! तू दुर्गति के दुःखों से क्यों नहीं डरता है ? ॥ १९ ॥ वंशस्थ

विवेचन—जब तक इस शरीर में सुख को अनुभव करने वाली शक्ति अर्थात आत्मा है तभी तक तेरे सुख काम के हैं मृत्यु के बाद वे साथ आते नहीं हैं परन्तु उन सुखों को प्राप्त करते हुए जो तू ने पाप, अनाचार, अत्याचार किए हैं वे तो साथ आवेंगे ही। जरा सोच, किसी न किसी प्रकार से एकत्रित किए गए तेरे आराम के साधन तो इस जीवन तक ही साथ रहेंगे लेकिन उनको प्राप्त करने में किए गए पाप कई भवों तक तेरे साथ रहकर तुझे उन सुख साधनों से दूर रखते रहेंगे। यह जीवन नाशवान होने से उन सबको तू छोड़कर जावेगा ही यह तू जानता भी है फिर भी दुर्गति से क्यों नहीं डरता है ? ओह ! इन पुद्गल पदार्थों के आकर्षण में तू कितना खो गया है। तू मानता है कि मैं मरूंगा ही नहीं और ये बंगले, मोटर रेडियो या बाग बगीचे हमेशा मेरे पास रहेंगे। तू भूला है, जिनको अपना मान रहा है वे तेरे हैं ही नहीं, तू मरा नहीं कि दूसरे मालिक बने

नहीं। तू ने तो व्यर्थ ही महनत करके इनका संग्रह किया है और सारा जीवन इस निरुपयोगी काम में लगाकर आत्महित कुछ भी नहीं किया है। इसको स्पष्ट करने के लिए एक दृष्टांत है कि—

एक सेठ ने बहुत सुन्दर फरनीचर, व सुख सामग्री वाला एक बंगला बनवाया। लोग उसे देखते और उसकी प्रशंसा करते जिसे सुनकर सेठ प्रसन्न होता था। अपनी प्रशंसा किसे अच्छी नहीं लगती है? एक दिन एक महंत उसके यहां आए। सेठ उनको भी वहां ले गया और प्रत्येक फरनीचर सामान आदि का परिचय देने लगा कि अमुक चीन का है, अमुक जापान का है आदि आदि। महंत कुछ बोले नहीं। सेठ ने पूछा कि महाराज आप कुछ भी नहीं बोलते हैं? महंत ने कहा कि, "और तो सब ठीक है तू ने बंगला बनाने में एक भारी भूल की है, वह यह है कि इसके दरवाजे क्यों रखे? इन्हीं दरवाजों में से एक दिन तुझे लोग बाहर निकालेंगे, तू वापस आना चाहता हुवा भी यहां न आ सकेगा।" सेठ को भान हुवा, उसकी आत्मदशा जागृत हुई और वह आत्महित में प्रवृत हुवा।

तेरे कर्म और भविष्य का विचार

कर्माणि रे जीव! करोषि तानि,
यैस्ते भवित्र्यो विपदो ह्यनंताः।
ताभ्यो भिया तद्दधसेऽधुना किं,
संभाविताभ्योऽपि भृशाकुलत्वम्॥ २०॥

अर्थ—हे जीव तू कर्म तो ऐसे करता है जिनके द्वारा तुझे भविष्य में अनंत आपत्तियां हों तब होने वाली आपत्तियों के भय से तू अभी ही अत्यंत आकुल व्याकुल क्यों नहीं होता है ? ॥ २० ॥ इंद्रवज्रा

विवेचन—शास्त्रपठन से विदित होता है कि जीव को नरक या तिर्यंच में किस प्रकार के कष्ट सहन करने पड़ते हैं और वह यह भी जानता है कि किन कर्मों से नरक तिर्यंच गति मिलती है फिर भी उन कर्मों से दूर नहीं रहता है। यदि वह उनसे दूर रहता तो संसार के दुःख कभी के मिट गए होते। जिन दुःखों को सुनने मात्र से ही रोमांच हो जाता है वे दुःख जिन पापकर्मों से होते हैं उन पाप कर्मों को करना तू छोड़ दे फिर दुःख का डर ही नहीं रहेगा, तेरी सब व्याकुलता नष्ट हो जाएगी।

साथी की मृत्यु से शिक्षा

ये पालिता वृद्धिमिताः सहैव, स्निग्धा भृशस्नेहपदं च ये ते।
यमेन तानप्यदयं गृहीतान्, ज्ञात्वापि किं न त्वरसे हिताय ॥२१॥

अर्थ—जो तेरे साथ पाले पोषे गए और बड़े भी तेरे साथ में ही हुए, एवं जो तेरे अत्यंत स्नेही थे तेरे प्रेम पात्र थे उनको यमराज ने निर्दयपन से छीन लिया है, ऐसा जानकर भी तू आत्महित करने के लिए जल्दी क्यों नहीं करता है ? ॥२१॥ उपजाति

विवेचन—हमारे बचपन के साथी, सहपाठी, मित्र, सगे संबंधी, कुटुम्बी, प्रिया, आत्मज सभी को काल ने निर्दयपन

से ग्रहण कर लिया है। देखते ही देखते वे मर गए हम रोते रह गए। कोई घर पर मरा, कोई परदेश में मरा, कोई डूब कर मरा, कोई जलकर मरा, कोई टो० बी० से मरा तो कोई हैजे से मरा। कइयों को हमने चित्ता में रखकर अपने हाथों से जलाया, निरीह बच्चों को जमीन में गाड़ा उस वक्त तो वैराग्य उत्पन्न हुवा कि संसार असार है, सब झूठा है लेकिन फिर गांव की हवा लगी नहीं कि विचार बदल गया। हम भूल जाते हैं कि हमें भी मरना है ? चाहे भूलें चाहे याद रखें, सावधान रहें या असावधान निश्चित ही एक न एक दिन तो हमको मृत्यु का महमान बनना ही है तो फिर क्यों न दूसरों की मृत्यु से शिक्षा प्राप्त कर बार बार जन्मने-मरने की उपाधि में से बाहर निकलें, अर्थात मोक्ष का प्रयत्न क्यों न करें।

पुत्र-स्त्री या संबंधी के लिए पाप करने वालों को उपदेश

यैः क्लिश्यसे त्वं धनबंध्वपत्य यशःप्रभुत्वादिभिराशयस्थैः।
कियानिह प्रेत्य च तैर्गुणस्ते, साध्यः किमायुश्च विचारयैवम् २२

अर्थ—आशा और कल्पना में रहे हुए धन, सगे संबंधी, पुत्र, यश, प्रभुत्व आदि से तू क्लेश पाता है, परन्तु तू विचार तो कर कि इस भव में और परभव में उनसे कितना लाभ उठाया जा सकता है और तेरा आयुष्य कितना है ? ।। २२ ।।

उपजाति

विवेचन—अपने माता पिता, पुत्र, स्त्री, संबंधी को प्रसन्न रखने के लिए या उनके लिए व धन कमाकर व भवन बनाकर

अनेक प्रकार की सुख सामग्री छोड़कर जाने के लिए हम सदा मेहनत करते हैं परन्तु अपने लिए कुछ भी नहीं करते हैं हम सोचते हैं कि जरा से व्यवस्थित हो जावें तब धर्म करेंगे लेकिन कालदेव हमारे लिए प्रतीक्षा नहीं करेगा, चाहे हमारा काम पूरा हो या अधूरा वह तो ले ही जावेगा अतः इन माने हुए सुखों में लिप्त न होकर आत्म हित कर लेना चाहिए।

परदेशी पथिक का प्रेम, हितशिक्षा

किमु मुह्यसि गत्वरैः पृथक् कृपणैर्बंधुवपुःपरिग्रहैः।
विमृशस्व हितोपयोगिनोऽवसरेऽस्मिन् परलोकपांथ रे ॥२३॥

अर्थ—हे परलोक के पथिक ! अलग अलग चले जाने वाले और तुच्छ स्वभाव के बंधु, शरीर और वैभव से तू क्यों मोहित होता है? इस समय में (पर भवरूपी विदेश यात्रा में) तेरे सुख में जो वास्तविक वृद्धि कर सकते हों ऐसे उपायों का विचार कर ॥ २३ ॥ **गीति**

विवेचन—रात्रि को विश्राम लेने वाले सराय के मुसाफिरों की तरह या जंगल में चरते हुए दुपहर को आराम लेने वाले पशुओं की तरह या रेल्वे प्लेट फार्म पर गाड़ी की प्रतीक्षा करने वाले मुसाफिरों की तरह ये तेरे कुटुंबी बंधु-बांधव भी सदा साथ रहने वाले नहीं है सब ही अलग अलग गति में जाने वाले हैं, तेरा इनका संपर्क अल्पकाल के लिए है अतः तू उनके मोह जंजाल से दूर रहकर अपने गंतव्य को सुधार ले। हे परभव के पथिक ! तू अकेला आया है और अकेला जाएगा, तेरा कोई साथ देने वाला नहीं है अतः अपना भला

बुरा विचार कर सच्चा उपाय कर नहीं तो वह समय समीप आ रहा है जब कि तुझे यहां से कूच करना है और यहां के किए हुए भले बुरे कर्मों को भुगतना है।

आत्म-जागृति

सुखमास्से सुखं शेषे, भुंक्षे पिवसि खेलसि।
न जाने त्वग्रतः पुण्यैर्विना ते किं भविष्यति ॥ २४ ॥

अर्थ—(अभी तो) सुख से बैठता है, सुख से सोता है, सुख से खाता है, सुख से पीता है और सुख से खेलता है, परन्तु भविष्य में पुण्य के बिना तेरे क्या हाल होंगे यह मैं नहीं जानता हूँ ॥ २४ ॥ अनुष्टुप

विवेचन—जैसे किसी दरिद्री भिखारी को कुछ रुपये मिल जाय और वह उन रुपयों को एक ही दिन में खाने पीने व मौज में उड़ा दे उसकी कल क्या स्थिति होगी जिसका भान उसे नहीं है, वैसे ही तू भी सांसारिक मौज शौक में मस्त होकर खा पी रहा है और अपने पुण्य धन को खर्च कर रहा है भविष्य के लिए नए पुण्य नहीं बांध रहा है इसलिए मैं नहीं जानता हूं कि तेरी क्या दशा होगी ?

थोड़े कष्ट से तो डरता है और बहुत कष्ट हों, वैसा करता है

शीतात्तापान्मक्षिकाकत्तृणादि स्पर्शाद्युत्थात्कष्टतोऽल्पाद्बिभेषि।
तास्ताश्चैभिः कर्मभिः स्वीकरोषिः श्वभ्रादीनां वेदना धिग् धियं ते

अर्थ—सर्दी, गर्मी, मक्खियों के डंक और कठोर तृण के स्पर्श से बहुत थोड़े और अल्प काल तक रहने वाले कष्ट

से तो तू डरता है और जब कि तेरे खुद के कृत्यों से होने वाले नरक निगोद के महाकष्ट को अंगीकार करता है। धिक्कार है तेरी बुद्धि को ।। २५ ।। शालिनी

विवेचन—तू सर्दी, गर्मी को दूर हटाने के लिए आधुनिक साधनों का उपयोग करता है, कमरे में एक भी मच्छर या मक्खी न आ जाय उसका ध्यान रखता है (कोई २ तो जन्तु नाशक पदार्थ भी छिड़काते हैं) और हर प्रकार से कष्ट से दूर रहने का उपाय करता है, जाड़े कपड़े और मोटे अन्न तुझे नहीं रुचते हैं, मोटी रोटी और सादे आहार से तुझे घृणा है, इतने आराम से तू रहना चाहता है लेकिन इन थोड़े से कष्टों की चिन्ता करने वाले हे बुद्धिमान, तू अपने ही कुकृत्यों से बहुत कष्टदायी और बहुत लम्बे समय तक भुगते जाने वाले महा दुःखों का संग्रह कर रहा है, धन्य है तेरी बुद्धि को ! येन केन प्रकारेण धन पैदा कर तू यश पाना चाहता है, बुद्धिमानी से गरीबों को चूसकर दिखावे के लिए अस्पताल खोलता है, दान की बड़ी बड़ी रकमों की घोषणा करता है परन्तु हे मित्र तेरे यह लोक दिखावे के कारनामे असली पाप को धो नहीं सकेंगे अतः तू तपस्या द्वारा अपने दुष्ट कर्मों को हटा । साधु अवस्था में छुपे अनाचारों या व्यभिचारों से बचकर रह, तेरा यह वेश चाहे अन्य लोगों की आंखों में धूल डालता हो लेकिन तेरी खुद की आंखों के लिए तो अंजन का काम देगा । तू जरा सा तप करता है तो श्रावकों से अठाई महोत्सव कराता है, बड़ी बड़ी कुंकुम पत्रिकाएं

छपवाता है और अपने नाम की कीर्ति दिगंत में पहुँचाता है, इससे तेरा स्वयं का हित कुछ भी नहीं है अतः हे बुद्धिमान इन तपादि के साधारण कष्टों से जिन्हें तू जानबूझकर सहता है, मत डर और नरकादि महान कष्टों से दूर रहने का उपाय कर। तेरी माला, पाठ पूजा ओलियां या उपधान तुझे तब तक नहीं बचा सकेंगे जब तक कि तू उन्हें समझकर वीतराग के फरमाए हुए मार्गों व भावनाओं से न करेगा, यदि दिखावा किया तो उनका फल कपूर की तरह उड़ जाएगा और तेरा सहन किया हुवा कष्ट निरर्थक जाएगा अतः आत्म जागृति से क्रिया सब कर, कष्ट सहन कर, डर मत, कल्याण निश्चित है।

उपसंहार—पाप का डर

क्वचित्कषायैः क्वचन प्रमादैः, कदाग्रहैः क्वापि च मत्सरार्द्यैः।
आत्मानमात्मन् कलुषाकरोषि, विभेषि धिङ् नो नरकादधर्मा २६

अर्थ—हे आत्मन् ! कभी कषाय करके, कभी प्रमाद करके, कभी हठ करके और कभी मात्सर्य करके तू अपने आपको मलिन (अपने आत्मा को कलुषित) करता है ! अरे तुझे धिक्कार है। तू ऐसा अधर्मी है कि नरक से भी नहीं डरता है ? ॥ २६ ॥ उपजाति

विवेचन—संसार में रहते हुए अनेक कारणों से तू अपने आपको कलुषित करता है व सच्ची शांति को खो देता है। तेरे पर एक ऐसा नशा छाया रहता है कि तू अपने आपको

भूल जाता है और धन, धान्य, स्त्री पुत्र, आदि के लिए अनेक तरह की मेहनत करता है। तुझे ऐसा प्रतीत होता है कि, "मैं कभी मरूंगा ही नहीं, मेरे किए हुए अच्छे बुरे कामों का फल मिलेगा ही नहीं, जो कुछ मैं कर रहा हूं वह सब ठीक है," परन्तु हे सच्चिदानंद आत्मा ! तू जाग, मोह नींद को त्याग कर विवेक दृष्टि से देख कि वास्तविकता किसमें है ! इलायची कुमार मोहांध होकर बारह वर्ष तक नट कन्या से विवाह करने के विचार से ज्ञान शून्य रहा—उस नशे में उसने घर-बार, माता-पिता, धन-संपत्ति, लोक-लाज सब छोड़ दी, परन्तु जब खेल करते हुए बांस पर चौथी बार चढ़ता है और एक मुनिवर को रूप सुंदरी के सन्मुख एकांत में नत नयना देखता है, तब उसे वैराग्य आता है व विवेक-दृष्टि प्राप्त होती है, वह कहता है कि ओह मेरी मोह दशा को धिक्कार है ! वैसे ही तुझे भी कई दृश्य ऐसे नजर आते हैं जिनसे सहज वैराग्य उत्पन्न होता है जैसे कि किसी रोग ग्रस्त हाड़ पिंजर वृद्ध को देखकर, से मोटर के नीचे कुचले हुए मृत प्राय कुत्ते को देखकर, कोढ़ से गले हुए अंगों वाले मानव कलेवर को देखकर, अस्पताल में मृत्यु की प्रतीक्षा करते हुए तीसरी श्रेणी के क्षय रोगी को देखकर। हे भाई ! यदि तुझे इन सब दुखों से निवृत्त होना है तो क्रमशः सांसारिक आसक्ति से दूर होकर वीतराग की उपासना कर। वैराग्य तीन प्रकार के होते हैं:—१ दुःख गर्भित, जो इष्ट वियोग अनिष्ट योग से होता है । २. मोहगर्भित, जो आत्मा के विपरीत स्वरूप का

वास्तविक ज्ञान न होने पर होता है। तीसरा ज्ञानगर्भित तीसरे प्रकार के वैराग्य से ही भव भ्रमण मिटता है व अनंत सुखरूप मोक्ष प्राप्त होता है। यह निश्चित है कि हम यहां से जायेंगे जरूर और स्वकर्म भी जरूर भुगतना पड़ेगा तो फिर सद्कर्म द्वारा सद्गति में जाना ही सर्वश्रेष्ठ है।

इति दशमः वैराग्योपदेशाधिकारः

अथैकादशो

धर्मशुद्ध्युपदेशाधिकारः

[धर्म शुद्धि के बिना वैराग्य भाव या मनोनिग्रह नहीं हो सकता है। शुद्ध देव, गुरु, धर्म को पहचान कर आगे बढ़ना यह प्रथम श्रेणी है अतः सर्वप्रथम धर्म शुद्धि क्यों और कैसे करना चाहिए इसका उपदेश शास्त्रकार देते हैं]

धर्म शुद्धि का उपदेश

भवेद्भवापायविनाशनाय यः, तमज्ञ धर्मं कलुषीकरोषि किम् ।
प्रमादमानोपधिमत्सरादिभिर्न मिश्रितं ह्यौषधमामयापहम् ॥१॥

अर्थ—हे मूर्ख ! जो धर्म तेरी सांसारिक विडम्बनाओं को नाश करने वाला है, उस धर्म को तू प्रमाद, मान, माया, मात्सर्य आदि के द्वारा क्यों मलीन करता है ? जैसे (विरुद्ध द्रव्य) मिश्रित औषधि व्याधि का नाश नहीं कर सकती है। ॥ १ ॥ **वंशस्थविल**

विवेचन—धर्म शब्द का अनेक तरह से अर्थ होता है, एक अर्थ स्वभाव भी होता है। वस्तु के स्वभाव को उसका धर्म कहते हैं जैसे अग्नि का धर्म उष्णता; जल का शीतलता;

जड़ का बदलना नष्ट होकर फिर बनना वैसे ही आत्मा का धर्म सत् चित्त आनंद है। शास्त्रों की परिभाषा में कहें तो, धारयतीति धर्मः (नरक निगोद आदि) अधोगति में पड़ते हुए जीव को जो धारण करता है (बचाता है—स्थिर रखता है) वही धर्म है। श्री वीतराग प्रणीत वचनानुसार मन वचन काया का शुद्ध व्यापार ही धर्म है। वैसे शुद्ध धर्म को हे मूर्ख तू प्रमाद, मान, माया, मात्सर्य आदि के द्वारा क्यों मलीन करता है ? जैसे विपरीत स्वभाव वाले पदार्थ से मिश्रित औषधि व्याधि का नाश नहीं कर सकती है वैसे ही दुर्गुणों से मिला हुआ धर्म भी आत्मा का हित नहीं कर सकता है। धर्म का अर्थ कर्त्तव्य है। अपने कर्त्तव्य को पूरा पालना ही धर्म है। सत्य बोलना, चोरी न करना, किसी को नहीं ठगना यह कर्त्तव्य है। यदि हम वैसा करते हैं तो किसी पर एहसान नहीं करते हैं यह तो हमारा फर्ज़ है क्योंकि आत्मा का स्वभाव ही यही है। पूजा, माला, पाठ, सामायिक आदि करना भी कर्त्तव्य ही है, आत्मा को अधोगति में से बचाने के लिए ये आवश्यक हैं। यदि ये सब धार्मिक क्रियाएं तो करते हों लेकिन जीवन व्यवहार में झूठ, कपट या ठग वृत्ति करते हों, किसी के विश्वास व भोलेपन का दुरुपयोग करते हों तो हमारे सब धार्मिक काम निरर्थक हैं। कोई यदि ये क्रियाएं न भी करता हो लेकिन जीवन में नीति से, सत्यता से वरतता हो तो वह अधिक उत्तम है। बक् भक्ति से आत्मा का कुछ भी लाभ नहीं होता है।

शुद्ध पुण्य जल में मैल

शैथिल्यमात्सर्यकदाग्रहक्रुधोऽनुतापमदंभाविधिगौरवाणि च ।
प्रमादमानौ कुगुरुः कुसंगतिः, श्लाघार्थिता वा सुकृते मलाइमे ।।२।।

अर्थ—सुकृत में इतने पदार्थ मैल रूप हैं—शिथिलता, मत्सर, कदाग्रह, क्रोध, अनुताप, दंभ, अविधि, गौरव, प्रमाद, मान, कुगुरु, कुसंग तथा आत्म श्लाघार्थिता ।। २ ।। उपजाति

विवेचन शास्त्रकार कितने उपकारी है वीतराग द्वारा कथित विद्या के अनुसार उन्होंनें कितनी महत्व की तात्त्विक बातें लिख दी हैं । इनसे आत्मा को बड़ा आनन्द आता है, बड़ी शांति उत्पन्न होती है । कितनी बारीकी से वे शास्त्रों के अन्दर घुस गए हैं, अतः सब बातें स्पष्ट बताई हैं । धन्य हैं वीतराग व उनसे उपदिष्ट मार्ग को बताने वाले गुरुओं को । इस श्लोक में स्पष्ट कहा है कि सुकृत में इतनी चीजें मैल पैदा करने वाली हैं—शिथिलता—धर्म क्रिया में मंदता या ढिलाई, मत्सर—परगुण की ईर्ष्या; कदाग्रह—अपनी भूल को जानते हुए भी दूसरों के सामने अच्छा बताना या जिद करना; क्रोध—गुस्सा; अनुताप—शुभ काम करके पछताना कि न किया होता तो अच्छा रहता; माया कपट—कहने व करने में भिन्नता; अविधि—शास्त्रानुसार न करके अपनी मति से विपरीत आचरण; गौरव—मैंने यह बड़ा काम किया इसलिए मैं बड़ा हूं; मान—अभिमान; प्रमाद—आलस्य; कुगुरू—समकित व व्रतादि रहित दिखावटी वेशधारी, जिन वचन से विपरीत चलने वाला पुरुष; कुसंग—हलके स्वभाव

या काम वाले की संगति; श्लाघार्थिता—अपनी बड़ाई सुनने की इच्छा। ये सब चीजें आत्मा में मैल रूप व भव में भटकाने वाली हैं। इनसे दूर रहा जाय तो आत्मा को परम शांति मिलती है व सच्चा सुख व ध्रुवपद मिलता है।

परगुण प्रशंसा

यथा तवेष्टा स्वगुणप्रशंसा, तथा परेषामिति मत्सरोज्झी।
तेषामिमां संतनु यल्लभेथास्तां नेष्टदानादि विनेष्टलाभः ॥३॥

अर्थ—जिस प्रकार से तुझे अपने गुणों की प्रशंसा अच्छी लगती है, वैसे ही दूसरों को भी लगती है, अतः मात्सर्य छोड़ कर उनके गुणों की प्रशंसा अच्छी तरह से करना शुरू कर, कारण कि प्रिय वस्तु दिए बिना प्रिय वस्तु मिलती नहीं है ॥ ३ ॥ **उपजाति**

विवेचन—मानव स्वभाव ही ऐसा है कि हरेक को अपनी प्रशंसा सुनने में मजा आता है चाहे वह झूठी ही क्यों न हो जब कि दूसरों की निंदा करने में आनंद आता है जब कि वह निराधार ही क्यों न हो। दूसरों के गुणों को छुपाने को और अपने अल्प गुणों को बहुत बड़ा बनाने का साधारण रिवाज सा हो गया है। यही अधोगति का मूल है। वास्तव में होना तो यह चाहिए कि परगुणों की प्रशंसा और आत्म-गुणों का गोपन (छुपाना) परन्तु होता है विपरीत। यदि तुझे अपने गुणों की प्रशंसा सुनने की अभिलाषा है तो दूसरों के गुणों की प्रशंसा कर जिससे तुझे भी अपने गुणों को प्रशंसा सुनने का समय आएगा। जो तू देगा वही मिलेगा।

गाली देगा तो गाली मिलेगा और प्रशंसा करेगा तो प्रशंसा मिलेगी। अतः मात्सर्य छोड़कर परगुणों की प्रशंसा कर।

अपनी प्रशंसा या निंदा की परवाह न करना

जनेषु गृह्णत्सु गुणान् प्रमोदसे, ततो भवित्री गुणरिक्तता तव।
गृह्णत्सु दोषान् परितप्यसे च चेद्, भवन्तु दोषास्त्वयि सुस्थिरास्तत

अर्थ—जब दूसरे मनुष्य तेरे गुणों की प्रशंसा करते हों तब तू यदि खुश हो जाता है तो तेरे में गुण रहितता आ जाएगी (दोषी बन जाएगा) और यदि वे तेरे दोषों को देखें या कहें तब तू क्रोधित हो जाता है तो वे दोष तेरे में सुदृढ़ हो जाएंगे ॥ ४ ॥ वंशस्थ

विवेचन—जैसे किसी भी वस्तु से भरे हुए पात्र में से वह वस्तु ले ली जाती है तो वह पात्र खाली हो जाता है वैसे ही यदि तेरे में गुण हैं और लोग तेरे गुणों की प्रशंसा करते हों तब यदि तू गर्व का अनुभव कर खुश हो जाता हो तो समझ ले कि वे गुण तेरे में से खींच लिए गए हैं, तेरा वह गुण रूप पात्र खाली हो गया है और जब तेरे दोषों के लिए लोग निंदा करते हों और तू क्रोधित हो गया तो निश्चित जान ले कि वे दोष तेरे में और दृढ़ हो गए, उनकी जड़ और गहरी हो गई। यदि तू दोष सुनकर आत्म चिंतन करता है कि ये लोग जो कह रहे हैं वह सत्य है या झूठ ? यदि सत्य है तो उन दोषों को दूर करने का उपाय कर और यदि झूठ है और तू उनको शांति से सहन करता है तो समझ कि तू अग्नि परीक्षा में सफल हुवा, तेरा धैर्य व सहनशीलता का

गुण एक पद और बढ़ा। जीवन में प्रति दिन ऐसे अनेक प्रसंग आते हैं जब कि मनुष्य इस बात का अनुभव करता है।

शत्रु के गुणों की प्रशंसा

प्रमोदसे स्वस्य यथान्यनिर्मितैः, स्तवैस्तथा चेत्प्रतिपंथिनामपि।
विगर्हणैः स्वस्य यथोपतप्यसे, तथा रिपुणामपि चेत्ततोसि वित्।५

अर्थ—दूसरे मनुष्य के द्वारा की गई अपनी प्रशंसा सुनकर जिस तरह से तू प्रसन्न होता है, वैसे ही प्रसन्नता यदि शत्रु की प्रशंसा सुनकर होती हो एवं जैसे स्वयं की निंदा सुनकर तुझे दुःख होता है वैसे ही शत्रु की निंदा सुनकर तुझे दुःख होता हो तो वास्तव में तू विद्वान है॥ ५॥ वंशस्थ

विवेचन—प्रशंशा सुनकर प्रमोद व निंदा सुनकर खेद होता है परन्तु किसकी ? अपनी ही ! यदि दूसरे की प्रशंसा होती हो और अपनी निंदा होती हो तो परिणाम विपरीत होता है, अर्थात् दुख होता है। होना तो यह चाहिए कि जिसमें गुण हैं उसकी प्रशंसा व जिसमें दोष हैं उसकी निंदा; पात्र कोई भी हो, चाहे हम हों या हमारे मित्र या हमारे शत्रु। यह तो विपरीत वस्तु है कि हमारी या हमारे स्नेही की प्रशंसा होती हो चाहे वह झूठी ही हो, हम प्रसन्न हो जावें और जब शत्रु की प्रशंसा होती हो तो हम नाराज हो जावें। रुपया जिसके पास है उसकी कीमत होती है वह चाहे राजा के पास हो या भिखारी के पास, चाहे मित्र के पास हो चाहे शत्रु के पास। वैसे ही प्रशंसा केवल गुणों को होती है वह चाहे किसी में हो और निंदा केवल दोषों की

होती है वह चाहे किसी में हों। कीमत रुपये की हो रही है न कि रुपये वाले की वैसे ही प्रशंसा गुणों की हो रही है न कि गुणवान की; निंदा दोषों की हो रही है न कि दोषी की। जो यह जानता है व वैसा ही आचरण करता है वही वास्तव में विद्वान हैं। यहां तात्पर्य यह है कि शत्रु मित्र पर सम भाव रहना व तात्विक दृष्टि से जो जैसा है उसे वैसा ही समझना, पात्रता का भेद बीच में न लाना तभी मनुष्य न्यायशील व सत्यान्वेषी रह सकता है।

परगुण प्रशंसा

स्तवैर्यथा स्वास्य विगर्हणैश्च, प्रमोदतापौ भजसे तथा चेत्।
इमौ परेषामपि तैश्चतुर्ष्व प्युदासतां वासि ततोऽर्थवेदी ॥६॥

अर्थ—जैसे तुझे अपनी प्रशंसा और निंदा से क्रमशः आनंद व खेद होता है वैसे ही पर की प्रशंसा और निंदा से आनंद व खेद होता हो अथवा इन चारों दशाओं में उदासीनता (माध्यस्थ भाव) रखता हो तो तू सच्चे अर्थ को जानने वाला है ॥ ६ ॥ उपेंद्रवज्रा

विवेचन—उदासीन वृत्ति का अर्थ यह है कि जानते हुए, समझते हुए भी उपेक्षा वृत्ति रखना, इसका अर्थ बेदरकारी या लापरवाही नहीं है। स्वगुण प्रशंसा; स्वदोष निंदा; परगुण प्रशंसा; परदोष निंदा; इन चारों भावों में मध्यस्थ भाव आ जाता है तो अच्छा है। अपनी प्रशंसा सुनकर न फूलना; निंदा सुनकर क्रोध न करना ; पर के गुण की प्रशंसा

सुनकर दुःखी न होना और पर के दोषों की निंदा सुनकर खुश न होना ही माध्यस्थ भाव या सच्ची समझ है।

गुण स्तुति की इच्छा हानिकारक है

भवेन्न कोऽपि स्तुतिमात्रतो गुणी,
ख्यात्या न बह्व्यापि हितं परत्र च।
तदिच्छुरीर्ष्यादिभिरार्यते ततो,
मुधाभिमानग्रहिलो निहंसि किम् ॥ ७॥

अर्थ—लोग प्रशंसा करते हों इससे मात्र कोई गुणी नहीं हो सकता है, एवं अधिक ख्याति से भी आते भव का हित नहीं होने वाला है, यदि तू आते भव में स्वहित करने का इच्छुक है तो निरर्थक अभिमान के वश होकर ईर्षा आदि करके आते भव को भी क्यों बिगाड़ता है ? ॥ ७ ॥

उपजाति

विवेचन—गुण होंगे तो स्वयं प्रशंसा हो जाएगी, यदि तू प्रशंसा का भूखा रहकर उसका प्रयत्न करेगा तो अपमानित होकर खिन्न वदन रहेगा। प्रशंसा करने वाले भी अपना स्वार्थ देखकर ही प्रशंसा करते हैं, वास्तव में गुणों के प्रशंसक विरले ही मिलते हैं। झूठी प्रशंसा से न तो आत्मा को संतोष होता है न परभव में कुछ हित होने वाला है। अल्प गुणी व अभिमानी की वही दशा होती है जो उस कव्वे की हुई जिसने लोमड़ी द्वारा झूठी प्रशंसा सुनकर गाने के लिए मुंह खोला और रोटी को खो बैठा अतः अभिमान व इर्षा के द्वारा आता भव न बिगाड़।

"शुद्ध" धर्म करने की आवश्यकता

सृजन्ति के के न बहिर्मुखा जनाः, प्रमादमात्सर्यकुबोधविप्लुताः।
दानादिधर्माणि मलीमसान्यमून्युपेक्ष्य शुद्धं सुकृतं चराण्वपि ॥८॥

अर्थ—प्रमाद, मत्सर और मिथ्यात्व से घिरे हुए कितने ही सामान्य मनुष्य दान आदि धर्म करते हैं, परंतु ये धर्म मलिन हैं, अतः उनकी उपेक्षा करके शुद्ध सुकृत्य अणु जितना भी कर ॥ ८ ॥ वंशस्थवृत्तं

विवेचन—शुद्ध धर्म एक अणु जितना भी श्रेष्ठ बताया है जब कि प्रमाद; (मद्य, विषय, कषाय, विकथा, निद्रा) मत्सर; (दूसरों की उन्नति पर ईर्षा) और मिथ्यात्व (दृष्टि रागादि) से किये गए, दान, शील, तप आदि सब निरर्थक कहे हैं। निराभिमान से, निष्काम भाव से, दिखावे या ढोंग रहित केवल आत्म कल्याण के लिए किया हुवा थोड़ा सा भी धर्म श्रेष्ठ होता है जब कि ढोल बजवाते हुए, नारे लगवाते हुए, कुंकुमपत्री व अखबारों में नाम छपवाते हुए व जनता की पूजा की इच्छा रखते हुए किए गए बड़े बड़े तप भी केवल अभिमान के लिए होने से निरर्थक हैं। अतः दान, शील, तप, भावना आदि गुप्त रूप से ही श्रेष्ठ होते हैं।

प्रशंसा रहित सुकृत की विशिष्टता

आच्छादितानि सुकृतानि यथा दधंते,
सौभाग्यमत्र न तथा प्रकटीकृतानि।
व्रीडाननाननसरोजसरोजनेत्रा,
वक्षःस्थलानि कलितानि यथा दुकूलैः ॥ ९ ॥

अर्थ—इस संसार में गुप्त सुकृत (पुण्य) जैसा सुख देते हैं वैसा सुख खुले सुकृत (पुण्य) नहीं देते हैं। जैसे लज्जायुता नत वदना, कमलनयना भामिनी के वक्षस्थल खुले होने की अपेक्षा ढके होने पर अधिक सुंदर दीखते हैं। **वसंततिलका**

विवेचन—गुप्त रीति से किए गए जप तप, दान आदि जैसा फल देते हैं वैसा खुले रूप से किए गए सुकृत फल नहीं देते हैं। गुप्त रूप से करने वाले को आत्मशांति रहती है जब कि खुले रूप से करने वाले को प्रशंसा की भूख, लोक दिखावा, कुल मर्यादा आदि सबका डर रहता है एवं वह उस सुकृत का तुरंत फल, प्रशंसा के शब्दों के रूप में लेकर संतुष्ट हो जाता हे जब कि गुप्त रूप से करने वाले को गुप्त, अगोचर स्थान (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।

स्व गुण प्रशंसा से जरा भी लाभ नहीं है

स्तुतैः श्रुतैर्वाप्यपरैर्निरीक्षितैर्गुणस्तवात्मन् सुकृतैर्न कश्चन।
फलन्ति नैव प्रकटीकृतैर्भुवो, द्रुमा हि मूलैर्निपतंत्यपि त्वधः॥१०॥

अर्थ—तेरे गुणों या सुकृत्यों की अन्य लोग स्तुति करें, अथवा तेरे उत्तम क़ामों को दूसरे लोग देखें या सुनें इससे हे चेतन ! तुझे कोई लाभ नहीं है। जैसे वृक्ष की जड़ें खुली कर दी जाय तो वह वृक्ष फलता नहीं हे वरन जमीन पर गिर जाता है॥ १०॥ **वंशस्थविल**

विवेचन—जैसे वृक्ष की जड़ों पर से मिट्टी हट जाती है तो वह गिरकर नष्ट हो जाता, मधुर फल मिलना तो

दूर रहा उसका अस्तित्व ही नष्ट हो जाता है वैसे ही गुणों को खुला करने से लाभ तो कुछ नहीं होता है वरन उन गुणों से मिलने वाला पुण्य ही नष्ट हो जाता है। यश या कीर्ति सुनने से प्रसन्नता जरूर होती है जो कि मन को खुश करती है परन्तु आत्मा की तो हानि ही होती है। प्रशंसा सुनने का आदी हुआ पुरुष प्रायः ऐसा ही काम करेगा जिसे लोग देखते रहें जब जब वह जरा सा भी सत्कार्य करेगा तो दिखावे के साथ ही करेगा, बड़े आडंबर से व धूमधाम से करेगा और चापलूसों या खुशामदखोरों की संगति में करेगा जब कि सच्ची बात कहने वाले उससे दूर रहेंगे, अतः उसके दोष कहने वाला कोई न रहेगा। परिणामतः उसका पतन होगा। स्वगुण प्रशंसा से हानि ही होती है लाभ कुछ भी नहीं है।

गुण पर मत्सर करने वाले की गति

तपःक्रियावश्यकदानपूजनैः, शिवं न गंता गुणमत्सरी जनः।
अपथ्यभोजी न निरामयो भवेद्रसायनैरप्यतुलैर्यदातुरः ॥११॥

अर्थ—गुण पर मत्सर करने वाला प्राणी तपश्चर्या, आवश्यक क्रिया, दान और पूजा से भी मोक्ष में नहीं जाता है। जैसे बीमार मनुष्य कुपथ्य करता हो तो चाहे जैसे रसायन सेवन करने से भी वह स्वस्थ नहीं हो सकता है ॥११॥

वंशस्थविल

विवेचन—जैसे कोई बीमार, उत्तम भस्मों का सेवन करता हुआ भी गुप्त रूप से अपथ्य करता हो, परहेज नहीं

रखता हो तो वह बच नहीं सकता है वैसे ही बड़ी बड़ी तपस्याएं क्रियाएं करने वाला मनुष्य यदि मत्सर करता हो तो मोक्ष नहीं पा सकता है। आडंबर व दिखावे के लिए किये गए सब अनुष्ठान व धार्मिक काम मात्सर्य से निरर्थक हो जाते हैं।

शुद्ध पुण्य अल्प हो तो भी उत्तम है

मंत्रप्रभारत्नरसायनादि, निदर्शनादल्पमपीह शुद्धम्।
दानार्चनावश्यकपौषधादि, महाफलं पुण्यमितोऽन्यथान्यत् ॥१२॥

अर्थ—मंत्र, प्रभा, रत्न, रसायण, आदि के दृष्टांत से दान, पूजा आवश्यक, पौषध आदि बहुत कम हो लेकिन यदि वे शुद्ध हों तो बहुत फल को देते हैं और यदि बहुत होते हुए भी अशुद्ध हों तो मोक्ष रूप फल नहीं देते हैं॥ १२॥

उपजाति

विवेचन—आज प्रायः तत्त्वज्ञान के अभ्यास बिना समझते हुए भी, केवल क्रिया की तरफ अधिक रुचि रहती है, आयंबिल की ओलीजी, उपधान, वर्षी तप आदि अनेक बार कर लिए जाते हैं व उनकी संख्या को महत्त्व दिया जाता है इसी तरह से सामायिक की संख्याओं की कीमत की जाती है यहां तक की जीवन पर्यंत सामयिक (भागवति दीक्षा) करने वाले भी कई हैं लेकिन यदि इन सब में शुद्धि नहीं है, आवेश, क्रोध, छल कपट, परिग्रह, ममता कम नहीं नहीं हुवे हों तो वे सब काम उतने लाभकारी नहीं होते हैं जितने कि होने चाहिए। मंत्र के शब्द, सूर्य चंद्र की प्रभा

हीरा माणक मोती आदि रत्न, पारा, अभ्रक आदि भस्म कम मात्रा में ही गुणकारी व कीमती होते हैं यदि वे शुद्ध हों तो। एक तोला लोहा व एक तोला रत्न यद्यपि वजन में बराबर होते हैं तो भी मूल्य में अनेक गुणा अंतर हैं। ठीक वैसे ही बिना आत्मा की साक्षी से, भाव अशुद्धि से, चित्त की अस्थिरता से की गई तमाम धार्मिक क्रियाएं व तपस्याएं उत्तम फल को नहीं देती हैं। बिना सत्त्व या तत्त्व से की गई अनेक क्रियाओं की अपेक्षा एक ही क्रिया जो शुद्ध रूप से, सच्चे भाव से, केवल मोक्ष की अभिलाषा से, बिना दिखावे से या यश की भूख रहित की गई हो वह अनेक गुणे फल को देने वाली होती है अर्थात मोक्ष की तरफ ले जाने वाली होती है। कितने ही तपस्वी श्रावक व साधु अनेक तप करने पर भी शांत चित्त नहीं होते हैं। जीवन में उग्रता, माया, छल कपट, प्रमाद, असहिष्णुता, दुराग्रह, प्रपंच, परावलम्ब व परिग्रह के कारण जैन धर्म को बदनाम करते हैं। स्व का व पर का भव बिगाड़ते हैं। जो लोग केवल यश व दिखावे के लिए क्रियाएं व तप करते कराते हैं उन्हें निश्चित मानना चाहिए कि वे चाहे दूसरों को अंधेरे में रखते हों लेकिन अपनी आत्मा को व कालदेव को या कर्म को अंधेरे में नहीं रख सकेंगे। उनके गुप्त पाप, गुप्त रूप से ही उन्हें सजा देंगे। अतः शुद्ध पुण्य करो।

उक्त अर्थ के लिए दृष्टांत

दीपो यथाल्पोऽपि तमांसि हन्ति, लवोऽपि रोगान् हरते सुधायाः।
तृण्यां दहत्याशु कणोऽपि चाग्नेर्धर्मस्य लेशोऽप्यमलस्तथांहः ॥१३॥

अर्थ—एक छोटा सा दीपक भी अंधकार का नाश करता है, अमृत की एक बूंद भी अनेक रोगों को हर लेती है, अग्नि की एक चिनगारी भी घास के ढेर को भस्म कर देती है; उसी प्रकार से धर्म का अल्प अंश भी यदि शुद्ध हो तो पाप का नाश कर देता है ॥ १३ ॥ उपजाति

विवेचन—अनेक वर्षों के अंधकार युक्त स्थान में यदि दीपक रखा हो तो वह अंधकार को नष्ट कर देता है। जैसे अमृत की बूंद रोग को, अग्नि का कण घास को नष्ट कर देता है वैसे ही धर्म का एक अंश जो अति शुद्ध हो, केवल संवेग भाव से किया हो तो अनेक भवों के पापों को नष्ट कर देता है। आज आवश्यकता तो भाव शुद्धि व ठोस क्रिया की है, एवं सच्चे भाव से की जाने वाली धर्म क्रिया व तपस्या की है। लाखों रुपयों का दान देने वाले, आयंबिल खाता चलाने वाले, साधुओं का चौमासा कराने वाले व अनेक तरह से खर्च करने वाले भी कभी कभी ऐसे निर्दयी व स्वार्थी होते हैं कि साधर्मी भाई या साधु के लिए जरा सा खर्च या सेवा का कार्य नहीं कर सकते हैं। प्रचुर धन से सेवा करने वाले भी तन से साधारण सी सेवा नहीं कर सकते हैं। हम धर्म भी करते हैं तो अपनी आराम तलबी को कम न करते हुए या अपनी आशायश में कमी न रखते हुए ही। अतः शुद्ध भाव भक्ति से किया गया धर्म कार्य ही मोक्ष दिला सकता है।

भाव व उपयोग बिना की क्रिया से काय क्लेश

भावोपयोगशून्याः, कुर्वन्नावश्यकीः क्रियाः सर्वाः।
देहक्लेशं लभसे, फलमाप्स्यसि नैव पुनरासाम् ॥ १४ ॥

अर्थ—भाव और उपयोग के बिना की जाने वाली सब आवश्यक क्रियाओं से तुझे मात्र शरीर—कष्ट प्राप्त होगा परन्तु तू इनका उत्तम फल नहीं पा सकेगा ।। १४ ।। आर्या

विवेचन—भाव का अर्थ है चित्त का उत्साह (वीर्योल्लास) और उपयोग का अर्थ है सावधानता (तन्मयपन), जैसे कि आवश्यक क्रिया में सूत्र, अर्थ व्यंजन, ह्रस्व दीर्घ के उच्चारण आदि का ध्यान रखना। अतः भाव एवं उपयोग बिना की क्रिया करना यह मात्र काय क्लेश है और उसका फल भी शून्यवत है। सुक्त मुक्तावली में कहा है कि:—

मनविण मिलवो ज्युं, चाववो दंतहीणे;
गुरु विण भजवो ज्युं, जीमवो ज्युं अलूणे।
जसविण बहुजीवी, जीवते ज्युं न सोहे,
तिम धरम न सोहे, भावना जो न होहे ।।

अतः स्पष्ट है कि भाव विना की धार्मिक क्रिया एक दम निरर्थक है। धर्म एक ही तरह की भावना से नहीं होता है कारण कि पहले भी धर्म करने वालों ने भिन्न भिन्न कारणों से धर्म किया है जैसे कि:—नागिला को तजने वाले भवदत्त ने लज्जा से, मेतार्य मुनि को मारने वाले सोनी ने भय से, चंडरुद्राचार्य के शिष्य ने हास्य से, स्थूलिभद्र पर मात्सर्य करने वाले सिंह गुफावासी साधु ने मात्सर्य से, सुहस्तीसूरि द्वारा उपदिष्ट द्रुमक ने लोभ से, बाहुबली ने हठ से, दशार्णभद्र,

गौतमस्वामी, सिद्धसेन दिवाकर ने अहंकार से, नमिविनमि ने विनय से, कार्तिक सेठ ने दुःख से ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने शृंगार से, आमीट तथा आर्य रक्षित आदि ने कीर्ति से, गौतमस्वामी द्वारा प्रतिबोधित १५०३ साधुओं ने कौतुक से, इलापुत्र ने विस्मय से, अभयकुमार व आर्द्रकुमार ने व्यवहार से, भरत चक्रवर्ती व चंद्रावतंस ने भाव से, कीर्तिधर व सुकोशल ने कुलाचार से और जंबुस्वामी, धनगिरि, वज्रस्वामी, प्रसन्नचंद्र तथा चिलाती पुत्र ने वैराग्य से धर्म किया।

सभी तरह से किया हुवा धर्म महालाभकारी होता है। जो कुछ करना है उसे विचार कर करो, भाव से करो तभी सफलता मिलेगी किसी भी क्रिया का निषेध नहीं है मात्र निषेध तो इसका है, कि हाथ, पैर मुँह आदि अपना काम कर रहे हैं लेकिन मन और कहीं जा रहा है ऐसी भाव शून्य दशा से की जाने वाली क्रिया निरर्थक है।

शास्त्रकार ने तीन बातों पर विशेष ध्यान दिया है:—

(१) **धर्म शुद्धि की आवश्यकता**—मात्सर्य, अभिमान या यश लोलुपता से रहित होकर शुभभावना से व मोक्षाभिलाषा से धर्म करना चाहिए।

(२) **स्वगुण प्रशंसा और मत्सर**—धर्म शुद्धि में ये दोनों बाधक हैं, ये दोनों स्वादिष्ट विष की तरह घातक हैं।

(३) **भाव शुद्धि और उपयोग**—प्रत्येक धार्मिक क्रिया में इन दोनों की परम आवश्यकता है अतः ध्यान रखना चाहिए।

सुज्ञ मानवो ! लोकरंजन या यश कीर्ति के लिए धर्म न करते हुए स्वात्म दशा का भान कर मोक्षाभिलाषा से धर्म करो।

इति एकादशो धर्मशुद्धयुपदेशाधिकारः।

अथ द्वादशः

देवगुरुधर्मशुद्धयाधिकारः

इस अध्याय में शुद्ध देव, गुरु धर्म का स्वरूप बतलाया गया है।

गुरुत्व की मुख्यता

तत्त्वेषु सर्वेषु गुरुः प्रधानं, हितार्थधर्मा हि तदुक्तिसाध्याः।
श्रयंस्तमेवेत्यपरीक्ष्य मूढ, धर्मप्रयासान् कुरुषे वृथैव ॥१॥

अर्थ—सर्व तत्त्वों में गुरु, मुख्य है, हितकारी सभी धर्म उनके कथनानुसार ही साधे जा सकते हैं। हे मूर्ख ! उनकी परीक्षा किये बिना यदि तू उनका आश्रय लेगा तो तेरे (धर्म के लिए) किये गए सभी प्रयास निष्फल होंगे ॥१॥

उपजाति

विवेचन—गुरु महाराज सभी तरह का ज्ञान कराते हैं, देव और धर्म की पहचान भी वही कराते हैं अतः गुरु करने से पूर्व उनके गुण दोष जानने आवश्यक हैं जिनमें भी मुख्य कसौटी यह है कि वे कंचन कामिनि के त्यागी हैं कि नहीं क्योंकि गुरु बिना ज्ञान नहीं है। कहा है कि गुरु कीजे जानकर पानी पीजे छानकर। अतः गुरु की परीक्षा आव-

श्यक है क्योंकि हमें अपने जीवन को उनके आधार पर ही छोड़ना है। वे यदि उत्तम हैं तो हमें तार देंगें नहीं तो डुबा देंगे।

सदोष गुरु के बताए हुए धर्म भी सदोष हैं

भवी न धर्मैरविधिप्रयुक्तैर्गमी शिवं येषु गुरुर्न शुद्धः।
रोगी हि कल्यो न रसायनैस्तैर्येषां प्रयोक्ता भिषगेव मूढ़ः ॥२॥

अर्थ—जहां धर्म को बताने वाले गुरु ही शुद्ध नहीं हैं, वहां अविधि से धर्म करने वाले प्राणी मोक्ष में जा नहीं सकते हैं; जिस रसायन को खिलाने बाला वैद्य हो मूर्ख हो तो वह रसायन व्याधियुक्त प्राणी को निरोगी नहीं कर सकती है ॥ २ ॥ उपजाति

विवेचन—जिसने स्वयं मार्ग नहीं देखा है यदि वह मार्ग दृष्टा बनता है तो स्वयं भी भटकता है और दूसरों को भी भटकाता है। यह तो स्पष्ट है कि अनजान ड्राइवर के द्वारा चलाई गई मोटर या रेल हजारों प्राणियों का नाश करती है। मूर्ख कारीगर के हाथ में दी गई मशीन या घड़ी सुधरने के बदले नष्ट हो जाती है। ऊंट वैद्य के पास ले जाए गए रोगी का जीवन खतरे में हो जाता है वैसे ही विषयी, ढोंगी, कंचन कामिनी युक्त गुरु के उपदेश से लाभ तो कुछ नहीं होगा वरन भव परंपरा बढ़ेगी। यहां संसारी जीव को रोगी, धर्म को रसायन और वैद्य को गुरु के दृष्टांत से समझाया है।

स्वयं डूबने और अन्य को डुबाने वाले कुगुरु

समाश्रितस्तारकबुद्धितो यो, यस्यास्त्यहो मज्जयिता स एव ।
ओघं तरीता विषमं कथं स, तथैव जंतुः कुगुरोर्भवाब्धिम् ॥३॥

अर्थ—यह पुरुष तारने में समर्थ है ऐसी बुद्धि से जिसका आश्रय लिया हो, परंतु उस आश्रयकर्ता को डुबाने में आश्रयदाता ही निमित्त हो तो वह बिचारा आश्रयकर्ता प्राणी इस विषम प्रवाह को कैसे तर सकेगा ? इसी प्रकार से इस प्राणी को संसार समुद्र से कुगुरू किस तरह तार सकेगा ? उपजाति

विवेचन—जिस कप्तान के भरोसे जहाज में बैठे हों यदि वही कप्तान स्वयं ही जहाज में छेदकर जहाज को डुबाने का प्रयत्न करता हो तब तो उस पार जाने की संभावना भी कैसे की जा सकती है, वैसे ही जिसको गुरु मानकर मोक्ष की अभिलाषा से अपना जीवन सौंप दिया हो यदि वह स्वयं ही उस कप्तान की तरह मोह मदिरा पान कर जीवन जहाज को नष्ट करने वाला हो अर्थात अनाचार दुराचार कर शिष्यों को भी वैसा करने को सिखाता हो तो मोक्ष की संभावना तो दूर रही वरन पुनः मानव भव पाना भी दुर्लभ हो जाएगा। जो गुरु नाम धराकर छत्र, चंवर, मेघाडंबर धारण कर दुनिया के सामनें पूज्य बनते हों लेकिन छुपे छुपे कुत्सित कार्य का विचार करते हों उनसे मोक्ष दिलाने की क्या आशा रखी जाय, अलबत्ता नरक के मार्ग

में वे दीपक लेकर जरूर आगे आगे चलेंगे और अपने अनुयायियों के साथ वहां पहुंच कर कई सागरोपम तक वहीं रहेंगे।

शुद्ध, देव, गुरु और धर्म को भजने का उपदेश

गजाश्वपोतोक्षरथान् यथेष्टपदाप्तये भद्र निजान् परान् वा।
भजंति विज्ञाः सुगुणान् भजैवं, शिवाय शुद्धान् गुरुदेवधर्मान् ॥४॥

अर्थ—हे भद्र ! जिस प्रकार से चतुर पुरुष इच्छित स्थान पर पहुंचने के लिए अपने या दूसरों के हाथी, घोड़े, जहाज, बैल और रथ उत्तम देखकर रख लेते हैं उसी तरह से मोक्ष प्राप्त करने के लिए तू शुद्ध देव, गुरु और धर्म को भज ॥ ४ ॥ उपेन्द्रवज्रा

विवेचन—जैसे गंतव्य स्थान पर शीघ्र एवं सुख से पहुंचने के लिए अच्छी सवारी ली जाती है वैसे ही मोक्ष नगर में पहुंचने के लिए अठारह दोषों रहित देव, पांच महाव्रतधारी गुरु एवं आप्त प्रणित (जिनोक्त) धर्म का आश्रय लेना चाहिए। सद् देव रथ में हो। रथ हांकने वाले सदगुरु हो, सद् धर्म की ध्वजा फरकती हो, तो वह रथ शीघ्र ही मोक्ष में पहुंचेगा। अपने कुल के देव, गुरू या धर्म इन लक्षणों वाले हों तो ग्राह्य हैं लेकिन यदि विपरीत हों तो हठ बुद्धि वह राग दृष्टि से उनका अनुकरण नहीं करना चाहिए। जैसे घर का घोड़ा भी अड़ियल हो तो उसे भी छोड़ना ही पड़ता है वैसे ही कुल के गुरु परीक्षा में ठीक न लगते हों तो वे छोड़ने योग्य हैं।

कुगुरु के उपदेश से किया हुवा धर्म भी निष्फल है

फलाद्वृथाः स्युः कुगुरूपदेशतः, कृता हि धर्मार्थमपीह सूद्यमाः ।
तद्दृष्टिरागं परिमुच्य भद्र हे, गुरुं विशुद्धं भज चेद्धितार्थ्यसि । ५।।

अर्थ—अत्यंत उद्यम से कुगुरू के उपदेश से किए गए धर्म के कार्य इस संसार यात्रा में फल की दृष्टि से वृथा होते हैं, अतः हे भाई ! यदि तुझे हित की इच्छा हो तो दृष्टि राग को छोड़कर अत्यंत शुद्ध गुरु को भज ।। ५ ।।

उपजाति

विवेचन—आज साधारण जनता को धर्मशास्त्रों के अभ्यास करने की अनुकूलता नहीं है कारण कि लोग कमाई में इतने फंसे रहते हैं कि अभ्यास के लिए फुरसत ही नहीं मिलती है, जिनको फुरसत है उनके पास संस्कृत या प्राकृत का ज्ञान ही नहीं है, फिर भी संसार से संतप्त होकर, जीवन से निराश हुए व चतुर्थ अवस्था को प्राप्त प्राणी व्याकुल होकर शांति की तलाश करते हैं । उनको दृष्टि संसार से विरक्त व्यक्तियों पर—साधुओं पर जाती है, वे समझते हैं कि वैराग्य की निशानी रूप काषाय, श्वेत या पीत वस्त्र को धारण करने वाले संत महापुरुष या मुनि पुंगव हमें अवश्य शांति देंगे । वे उनकी मीठी बातों में आकर विश्वास कर लेते हैं । प्रतिदिन के संपर्क से उनके प्रति राग हो जाता है ज्यों ज्यों परिचय बढ़ता जाता है त्यों २ राग बढ़ता जाता है, परन्तु क्योंकि जनता में शास्त्र ज्ञान तो है

ही नहीं अतः लोग उनको देव परमेश्वर गिनने लगते हैं उनके प्रत्येक शब्द को देववाणी समझते हैं यहां तक कि वे चलते हैं तब वे आगे आगे मार्ग शोधन करते हैं, वे बोलते हैं तो खमा खमा पुकारते हैं, वे जिस तरह से कहते हैं वे वैसा उसी तरह से वे करते हैं। भक्तों को उनके दोष भी गुण प्रतीत होते हैं। यह वाड़े बंधी बढ़ती जाती है, वे साधारण, आडंबरी ढोंगी गुरु बड़े आचार्य कहलाते हैं। जनता भेड़ चाल से अनुकरण करती है चाहे वे दया, दान, तप का रूप कुछ और ही बताते हों चाहे तीर्थंकरों से विरुद्ध ही बोलते हों, वहां परवाह किसको है। वे सोचते हैं कि बस हमारे गुरु महाराज आचार्य श्री ने जो फरमाया है वही सत्य है, उनकी लिखी पुस्तकें ही आगम हैं वे जो कुछ कहते या करते हैं वही सत्य है बाकी सब मिथ्यात्व है। इस तरह से दृष्टि राग से हम सब डूबते हैं। शास्त्रकारों ने "गच्छाचार पयन्ना" में कहा है कि:—अगीतार्थ के वचन से अमृत भी न पियो जब कि गीतार्थ के वचन से विष भी पीलो। ज्ञानी गुरु की बात प्रत्यक्ष में विपरीत प्रतीत होती हुई भी कल्याणकारी होती है जब कि ढोंगी व अज्ञानी गुरु की बात प्रत्यक्ष हितकारी दीखती हुई भी हानिकर तथा नरक गामी होती है अतः दृष्टि राग को छोड़कर शास्त्रोक्त विधि से गुरु की पहचान कर उनका अनुसरण करने से ही मोक्ष मिल सकता है। संसारी जीव मोहनीय कर्म से राग करता ही है, राग उससे छूटता नहीं है यदि राग करना ही हो तो उपाध्यायजी यशोविजयजी के लिखने के अनुसार मुनि पर

करना चाहिए जिससे वह व्यक्ति की अपेक्षा गुण पर अनुराग करना सीखा देंगे।

राग न करशो कोई जन कोई शुं रे,
नवि रहेवाय तो करजो मुनि शुं रे;
मणी जेम फणि विषनो तेम तेहो रे,
रागनुं भेषज सुजस सने हो रे ॥

श्री हेमचन्द्राचार्यजी ने वीतराग स्तोत्र में कहा है कि:—

काम राग और स्नेह राग तो अल्प प्रयत्न से दूर किए जा सकते हैं परन्तु पापी दृष्टि राग तो सज्जन मनुष्यों के लिए भी दुरुच्छेद है, महान कठिनाई से काटने योग्य हैं। दृष्टिराग का अर्थ है मिथ्यात्व जन्य मोहनीय कर्म के उदय से होता हुवा अस्वाभाविक प्रेम। हमारी समाज में दृष्टिराग के कारण ही तिथिचर्चा जैसे विषय कई वर्षों से समाज में उथल पथल मचा रहे हैं। आज इसी एक दृष्टिराग से अनेक मतमतांतर वाड़े व गच्छ परंपराएं बढ़ती जा रही हैं। सच्चे गुरु के अभाव से समाज नायक रहित होकर छिन्न भिन्न हो रही है। अनेक आचार्य होते हुए भी समाज का कोई धणी नहीं हैं।

वीर परमात्मा से निवेदन, शासन में लुटेरों का जोर

न्यस्ता मुक्तिपथस्य वाहकतया श्रीवीर ये प्राक् त्वया,
लुंटाकास्त्वदृतेऽभवन् बहुतरास्त्वच्छासने ते कलौ।
विभ्राणा यतिनाम तत्तनुधियां मुष्णंति पुण्यश्रियः
पूत्कुर्मः किमराजके ह्यपि तलारक्षा न किं दस्यवः ॥६॥

अर्थ—हे वीर परमात्मा ! जिनको तू ने पहले मोक्षमार्ग के सार्थवाह स्थापित किए थे वे ही कलयुग में तेरी अनुपस्थिति में तेरे ही शासन में बड़े लुटेरे बन गए हैं। वे यति का नाम धारण करके अल्प बुद्धि वाले प्राणियों की पुण्यलक्ष्मी को चुरा लेते हैं। अब हम क्या पुकार करें ? क्या राजा के बिना राज्य में कोतवाल ही चोर नहीं बन जाता है ? ।। ६ ।। शार्दूलविक्रीडित

विवेचन—वाड़ ही स्वयं खेत खाने लग जाय तो किसान कहां जाय ! किसको पुकारे । आज कई पंचमहाव्रतधारी साधु ही भ्रष्टाचारी, व्यभिचारी व पाखण्डी हो रहे हैं तब बिचारे श्री पूज्य, यति, व गोरजी की तो बात ही क्या वे तो चतुर्थ श्रेणी के गुरु हैं। हे वीर परमात्मा ! आपके अंतिम पट्टधर जंबु स्वामी के पीछे कितने ही मुनिपुंगव हुए जिन्होंने शासन की वृद्धि की लेकिन आज उसी पदवी व वस्त्र पात्र की परिपाटी को धारण करने वाले साधु, उपाध्याय, आचार्य समाज में कितना विष फैला रहे हैं बिचारे भोले श्रावकों का धन अपने नाम के लिए बहा रहे हैं ये लूटेरे धर्म के नाम पर ढोंग कराकर धर्म को बदनाम कर रहे हैं। अब हम किसको पुकारें।

अशुद्ध देव गुरु धर्म से भविष्य में पछतावा

माद्यस्यशुद्धैर्गुरुदेवधर्मैर्धिगदृष्टिरागेण गुणानपेक्षः ।
अमुत्र शोचिष्यसि तत्फले तु, कुवथ्यभोजीव महामयार्त्तः ।।७।।

अर्थ—दृष्टि राग से गुण की अपेक्षा के बिना तू अशुद्ध देव गुरु धर्म के प्रति हर्ष बताता है उसके लिए तुझे धिक्कार है ! जिस प्रकार से कुपथ्य भोजन करने वाला महान पीड़ा पाकर हैरान होता है उसी प्रकार से तू भी आते भव में उनका (कु देव—गुरु धर्म सेवन का) फल पाकर चिंता करेगा ॥ ७ ॥ **उपजाति**

विवेचन—यदि हम कभी किसी बड़े शहर में किसी चौराहे पर पहुंच गए हों जहां कि रास्ते खूब फटते हों, हमें हमारा निर्दिष्ट मार्ग मालूम नहीं हो, किंकर्त्तव्य विमूढ़ होकर खड़े हुए हों इतने में कोई हमारा शत्रु आ जाय तो उसके बताए गए मार्ग पर जाने का हम विश्वास नहीं करेंगे हमारे मन में शंका हो जाएगी कि यह जरूर हमसे बदला लेने की फिराक में है हम जैसे ही उस राह चले नहीं कि इसने मोका देखा नहीं। इतने में कोई विश्वासी मित्र आ जाता है तो उसके कथनानुसार विश्वास कर उसके निर्दिष्ट मार्ग पर चले जाते हैं उसी प्रकार से हम भव में भटकते हुए प्राणी भी महावीर प्रभु के साधुओं के वेष पर विश्वास करते हैं और जीवन उनके चरणों में रख देते हैं लेकिन उनमें से कितने ही स्वार्थी गुरू हमारे जोवन को कुपथ में ले जाते हैं कितने ही स्वार्थी धन लोलुपी यति, श्रीपूज्य, व कोई कोई साधु मुनिराज भी डोरे धागे, जंतर मंतर करके सट्टे के आंक बताकर भोली प्रजा को बहकाते हैं उनके धन का हरण कर स्वयं गुप्त रीति से मिष्ठान्न पान करते व व्यभिचार

तक करते हैं ऐसे शासन घातकी लुटेरों पर विश्वास करने के पहले एवं उन पर दृष्टिराग लाने से पूर्व हमें पूर्णतया जांच कर लेनी चाहिए नहीं तो भविष्य में (भावी जीवन में, आते भव में) पछताना पड़ेगा। अतः अंधविश्वासी, भोले भगतों को अपनी आंखे खोलनी चाहिए।

अशुद्ध गुरु मोक्ष नहीं दिला सकते हैं, दृष्टांत

नाम्रं सुसिक्तोऽपि ददाति निंबकः,
पुष्टा रसैर्वंध्यगवी पयो न च।
दुःस्थो नृपो नैव सुसेवितः श्रियं,
धर्मं शिवं वा कुगुरुर्न संश्रितः॥ ८॥

अर्थ—उत्तम रीति से सींचे जाने पर भी नींम का वृक्ष आम्र फल नहीं दे सकता है, रस (गन्ना, घी, तेल) खिलाकर पुष्ट हुई भी बांझ गाय दूध नहीं दे सकती है। राज्यभ्रष्ट राजा उत्तम रीति से सेवित होता हुवा भी लक्ष्मी नहीं दे सकता है। उसी प्रकार से कुगुरु भी आश्रय लेने पर शुद्ध धर्म और मोक्ष देने में या दिलाने में समर्थ नहीं हो सकता है॥ ८॥

विवेचन—जैसे सुसींचित नीम से आम, सुरसखाद्य भोजन से वंध्या गाय से बच्चा, सुसेवित राज्य भ्रष्ट राजा से धन प्राप्त नहीं हो सकता वैसे ही कुगुरु से धर्म नहीं मिल सकता है।

तात्विक हित करने वाली वस्तु

कुलं न जातिः पितरौ गणौ वा, विद्या च बंधुः स्वगुरुर्धनं वा ।
हिताय जंतोर्न परं च किंचित्, किंत्वादृताः सद्गुरुदेवधर्माः ॥९॥

अर्थ—कुल, जाति, माता पिता, गण, विद्या, सगे संबंधी, कुलगुरु धन या अन्य कोई भी वस्तु इस प्राणी को हितकारी नहीं होती हैं, परन्तु आराधन किये हुए शुद्ध देव, गुरु और धर्म ही हितकर होते हैं ॥ ९ ॥ उपजाति

विवेचन—चलं चित्तं, चलं वित्तं, चलं जीवित योवने,
चलाचले च संसारे धर्म एको हि निश्चलाः ॥

हे मोह में पड़े हुए जीव ! तेरा भला करने वाली कोई वस्तु नहीं है, मात्र निस्वार्थी, परम उपकारी गुरु द्वारा उपदिष्ट धर्म सद् देव ही हितकारी हैं। प्रतिदिन के संसर्ग से तू कुटुंब में या धनादि पुद्गल में लुब्ध है और आराम की सांस लेता है, नोटों को गिनता है, गहनों को उथलपाथल करता है, बैंक की पास बुक में बैलेंस (जमा पूंजी) देखकर प्रसन्न होता है परन्तु हे भोले तुझे यह नहीं भूलना चाहिए कि ये सब तो कुछ काल बाद पराए हो जाने वाले हैं आंख मींचते ही इन पर दूसरों का अधिकार हो जायगा अतः इनमें से मन को हटाकर शुद्ध देव, गुरु और धर्म की आराधना कर, ये ही तेरे हितैषी हैं।

जो धर्म में प्रवृत्त करते हैं वे ही सच्चे माता पिता हैं

माता पिता स्वः सुगुरुश्च तत्त्वात्प्रबोध्य यो योजति शुद्धधर्मे ।
न तत्समोऽरिः क्षिपते भवाब्धौ, यो धर्मविघ्नादिकृतेश्च जीवम् १०

अर्थ—जो तत्त्वों को ज्ञान कराकर शुद्ध धर्म में लगाते हैं वे ही सच्चे माता पिता और गुरु हैं। जो धर्म में विघ्न डालकर इस जीव को भव समुद्र में फेंक देते हैं उनके समान दूसरा कोई शत्रु नहीं है ॥ १० ॥ उपजाति

विवेचन—माता, पिता, या गुरु बालक को पाल पोषकर शिक्षित करते हैं उनका कर्त्तव्य है कि जब बालक युवा हो जाय तब उसे संसार की वास्तविकता, नरक निगोद आदि के दुःख, गृहस्थाश्रम के बंधन आदि, भव भ्रमण के अनेक कारणों को स्पष्ट समझा दें यदि वह संवेगी (वैराग्यवान) होना चाहता है या आत्मकल्याण करने को उद्यत होता है तो उसे सहर्ष आज्ञा दे दें। यदि वे उसके धर्माराधन में विघ्न डालते हैं, अपने स्वार्थ के लिए उसे संसार के बंधन में डालते हैं तो वे उसके सबसे बड़े शत्रु हैं।

सम्पत्ति के कारण

दाक्षिण्यलज्जे गुरुदेवपूजा, पित्रादिभक्तिः सुकृताभिलाषः।
परोपकारव्यवहारशुद्धि, नृणामिहामुत्र च संपदे स्युः ॥ ११ ॥

अर्थ—(दाक्षिण्य)—सरलता, लज्जा, देव गुरू की पूजा, पिता आदि बड़ों की भक्ति, सत्कार्य की अभिलाषा, परोपकार और व्यवहार शुद्धि, ये सातों मनुष्य को इस भव में और परभव में सम्पत्ति देते हैं ॥ ११ ॥ उपजाति

विवेचन—ऊपर के सातों का भाव समझकर शुद्ध हृदय से मननकर आचरण करने से इस भव में और परभव में

सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। इन सातों में प्रायः सभी गुणों का समावेश हो जाता है।

विपत्ति के कारण

जिनेष्वभक्तिर्यमिनामवज्ञा, कर्मस्वनौचित्यमधर्मसंगः।
पित्राद्युपेक्षा परवंचनंश्च, सृजन्ति पुंसां विपदः समंतात् ॥१२॥

अर्थ—जिनेश्वर की तरफ अभक्ति (अशातना), साधुओं की अवज्ञा, व्यापार आदि में अनुचित प्रवृत्ति, अधर्म की संगति, पिता आदि की उपेक्षा (बेपरवाही) और ठगाई ये मनुष्य को चारों तरफ से आपत्तियां उत्पन्न करती हैं॥ १२॥ उपजाति

विवेचन—वीतराग जिनेश्वर के प्रति अनादर, अप्रीति और अविनय; उपकारी गुरू का तिरस्कार अपमान और अवज्ञा; प्रतिदिन के धंधे में अनीति व बेईमानी, पर स्त्री गमन, जूआ आदि; दुर्जन एवं ढोंगी, विपरीत आचरण वाले अधम, पापी मनुष्य की संगति; माता पिता की सेवा से मुंह मोड़ना, उनसे दुर्व्यवहार करना, उनके भोजन या सेवा का प्रबंध न करना; दूसरों को ठगना, छल कपट करना एवं उनकी अज्ञानता से लाभ लेकर अपना स्वार्थ सिद्ध कर उनको हानि पहुंचाना; ये छः बातें हर प्रकार से आपत्तियों को लाने वाली हैं।

इन दोनों श्लोकों का अर्थ विचार कर गहराई से सोचना

चाहिए। कहने को सब हैं करने को कोई नहीं अतः सूक्ष्म दृष्टि से विचार कर इनका पालन करना चाहिए।

पर भव में सुख पाने के लिए पुण्य बन

भक्त्यैव नार्चसि जिनं सुगुरोश्च धर्मं,
नाकर्णयस्यविरतं विरतोर्न धत्से।
सार्थं निरर्थमपि च प्रचिनोष्यघानि,
मूल्येन केन तदमुत्र समीहसे शम् ?॥ १३॥

अर्थ—हे भाई ! तू भक्ति से श्री जिनराज की पूजा नहीं करता है, एवं उत्तम गुरू महाराज की सेवा नहीं करता है; निरंतर धर्मश्रवण नहीं करता है; विरति (पाप से पीछे हटना—व्रत पच्चखान करना) भी धारण नहीं करता है, प्रयोजन से या बिना प्रयोजन से पापों की पुष्टि करता है तो फिर किस मूल्य से आते भव में सुख प्राप्त करने की इच्छा रखता है॥ १३॥ **वसंततिलका**

विवेचन—संसार में कोई भी वस्तु बिना कीमत से नहीं मिलती है। जैसे तू आराम के साधनों के लिए परिश्रम कर रुपया पैदा करता है और उन रुपयों से वस्तु खरीदता है वैसे ही यदि परभव में सुख पाने की इच्छा रखता है तो ऊपर बताए गए काम कर जिसके बदले में तुझे सुख मिलेगा। संसार में फंसा हुवा तू हर समय धनोपार्जन में लगा रहता है और जब कभी धार्मिक कामों के लिए तुझे सलाह दी जाती है तब कहता है कि "फुरसत ही नहीं है, धंधे से सिर

भी ऊंचा नहीं हो सकता है !" अरे प्राणी ! इस लोक में पेट भरने के लिए दिन रात में १२ घंटे खर्च करता है जब कि परलोक के सुधारने के लिए तेरे पास १२ मिनट भी नहीं है ? तू बेखबर होकर अपने पूर्वसंचित पुण्य को नष्ट कर रहा है एवं नया पुण्य धन कुछ कमा ही नहीं रहा है विपरीत इसके अनर्थ दंड (नाटक, सिनेमा, सर्कस देखना मकान बंगले, भोजन संबंधी बातचीत राजकथा एवं युद्ध की बातें करना आदि) द्वारा पापधन कमा रहा है, तुझे ही तो अपनी करनी का फल भोगना पड़ेगा अतः सावधान होकर इन चारों कामों को अवश्य कर जिससे तू भवोभव में सुख प्राप्त करेगा।

(१) भक्तिपूर्वक प्रभु का पूजन (द्रव्य से या भाव से)।

(२) सद्गुरु के पास से निरंतर धर्मश्रवण।

(३) स्थूल विषयों से दूर रहकर उनका यथा शक्ति त्याग।

(४) अकारण या सकारण पापों से निवृत्ति।

सुगुरू सिंह; कुगुरू सियार

चतुष्दैः सिंहइव स्वजात्यैर्मिलन्निमांस्तारयतीह कश्चित्।
सहैव तैर्मज्जति कोऽपि दुर्गे, शृगालवच्चेत्यमिलन् वरंसः ॥१४॥

अर्थ—जिस प्रकार से अपनी जाति के प्राणियों को मिलकर सिंह ने तार दिया उसी प्रकार से कोइ (सुगुरू) अपने जाति भाई (भव्य पञ्चेंद्रिय) को मिलकर इस संसार समुद्र से तारते हैं; और जिस प्रकार से सियार अपने जाति भाइयों के साथ डूब मरा वैसे ही कोइ (कुगुरू) अपने

साथ सबको नरकादि अनंत संसार में डुबाते हैं, अतः ऐसे सियार जैसे पुरुष (कुगुरू) न मिलें तो ही अच्छा है ॥१४॥

उपेंद्रवज्रा

विवेचन—संसार में भटकते हुए प्राणी को कभी ही ऐसा सुयोग प्राप्त होता है जब कि वह सुगुरू की संगति करता है व उनके उपदेश श्रवण से आत्मकल्याण करता है। जो गुरू स्वयं भी तरने में समर्थ हैं और दूसरों को भी तारने में समर्थ हैं वे उस सिंह के समान हैं जिसने एक जंगल में अपने आश्रित रहते हुए प्राणियों को दावानल से बचाया। जो कुगुरू स्वयं भी तरना नहीं जानते हैं और दूसरों को भी डुबाते हैं वे उस सियार की तरह हैं जो स्वयं भी डूब गया और अपने भरोसे रहे हुए अनेक प्राणियों को भी डुबा दिया। ऐसे कुगुरू न मिलें तो ही अच्छा है।

कथा—किसी वन के पशुओं ने अपनी रक्षा के लिए एक सिंह को राजा बनाया। एक बार वन में अग्नि का प्रकोप हुवा। सिंह सब पशुओं को नदी किनारे ले आया और सबको एक दूसरे की पूंछ पकड़ने को समझा दिया और सबसे आगे वाले ने उस सिंह की पूंछ पकड़ी इस तरह से उसने अपनी शक्ति से सबको लेकर नदी पार कर ली और उसके कारण सब ही पशु बच गए। अग्नि शांत होने पर वह सबको वापस उसी जंगल में ले आया।

इस जंगल के समीप ही एक और जंगल था, उसका राजा एक सियार बना और यश पाने की इच्छा से उसने आग

लगने पर सिंह की तरह साहस करना शुरू किया। उसमें इतनी शक्ति व साहस कहां ? परिणाम यह हुवा कि बेचारे सब ही प्राणी बीच नदी में डूब मरे वह सियार तो खैर डूबा ही मगर साथ में सबको ले डूबा।

इसी प्रकार से कई वेशधारी मुनि जो मात्र उपकरणों के लिए लड़ते झगड़ते हैं जिन्हें तत्त्वज्ञान होता नहीं वे उन बेचारे ग्रामीण अशिक्षित श्रद्धालु लोगों को विपरीत मार्ग बताकर केवल कथा, कवित्त में फंसाए रखकर मझधार में डुबाते हैं खुद भी नरक नदी में डूबते हैं दूसरों को भी डुबाते हैं। आज सिंह गुरु के दर्शन दुर्लभ हो रहे हैं।

गुरु का संयोग होनें पर भी जो प्रमाद करता है वह अभागा है

पूर्णे तटाके तृषितः सदैव, भूतेऽपि गेहे क्षुधितः स मूढः।
कल्पद्रुमे सत्यपि ही दरिद्रो, गुर्वादियोगेऽपि हि यः प्रमादी ॥१५॥

अर्थ—गुरु आदि के योग होने पर भी जो आलस्य करता है वह उस मनुष्य के जैसा है जो तालाब पास होने पर भी प्यासा रहता है, धनधान्य से भरे हुए घर में भी भूखा रहता है और कल्पवृक्ष पास होने पर भी दरिद्र ही रहता है ॥१५॥

उपजाति

विवेचन—गुरु महाराज का बड़ा महत्त्व है वे सच्चे मार्ग-दर्शक होते हैं। मुक्ति का बीज (सम्यक्त्व-सच्ची श्रद्धा) बोने वाले भी वे ही होते हैं। शुद्ध देव-गुरु-धर्म में श्रद्धा आए बिना मुक्ति नहीं होती है, इन तीनों रत्नों का ज्ञान कराने वाले ये गुरु

ही होते हैं। ऐसे गुरु का योग होने पर भी जो उनके ज्ञान का लाभ नहीं उठाता है वह ऊपर के दृष्टांत की तरह प्यासा, भूखा व दरिद्री ही रहता है। श्रद्धा बिना की क्रिया व तप एक (१ संख्या) बिना की शून्य (०) समझना चाहिए। जैसे कोई अंक १ न लिखकर चाहे जितने शून्य लिख दे उनका कोई महत्व नहीं है वैसे ही सच्चो श्रद्धा बिना की तपस्याएं, शून्यवत हैं उनका कोई महत्त्व नहीं है। अतः उस (१) एक अंक की प्राप्ति के लिए सद्गुरु का लाभ लेना चाहिए जो आलस्य में—प्रमाद में रहता है वह दुर्भागी है, मूर्ख है।

देव गुरु धर्म पर आंतरिक प्रेम के बिना जन्म निरर्थक है

न धर्मचिंता गुरुदेवभक्तिर्येषां न वैराग्यलवोऽपि चित्ते।
तेषां प्रसूक्लेशफलः पशूनामिवोद्भवः स्यादुदरंभरीणाम् ॥१६॥

अर्थ—जो प्राणी धर्मसंबंधी चिंता, गुरु और देव के प्रति भक्ति या वैराग्य का अंश भी चित्त में धारण न करते हों वैसे पेट भरों का जन्म पशु की तरह से जन्मदातृ को कष्ट देने वाला ही हुवा ॥ १६ ॥

विवेचन जो मनुष्य मनमानी तरह से दिनचर्या करते हैं, मौज शौक में पूरा जीवन बिताते हैं न धर्म का विचार है, न देव गुरु की भक्ति है, न हृदय में वैराग्य है, मस्त हाथी की तरह झूमते हुए चलते हैं, कहते कुछ हैं करते कुछ हैं, कपड़ों से सभ्य, करणी से असभ्य ऐसे मनुष्यों का जन्म निरर्थक गया, उनके जन्म से उनकी माता को प्रसव पीड़ा

व यौवन का ह्रास ही हुवा जैसे कि पशुओं को होता है। क्योंकि पशु, माता का कुछ भी उपकार नहीं करते हैं।

देव संघादि कार्य में द्रव्य व्यय

न देवकार्ये न च संघकार्ये, येषां धनं नश्वरमाशु तेषाम्।
तदर्जनाद्यैर्वृजिनैर्भवांधौ, पतिष्यतां कि त्ववलंबनं स्यात् ॥१७॥

अर्थ—धन या पैसा एक दम नाशवान है। ऐसा धन जिनके पास हो यदि वे उसको देवकार्य में या संघ कार्य में न खर्च करें तो उनको उस धन के कमाने में किए गए पापों से संसार समुद्र में गिरते गिरते आधार किसका होगा ? ॥ १ ॥

उपजाति

विवेचन—धन के लिए अनेक पाप करने पड़ते हैं। प्रायः झूठ, धोखा व हिंसा इसका मुख्य आधार होता है, फिर भी धन टिकता नहीं है, पापोदय से नष्ट हो ही जाता है। ऐसा धन का संग्रह या श्रावक जिसके पास हो वह देव, गुरु धर्म के लिए या संघ के लिए उसका खर्च नहीं करता है तो किए गए पापों के परिणाम से संसार समुद्र में गिरने से उसे कौन बचा सकेगा ? जैसे समुद्र में गिरने वाले को लकड़ी की नाव या पाटिए का आधार होता है वैसे ही नरक आदि के दुःख से या संसार समुद्र से बचने के लिए जीव को धर्म की नाव या पाटिया का सहारा होता है। धन का उपयोग सार्वजनिक लाभ के लिए या जिन मंदिर, जिनमूर्ति या जीर्णोधार आदि कराने में या गुरुकुल, पाठशाला, ज्ञानशाला, दानशाला, गौशाला आदि खोलकर या साधारण वर्ग के भाई बहिनों के लिए

उद्योगकेंद्र खोलकर उनकी सहायता करना व आजीविका दिलाने में मददगार बनना चाहिए। धर्म के उत्तम ग्रंथों का का सरलभाषा में प्रकाशन करा मानव मात्र तक पहुंचाने के लिए सस्ते दामों में ज्ञान प्रचार करना चाहिए। ये सब ही ऐसे काम हैं जो हमें उस पाप से बचाने में समर्थ होंगें जिनका उपार्जन हमने धन कमाते हुए किया है।

गुरु का महत्त्व सबसे अधिक है, देव धर्म की पहिचान भी गुरु ही कराते हैं, अज्ञान से अंधे मनुष्य को ज्ञान का प्रकाश गुरू ही देते हैं अतः सच्चे गुरु का आधार लेकर तरने का उपाय करना चाहिए। ढोंगी, बदचलन, केवल वेशधारी, साधु समान वेश धारण कर आरंभ सारंभ करने वाले भ्रष्टाचारी गुरुओं का परित्याग कर हमें सच्चे गुरु का आलंबन स्वीकार करना चाहिए। वेश देखकर ही बिना परीक्षा से गुरु नहीं करना चाहिए वरना हानि होगी।

इति द्वादशः देव गुरु धर्म शुद्धि अधिकारः

अथ त्रयोदशो

यतिशिक्षोपदेशाधिकारः

पिछले अधिकार में गुरु महाराज को स्वीकार करने के लाभों का वर्णन किया है। इस अधिकार में यति योग्य शिक्षा दी जाती है। यति शब्द में संसार से विरक्त रहने की प्रतिज्ञा करने वाले साधु, यति, श्रीपूज्य, द्रव्यलिंगी और भट्टारक इन सबका समावेश है। इस पाठ में प्रथम वर्ग को उद्देश्य कर शिक्षा दी गई है। केवल वेश देखने की आवश्यकता नहीं है वरन व्यवहार भी देखना चाहिए। यह अधिकार दंभी, दुराचारी, या वेशधारी को पहचानने में सहायक होने से सभी को उपयोगी है।

मुनि महाराज का भावनामय स्वरूप

ते तीर्णा भववारिधिं मुनिवरास्तेभ्यो नमस्कुर्महे,
येषां नो विषयेषु गृध्यति मनो नो वा कषायैः प्लुतुम्।
रागद्वेषविमुक् प्रशांतकलुषं साम्याप्तशर्माद्वयं,
नित्यं खेलति चात्मसंयमगुणाक्रीडे भजद्भावनाः॥ १॥

चर्थ—जिनका मन इन्द्रियों के विषयों में आसक्त नहीं होता है या कषायों से व्याप्त नहीं होता है, जो (मन) राग

द्वेष से मुक्त रहता है, जिसने पाप कार्यों को शांत किया है, जिसने समता द्वारा अद्वैत सुख प्राप्त किया है और जो सद् भावना भाता हुआ संयम गुण रूपी उद्यान में सदा खेलता है—इस प्रकार का जिनका मन हुवा है वे मुनि यह संसार समुद्र तर गए हैं अतः उनको हम नमस्कार करते हैं।

शार्दूलविक्रीडित

विवेचन—सच्चे मोक्षार्थी आध्यात्मी मुनिराजों की स्थिति का प्रथक्करण करते हुए नीचे के गुण स्पष्टतर आते हैं।

(१) शुद्ध मुनिराज पांच इन्द्रियों के तेईस विषयों में आसक्त नहीं होते हैं। उनको विलेपन पर राग नहीं होता है। चाय, दूध, मिठाई या दूधपाक, शिखंड देखकर उनके मुंह में पानी नहीं छूटता है। दुर्गंध और सुगंध में वे समबुद्धि रहते हैं। स्त्रियों का रूप लावण्य उनको स्खलित नहीं करता है। मधुर संगीत, विषय रस पोषक गानें उन्हें मरण समय के विलाप तुल्य प्रतीत होते हैं।

(२) क्रोध, मान, माया, लोभ को जिन्होंने जीत लिया होता है।

(३) संसार के कारणभूत राग, द्वेष को जिन्होंनें छोड़ दिया होता है।

(४) अशुभ अध्यवसाय से रहित होने से वे अशुभ कर्म नहीं बांधते हैं।

(५) समतारूपी रंग से उनका जीव रंगा हुआ होता

है और वास्तविक सुख (अव्याबाध सुख) के ज्ञाता होने से वे आध्यात्मिक सुख में रमण करते रहते हैं।

(६) ये मुनि संयम गुण रूपो विकसित पुष्पोद्यान में क्रीड़ा करते हैं अर्थात् संयम आदि गुणों वाले होते हैं। उनका नैश्चयिक चारित्र यही है।

(७) ऊपर लिखे अनुसार खेलते हुए भी वे निरन्तर अनित्य आदि बारह भावना और मैत्री, प्रमोद, करुणा व माध्यस्थ इन चार भावनाओं को भाते रहते हैं।

यह आदर्श मात्र है। ऐसे गुणों से विशिष्ट जीवन वाले पुण्यात्मा स्वयं संसार तर गए हैं, तरते हैं और अन्य को तारने में अनुकरणीय बनते हैं। वैसे महात्माओं को हम नमस्कार कर उनके अनुकरण की भावना रखते हैं।

साधु के वेश मात्र से ही मोक्ष नहीं मिलता है

स्वाध्यायमाधित्ससि नो प्रमादैः, शुद्धा न गुप्तीः समितीश्च धत्से।
तपो द्विधा नार्जसि देहमोहादल्पेऽहि हेतौ दधसे कषायान् ॥२॥
परीषहान्नो सहसे न चोपसर्गान्न शीलांगधरोऽपि चासि।
तन्मोक्ष्यमाणोऽपि भवाब्धिपारं, मुने कथं यास्यसि वेषमात्रात्।
युग्मम् ॥ ३ ॥

अर्थ—हे मुनि! तूं विकथा आदि प्रमाद के कारण स्वाध्याय (सज्झाय-ध्यान) करने की इच्छा नहीं रखता है; विषयादि प्रमाद से समिति और गुप्ति प्राप्त नहीं करता है; शरीर के मोह से दोनों प्रकार के तप नहीं करता है; तुच्छ कारण से

कषाय करता है; परिषह तथा उपसर्ग सहन नहीं करता है। (अठारह हजार) शीलांग धारण नहीं करता है, फिर भी तूं मोक्ष पाने की इच्छा रखता हे, परन्तु हे मुनि ! वेश मात्र से संसार समुद्र को कैसे पार करेगा ? ॥ २-३ ॥

विवेचन—ऊपर भावनामय मुनि का रूप कहा, यहां व्यतिरेक रूप से उनको क्या करना चाहिए वह कहते हैं :—

१. पांच प्रकार का स्वाध्याय प्रतिदिन करना चाहिए। जो इस प्रकार से है:—वांचना, (पढ़ना); पृच्छना (शंका पूछना); परावर्तना (पिछला याद करना); अनुप्रेक्षा (विचारणा); धर्मकथा।

२. पांच समिति और तीन गुप्ति जो साधु के खास लक्षण हैं उन्हें आठ प्रवचन माता कहते हैं, इनका पालन अवश्य करना चाहिए। वे ये हैं:—

अ—इर्या समिति—निर्जीव मार्ग में सूर्योदय के पश्चात् साड़ा तीन हाथ आगे नजर रखकर जीवों की रक्षा करते हुए चलना। रात को न चलना।

आ—भाषा समिति—निरवद्य (पाप रहित) सत्य, हितकारी और प्रिय वचन भी विचार कर बोलना।

इ—एषणा समिति—अन्नपाणी आदि लेते समय ४२ दोष टालना।

ई—आदान भंडमत्त निक्षेपणा समिति—किसी भी वस्तु को देखकर, साफ कर, (निर्जीव भूमि पर) रखना या लेना। किसी वस्तु को घसीटना नहीं।

उ—पारिष्ठापतिका समिति—मल, मूत्र, कफ आदि तजते या डालते समय जमीन को या स्थान को पूरी तरह से देखना। मल मूत्र आदि जीव रहित स्थान पर छोड़ना।

ऊ—मन गुप्ति—अशुभ विचार के लिए मन पर अंकुश रखना अथवा सर्वथा मनोव्यापार न करना।

ए—वचन गुप्ति—किसी भी प्रकार का वचन नहीं बोलना या पापकारी वचन छोड़कर निष्पाप वचन बोलना।

ऐ—काय गुप्ति—शरीर को बिना यत्न से प्रवर्त नहीं करना अर्थात् चाहे जैसे हिलने डुलने या काम करने नहीं देना या उसे बिल्कुल क्रिया रहित रखना।

३. दो प्रकार के तप—

ओ—बाह्य तप छः प्रकार का:—उपवास आदि करके बिल्कुल नहीं खाना; कम खाना; कम वस्तुएं खाना; रस वाली घी दूध आदि वस्तुएं न खाना; कर्म क्षय के लिए शरीर को कष्ट देना; इन्द्रियों व शरीर को संकोच कर रखना यह बाह्य तप कहलाता है।

औ—अभ्यंतर तप—छः प्रकार का—किए हुए पापों का प्रायश्चित करना, जिन आदि दस का यथायोग्य

विनय करना, पांच प्रकार का स्वाध्याय करना, ध्यान करना और काउसग करना।

चार कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) और उनको जन्म देने वाले और उनके साथ रहने वाले हास्य, रति, अरति आदि नोकषाय न करना। उनका स्वरूप सातवें अध्याय में बताया गया है।

५. बाईस परिषह (भूख, प्यास आदि) एवं देव या मनुष्य के द्वारा किए जाने वाले अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग समता से सहने चाहिएं, जरा सा भी क्रोध, द्वेष या क्लेश नहीं लाना चाहिए। ऐसे बर्ताव से अपना जीवन समतामय करना चाहिए।

६. शास्त्रकार ने उपसर्ग के चार मुख्य भेद व उनके १६ उपभेद कहे हैं।

१—देवकृत—हास्य से, द्वेष से, विमर्श, (विचार सहन कर सकता है कि नहीं यह देखने के लिए परीक्षा करना), पृथक् विमात्रा—(धर्म की ईर्षा आदि के लिए वैक्रिय शरीर बनाकर जो उपसर्ग दिया जाता है)।

२—मनुष्यकृत—हास्य से, द्वेष से, विमर्श से, कुशील (काम विकार उत्पन्न करके या संतान उत्पत्ति के लिए जबरदस्ती प्रयोग करना कि यह ब्रह्मचारी है इससे यदि संतान होगी तो बलवान होगी इस विचार से ब्रह्मचर्य का खंडन कराने की कोशिश करना है)।

३—तिर्यंचकृत्—भय से, द्वेष से, आहार के लिए, व अपने बच्चे की रक्षा के लिए पशु सामने मारने दौड़ता है वह कष्ट।

४—आत्मकृत—वात, पित्त, कफ, सन्निपात आदि।

७. अठारह हजार शीलांग धारण करना चाहिए जिन्हें शास्त्रों से समझें।

इस प्रकार से ऊपर वर्णित सात तरह के आचरण करना चाहिए। तू जानता है कि ये मोक्ष जाने के साधन हैं एवं तू चाहता भी है मोक्ष में जाना, परन्तु काम विपरीत करता है। वैसे साधन बिना केवल वेष से मोक्ष नहीं जाया जाता अतः सद्धर्म रूपी नाव में बैठ कर मोक्ष में जा पहुंच।

केवल बेष से कोई लाभ नहीं है

आजीविकार्थमिह यद्यतिवेषमेष,
धत्से चरित्रममलं न तु कष्टभीरुः।
तद्वेत्सि किं न न बिभेति जगज्जिघृक्षु-
र्मृत्युः कुतोपि नरकश्च न वेषमात्रात् ॥ ४ ॥

अर्थ—तूं आजिविका के लिए ही इस संसार में यति का भेष धारण करता है परन्तु कष्टों से डरकर शुद्ध चारित्र नहीं पालता है, परन्तु तुझे मालूम नहीं है कि समस्त संसार को ग्रहण करने की (हड़पने की) इच्छा वाला मौत और नरक किसी भी प्राणी के वेष से डर नहीं जाते हैं ॥ ४ ॥

विवेचन—कोई संसार से संतप्त व्यक्ति स्मशान वैराग्य से दीक्षित होकर यति या साधु का वेष धारण कर लेता है और क्षणिक वैराग्य के लुप्त होने पर मनमाने आचरण करता है। भोले जीवों को धोखे में डालने वाला उसका वह वेष अनेक अनाचारों पर परदा डालता है। उसकी जीभ नित्य नए पदार्थों के लिए लालायित रहती है, उसकी आंखें उसके सम्पर्क में आने वाली रूप सुन्दरियों के अंगों में फिरती हैं उसका परिग्रह बढ़ जाता है अतः मोह बढ़ जाता है इस तरह से बिना वैराग्य के धारण किया हुवा उसका वेष उसकी लालसाओं की पूर्ति का साधन बन जाता है, व क्रमशः उसके पतन का कारण बनता है। वह ढोंगी नीचे उतरता उतरता शील भ्रष्ट हो जाता है और अपने उस वेष द्वारा उपार्जित देवद्रव्य या ज्ञानद्रव्य के आड़ में किये गए कुत्सित धन के संचय से भावी जीवन का निर्वाह चलाता है।

कोई कोई साधु तो जरा भी तप नहीं करते हैं। वे उपसर्ग और परिषह से डरते हैं और चारित्र में दृढ़ नहीं रहते हैं, जब वे अपनी छुपी पापलीला को समाप्त कर मृत्यु को पाते हैं तब उनके उस वेष से मृत्यु देवी लिहाज नहीं रखती है, उनके लिए नरक प्रतीक्षा करते रहते हैं। मृत्यु व नरक उनके वेष से ठगे नहीं जायेंगे। कई विरले महापुरुष उन नरक व मृत्यु को भी सच्चरित्र द्वारा जीत लेते हैं अतः वेष के साथ बरताव भी वैसा ही रखकर स्वपर का कल्याण करें।

केवल वेश धारण करने वाले को तो दोष ही प्राप्त होता है

वेषेण माद्यसि यतेश्चरणं विनात्मन्,
पूजां च वांछसि जनाद्बहुधोपधिं च ।
मुग्धप्रतारणभवे नरकेऽसि गंता,
न्यायं बिभर्षि तदजागलकर्तरीयम् ।। ५ ।।

अर्थ—हे आत्मा ! तू बरताव (चारित्र) रहित, केवल यति के वेश से ही अक्कड़ (अहंकार) करता है और फिर लोकों से पूजा की इच्छा रखता है और अनेक प्रकार से (वस्त्र पात्र आदि) उपाधि पाने की इच्छा रखता है; जिससे भोले (विश्वास करने वाले) लोगों को ठगने से प्राप्त किए हुए नरक में तू अवश्य जाने वाला है ऐसा प्रतीत होता है। निश्चित ही तू 'अजागल कत्तरी न्याय' को धारण करता है ।। ५ ।। **वसंततिलका**

विवेचन—किसी कसाई ने मांस की इच्छा से एक बकरी पाली। एक बार उसे मारने के लिए वह छुरी ढूंढने लगा परन्तु छुरी नहीं मिली। बकरी स्वभाव से ही पैर से मिट्टी खुरचती रहती है, एक दिन मिट्टी खुरचते खुरचते जमीन में से एक छुरी निकली, उसे ढांकने के लिए वह ज्यों ही गरदन उसपर रखकर बैठी कि गला कट गया। इसे अजागल कत्तरी न्याय कहते हैं। जैसे बकरी ने स्वयं ही अपनी मूर्खता से गला कटाया एवं छुरी को छुपाने की इच्छा से अज्ञानता से अपना नाश किया वैसे ही अपनी आत्मा के कल्याण की

भावना से साधुपन स्वीकार करने पर भी यदि तू बरताव शुद्ध नहीं रखता है और केवल साधु के भेष से ही फूला फूला फिरता है और उस वेश के कारण भोले लोग तुझे सच्चा साधु समझते हैं, तू उनकी श्रद्धा का दुरुपयोग करके कई तरह के बहाने या झूठे कारण बताकर कपड़े, दवाइयां, घड़िया, पेन, पोस्ट कार्ड और आड़ी रीति से रुपये भी मंगाकर अपने विश्वस्थनीय व्यक्ति के पास भेजवाता है या किसी व्यक्ति को नौकर रखकर उसके पास जमा करवाता है और पश्चात् उस धन से मनमाना खानपान करता है इससे तू स्वयं अपने आप के लिए नरक के कष्ट निश्चित करता है। बिना गुण के ही तू पूजा की इच्छा रखता है इसीलिए लौकिक दृष्टांत बना है कि :—

मूँड मुंडाए तीन गुण मिटे सिर की खाज।
खाने को मोदक मिले लोग कहें महाराज ॥

यदि तू केवल वेष ही साधु का रखता है, बर्ताव वैसा नहीं रखता तो निश्चित ही तू नरक में जाने वाला प्रतीत होता है। अतः वेष के अनुरूप आचरण कर।

बाह्य वेश धारण करने का फल

जानेऽस्ति संयमतपोभिरमीभिरात्म-
न्नस्य प्रतिग्रहभरस्य न निष्क्रयोपि।
किं दुर्गतौ निपततः शरणं तवास्ते,
सौख्यं च दास्यति परत्र किमित्यवेहि ॥ ६ ॥

अर्थ—मेरी जानकारी के अनुसार तो हे आत्मा ! इस प्रकार के संयम और तप से (गृहस्थ के पास से लिए पात्र, भोजन आदि) वस्तुओं का किराया भी पूरा नहीं होता है। तब दुर्गति में गिरते हुए तुझे शरण किसका होगा ? परलोक में सुख कौन देगा ? उसका तू विचार कर ॥ ६ ॥

वसंततिलका

विवेचन—गृहस्थ अपनी आवश्यकताओं का ध्यान न रखते हुए खाने पहनने व कभी २ कीमती वस्तुएं तक साधु को निसंकोच दे देते हैं जिसका बदला वे साधु से नहीं चाहते हैं। उनकी भावना यही रहती है कि ये धर्मात्मा स्वयं का व अन्य का कल्याण करने में तत्पर हैं अतः हमें इनकी आवश्यकताएं श्रद्धापूर्वक पूरी करनी चाहिए। यदि हे साधु, तू तप संयम आदि नहीं करता है तो फिर उन गृहस्थों के ऋण से कैसे उऋण होगा और ऋण चुकाने योग्य संयम तप आदि की मात्रा को और अधिक नहीं बढ़ाता है तब तुझे दुर्गति में गिरते वक्त शरण किसका होगा, परलोक में सुख किस धर्म पूंजी से मिलेगा ? यह तेरा वेश बुरे कामों से अटकाकर धर्म काम में प्रवृत्त होने के लिए सहायक रूप है इस वेश को देखकर गृहस्थ लोग अनायास ही तेरे पास हाथ जोड़ते पांव पड़ते आते हैं अतः तू उनको स्वयं आचरित सद्धर्म का मार्ग बताकर उनसे प्राप्त उपाधि व भोजन वस्त्र के ऋण से मुक्त होता जा। परन्तु मात्र इतने से संतुष्ट न होकर कुछ अधिक तप कर जिससे तेरे पास उनके ऋण चुकाने के बाद

भी अच्छा धर्म का खजाना बच जाय जो तुझे नरक निगोद के दुःखों से बचावे ।

बरताव बिना का लोकरंजन, बोधिवृक्ष का कुहाड़ा, संसार समुद्र में पात

किं लोकसत्कृतिनमस्करणार्चनाद्यै,
रे मुग्ध तुष्यसि विनापि विशुद्धयोगान् ।
कृंतन् भवांधुपतने तव यत्प्रमादो,
बोधिद्रुमाश्रयमिमानि करोति पशून् ॥ ७ ॥

अर्थ—तेरे त्रिकरण योग शुद्ध नहीं हैं, फिर भी लोग तेरा आदर सत्कार करते हैं, तुझे नमस्कार करते हैं अथवा तेरी पूजा सेवा करते हैं तब हे मूढ़ ! तू क्यों संतोष मानता है ? संसार समुद्र में गिरते हुए तुझे आधार ही केवल बोधिवृक्ष का है उस वृक्ष को काट डालने में नमस्कार आदि से होता हुवा संतोष आदि प्रमाद, इसको (लोकसत्कार आदि को) कुहाड़ा बनाते हैं ॥ ७ ॥ **वसंततिलका**

विवेचन—लोग तो ऊपरी वेश से ही तुझे साधु माने हुए हैं यदि तेरा मन अस्थिर है वचन पर अंकुश नहीं है और काया तेरे वश में नहीं है तो तू लोगों के वंदन पूजन सत्कार से संतुष्ट होकर अपने पैरों पर आप कुल्हाड़ी मारता है अथवा संसार की गर्मी से बचाने वाले बोधिवृक्ष पर इस वंदन पूजन की अभिलाषा व संतोषरूपी कुल्हाड़ी से तू प्रहार कर मोक्ष की शीतल छाया को नष्ट कर रहा है व अपने आधार को नष्ट कर रहा है ।

आज का जमाना तो बड़ा विचित्र होता जा रहा है। बालकों में धार्मिक संस्कार डाले ही नहीं जाते अतः जब वे युवा हो जाते हैं तब कुल परंपरा से पर्यूषणादि में क्रिया तो करने जाते हैं लेकिन वह रूढ़ी पालने मात्र को ही जाते हैं इसका परिणाम यह होता है कि प्रभावना दुबारा तिबारा भी लेते नहीं सकुचाते हैं एवं धर्म श्रवण के बदले हंसी मजाक करते हैं। मन पर अंकुश तो हो ही कैसे सकता है जब कि ज्ञान पढ़ा ही नहीं है, फलतः सायं को प्रतिक्रमण करने के लिए संवत्सरी जैसे महापर्व के दिन, उपवास करके भी लड़ते हैं, गाली गलौच करते हैं और उनका यह टंटा बढ़ते बढ़ते कचहरी तक जाता है। उपासरे में वर्ष में एक ही बार आते हैं और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण के लिए ऐसे धर्म को अपमानित करने के काम करते हैं। इस तरह वे नाम मात्र के श्रावक संघ व धर्म पर आफत लाते हैं वे स्वयं संसार समुद्र में गिरते हैं अतः साधु या श्रावक की जो प्रतिज्ञाएं नियत हैं उनको वास्तविक रीति से मानना चाहिए।

लोक सत्कार का हेतु, गुण बिना की गति

गुणांस्तवाश्रित्य नमंत्यमी जना, ददत्युपध्यालयभैक्ष्यशिष्यकान्।
विना गुणान वेषमृषेर्बिभर्षिचेत्, ततष्ठकानां तव भाविनी गतिः ८

अर्थ—ये लोग तेरे गुणों के कारण तुझे नमस्कार करते हैं उपाधि, उपाश्रय, आहार और शिष्य तुझे देते हैं। अब यदि तूं गुण बिना ही ऋषि (यति-साधु) का भेष धारण करता है तो तेरी गति ठग के जैसी होगी॥ ९॥ वंशस्थविल

विवेचन—जनता भोली है और वेष पर विश्वास करती है। तेरे वेष से मालूम होता है कि तू उपकारी है, निष्कपट है, अहिंसक है दोष से दूर रहने वाला अपरिग्रही है, एवं केवल आत्मार्थी है अतः तेरी आवश्यकताओं को बिना ही तेरे कहने के वे पूरी करते रहते हैं। तुझे ठहरने को स्थान देते हैं, पहनने को वस्त्र देते हैं, खाने को आहार देते हैं और सेवा करने के लिए अपने संतान रत्न भी देते हैं। इतना होने पर भी तू निर्गुणी, विषयी, कषायी, वाचाल व पेट भरा है तो साधु के बजाय तू स्वादु है और तेरी गति ठग जैसी होगी अर्थात् सद् गति के बजाय दुर्गति होगी, तेरा वेष तुझे बचा नहीं सकेगा।

यतिपन का सुख और कर्त्तव्य

नाजीविका प्रणयिनी तनयादिचिंता,
नो राजभीश्च भगवत्समयं च वेत्सि।
शुद्धे तथापि चरणे यतसे न भिक्षो,
तत्ते परिग्रहभरो नरकार्थमेव ॥ ६ ॥

अर्थ—तुझे आजीविका स्त्री, पुत्र आदि की चिंता नहीं है न राज्य तरफ से भय है। भगवान के सिद्धान्त तूं जानता है अथवा सिद्धांत की पुस्तकें तेरे पास हैं फिर भी हे यति ! यदि तूं शुद्ध चरित्र के लिए प्रयत्न नहीं करता है तो तेरे पास रही हुई वस्तुओं का वजन (परिग्रह) नरक के लिए ही है॥ ६ ॥ वसंततिलका

विवेचन—हे साधु ! हे यति ! तू कितना निश्चिन्त है। तुझे अपने या अपने परिवार के पेट भरने की चिंता नहीं है, कारण कि तेरे तो परिवार ही नहीं है और तुझे स्वयं के लिए भिक्षा नित्य मिल ही जाती है। तू व्यापार आदि नहीं करता है, राज्य के कानून को भंग नहीं करता है अतः राज्य भय भी नहीं है। इस तरह से एक गृहस्थी के लिए जो इह-लौकिक प्रमुख कष्टकारी भय (आजीविका) व राज्य के हैं उनसे तू दूर है। परलोक के भय से निर्भय होने के लिए भगवान के सिद्धान्तों को तू जानता है एवं उन सिद्धान्तों के ग्रंथ भी तेरे पास रखे हुए हैं यदि तू उन पर चलता है तो परलोक का भय भी नष्ट है अतः तू निश्चिन्त है। यदि इतने पर भी तू चारित्र के लिए प्रयत्न नहीं करता है, एवं विपरीत आचरण करता है तो तेरे पास रहे हुए सब ग्रंथ व अन्य परिग्रह तुझे नरक समुद्र में डुबाने के लिए ही समझे जावेंगे।

यहां जो परिग्रह कहा वह मात्र वस्त्र, पात्र व पुस्तक तक ही सीमित है। पंच महा व्रतधारी होकर जो पैसा या स्त्री का परिग्रह रखते हैं तो वे प्रत्यक्ष दुराचारी ही हैं, परन्तु जो मोटरें, गाड़ी, घोड़ा, बैल रखते हों, खेतीवाड़ी बाग बगीचे रखते हों, छड़ी चंवर मेघाडम्बर धरते हों, किसी के बुलाने पर पधरामणी करवाते हों उनकी बात तो सूरिजी करते ही नहीं अर्थात् उनके लिए तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता कि कैसी दुर्गति होगी। जैन धर्म का विधान बड़ा ही उत्तम है। साधु व श्रावक के आचार व्यवहार बहुत विचार करके बांधे

गए हैं। कितने ही पेटु दुष्ट, व कपट व्यवहारी केवल यति का भेष पहन कर ओघा मुंह पत्ति रखते हुए, पैरों में चप्पल सिर पर बालों की पट्टियों में सुगंधित तेल, कानों में इत्र के फोये, घर में पाशवानें (रखेल स्त्रिएं) जंगल में खेत कुएं, बाजारों में दुकानें व कारखाने रखते हैं वैसे नीच कुकर्मियों को धिक्कार है। वे लोग स्वयं भी अधोगति में जाते हैं व अपने यति के वेश के द्वारा धर्म को बदनाम करते हैं, उनको दान देने वालों को भी वे नरक में ले जाते हैं। पहले तो ऐसे कुकर्म मात्र कुछ लोग ही करते थे अब तो अधिक संख्या में ऐसा करते देखे, सुने व पढ़े जाते हैं। साधु वर्ग के एक स्थान पर जमे रहने से, बंगला फैशन उपासरों में पड़े रहने से व जिह्वा के वशीभूत होकर सरस भोजन करने के ये दुष्परिणाम हैं। साधु लोग गुजरात के खान पान को छोड़कर अन्यत्र कम जाते हैं अतः दुष्परिणाम प्रत्यक्ष है।

ज्ञानी भी प्रमाद के वश हो जाते हैं—इसके दो कारण

शास्त्रज्ञोऽपि धृतव्रतोपि गृहिणीपुत्रादिबंधोज्झितोऽ-
प्यंगी यद्यतते प्रमादवशगो न प्रेत्यसौख्यश्रिये।
तन्मोहद्विषतस्त्रिलोकजयिनः काचित्परा दुष्टता,
बद्धायुष्कतया स वा नरपशुर्नूनं गमी दुर्गतौ ॥ १० ॥

अर्थ—शास्त्र का जानकार हो, व्रत ग्रहण किए हुए हों, तथा स्त्री पुत्र आदि बंधन से मुक्त हो फिर भी प्रमाद के वश होकर पारलौकिक सुखरूप लक्ष्मी के लिए यह प्राणी

कुछ भी प्रयत्न नहीं करता है उसका कारण तीन लोक को जीतने वाले मोह नामक शत्रु की अकथनीय दुष्टता होनी चाहिए अथवा वह नरपशु पूर्व में वैसी बांधी हुई आयु के कारण से अवश्य दुर्गति में जाने वाला होना चाहिए।

शार्दूलविक्रीडित

विवेचन—आत्मा का शत्रु रूप मोह राजा अपना साम्राज्य फैलाकर समस्त संसार को प्रमाद मदिरा का पान कराकर नचाता है। उसने साधारण लोगों को तो पागल बना ही दिया है परन्तु तुझ जैसे त्यागी व ज्ञानी अपरिग्रही को भी नहीं छोड़ा है तू भी उसके पंजे में फंस गया है, अथवा तूने पहले ऐसे कर्म किए हैं कि जिनसे तू अवश्य ही दुर्गति में जाने वाला है, क्योंकि इतना त्याग करने पर भी एवं शास्त्राभ्यास करने पर भी तुझे मोह के बाण लग रहे हैं, अतः उनका जहरी असर तेरी तपस्या क्रिया व त्याग को क्षीण कर देता है अर्थात तू भी साधारण जनता की तरह से विषय वासना, मग्न हुवा, ममता और अहंकार को त्याग नहीं सका है।

यति यदि सावद्य आचरण करता है तो उसमें मृषोक्ति का भी दोष है

उच्चारयस्यनुदिनं न करोमि सर्वं,
सावद्यमित्यसकृदेतदथो करोषि।
नित्यं मृषोक्तिजिनवंचनभारितात्तत्,
सावद्यतो नरकमेव विभावये ते॥ ११॥

अर्थ—तू हमेशा रात और दिन मिलाकर नौ बार करेमिभंते का उच्चारण करता है कि मैं सावद्य काम नहीं करूंगा

और फिर भी वैसे काम करता जाता है। ऐसे सावद्य काम करके तू झूठ बोलने वाला होने से प्रभु को भी ठगता है और इस पाप के भार से भारी बने हुए तेरे लिए तो नरक निश्चित है ही ऐसा मैं सोचता हूं ॥ ११ ॥ वसंततिलका

विवेचन—श्रावक या श्राविका भी दिन में जब सामायिक करते हैं तब करेमिभंते का पाठ बोलकर निश्चित समय के लिए पापकारी काम से दूर रहने की प्रतिज्ञा करते हैं जब कि साधु या साध्वी, व्रत अंगीकार करते ही बाकी रहे हुए पूरे जीवन के लिए वैसी प्रतिज्ञा लेते हैं उस सूत्र को करेमिभंते कहते हैं। सूत्र है:—"करेमिभंते सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामी जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं" आदि ॥ श्रावक श्राविका की प्रतिज्ञा में "जावनियमं" होता है जब कि साधु साध्वी की प्रतिज्ञा में "जावज्जीवाए" शब्द होता है। साधु साध्वी को अपनी इस प्रतिज्ञा का स्मरण दिन रात में मिलाकर नौ बार करना पड़ता है कि मैं पापकारी (सावद्य) कार्य मन, वचन और काय से नहीं करूंगा, न कराऊंगा आदि ॥ इस प्रतिज्ञा में बंधे होते हुए भी हे साधु—यति ! जब तू पाप करता है तब तो झूठ भी बोलता है और झूठी प्रतिज्ञा लेकर भगवान को भी ठगता है। अतः तेरे लिए वैसी दशा में नरक गति निश्चित है।

यति यदि सावद्य का आचरण करता है उसमें ठगाई का दोष

वेषोपदेशाद्यु पधिप्रतारिता, ददत्यभीष्टानृजवोऽधुना जनाः।
भुंक्षे च शेषे च सुखं विचेष्टसे, भवांतरे ज्ञास्यसि तत्फलं पुनः १२

अर्थ—वेश, उपदेश और कपट से ठगे हुए भोले लोग तुझे अभी इच्छित वस्तुएं देते हैं, तू सुख से खाता है, सोता है और फिरता है परन्तु आते भव में तुझे उनका फल मालूम पड़ेगा ॥ १२ ॥ उपजाति

विवेचन—लोग केवल वेश से ही प्रभावित होकर तुझे खाने पीने को देते हैं यदि तू आचरण विपरीत करता है तो इस ठगाई का फल अगले भव में मिलेगा। उपाध्यायजी ने फरमाया है कि, "जो झूठा दे उपदेश, जनरंजन को धरे वेश, उसका झूठा सकल कलेश हो लाल-माया मोस न कीजे।

संयम में प्रयत्न न करने वाले को हितोपदेश

आजीविकादिविविधार्त्तिभृशानिशार्त्ताः,
कृच्छ्रेण केपि महतैव सृजन्ति धर्मान्।
तेभ्योपि निर्दय जिघृक्षसि सर्वमिष्टं,
नो संयमे च यतसे भविता कथं ही। १३ ॥

अर्थ—आजीविका चलाना आदि अनेक प्रकार की पीड़ाओं से रात दिन बहुत हैरान बने हुए कितने ही गृहस्थ महा मुसीबत से धर्म काम करते हैं, उनके पास से हे दयाहीन यति ! तू अपनी सब इष्ट वस्तुएं प्राप्त करना चाहता है और संयम में यत्न नहीं करता है, तब तेरा क्या होगा ? ॥ १३ ॥
वसंततिलका

विवेचन—हे यति ! तुझे अपनी व दूसरे की जरा भी दया नहीं है। गृहस्थाश्रम के अनेक प्रपंच व खर्च में फंसे

हुए लोग महामुसीबत से घर खर्च चलाते हैं फिर भी उस खर्च में से करकसर करके धर्म के काम में द्रव्य खरचने के हेतु तुझे इष्ट वस्तुएं देते हैं या तेरे कथनानुसार द्रव्य लगाते हैं परन्तु तू अपने अतिगुप्त अंध भक्तों के पास उस द्रव्य को पहुंचाने का प्रयत्न करता है एवं वहां उस जमा द्रव्य का इच्छित उपभोग करता है। कोई कोई तो साधु वेश का त्याग कर किसी भोलो विधवा आदि को फंसाकर घर मांड बैठता है, महामुश्किल से अंगीकार किए गए चारित्र का खंडन करके नरकगामो बनता है इस तरह से तुझे पराई दया भी नहीं है और अपनी स्वयं की दया भी नहीं है।

निर्गुणी मुनि की भक्ति से स्वयं उसे तथा उसके भक्तों को कुछ भी फल नहीं मिलता है

आराधितो वा गुणवान् स्वयं तरन्,
भवाब्धिमस्मानपि तारयिष्यति।
श्रयन्ति ये त्वामिति भूरिभक्तिभिः,
फलं तवैषां च किमस्ति निर्गुण॥ १४॥

अर्थ—इस गुणवान पुरुष की आराधना की जाय तो वह जब भवसमुद्र तरेगा तब हमें भी तारेगा, इस प्रकार की बहुत भक्ति से कई मनुष्य तेरा आश्रय लेते हैं। इससे हे निर्गुणी ! तुझे और उनको क्या लाभ होगा॥ १४॥

इंद्रवज्रा तथा वंशस्थ (उपजाति)

विवेचन—बिचारे अल्पज्ञानी जीव, भद्रिक भाव से व धर्म बुद्धि से तेरा आसरा लेते हैं जिसका ध्येय संसार समुद्र

से तरने में तेरी सहायता लेना है, ऐसी सहायता तो तू कुछ देता नहीं है, दे सकता भी नहीं है तब तुझे क्या लाभ होगा क्योंकि तू निर्गुणी है।

तुझे सुपात्र जानकर—धर्मक्षेत्र जानकर उत्तम वस्तुएं वोराते हैं और उनको पुण्य बंध होगा व उस पुण्यबंध में तू निमित्त है अतः तुझे भी पुण्यबंध होगा ऐसा सोचना मात्र कल्पना है। यदि तू वास्तव में गुणवान व संयमी है और वेश के अनुरूप ही तेरा व्यवहार है तब तो उनको और तुझको पुण्य का बंध होगा नहीं तो तुम दोनों को कोई लाभ नहीं मिलेगा।

निर्गुणी मुनि को पाप का बंध होता है

स्वयं प्रमादैर्निपतन् भवांबुधौ, कथं स्वभक्तानपि तारयिष्यसि।
प्रतारयन् स्वार्थभृजून् शिवार्थिनः, स्वतोऽन्यतश्चैव विलुप्यसेऽहसा॥

अर्थ—तू स्वयं प्रमाद के द्वारा समुद्र में पड़ता जाता है तो फिर अपने भक्तों को किस प्रकार से तार सकेगा? बिचारे मोक्षार्थी सरल जीवों को अपने स्वार्थ के लिए ठगकर स्वयं के द्वारा व दूसरों के द्वारा तू स्वयं पाप से लिप्त होता है॥ १५॥ वंशस्थविल

विवेचन—जैसे कोई मनुष्य किसी वृक्ष के नीचे विश्राम करने के लिए शांति से बैठे परंतु यदि वह वृक्ष अग्नि उगलता हो तो कितना आश्चर्य होता है! क्या फिर कभी कोई मनुष्य किसी हरे वृक्ष के नीचे बैठेगा? नहीं, कदापि

नहीं ! ऐसी अनहोनी विश्वास घातक घटना से वह क्षुब्ध होगा ! यह असंभव बात है कि कोई वृक्ष आग उगले। इसी तरह से संसार माया से क्लांत दुःखी संतप्त जीव तेरा आसरा ढूंढते हैं तेरे चरणों में अपना जीवन समर्पण कर देते हैं परन्तु हे ठग, यदि तू स्वयं हो प्रमाद आदि के द्वारा संतप्त है, संसार समुद्र में गिरता जा रहा है तो तेरे आसरे रहे हुए प्राणी को तू क्या बचा सकता है। जैसे हरे वृक्ष में से अग्नि की ज्वाला असंभव है वैसे ही सच्चे यति या मुनि के लिए पतन या पातन अशक्य है। जैसे कृत्रिम वृक्ष में से अग्नि प्रगट हो सकती है वैसे ही मात्र वेशधारी कृत्रिम साधु में सब दोष संभव हो सकते हैं। वैसा साधु या यति स्वयं भी पाप में लिप्त होता है और भक्तों को भी पाप में लपेटता जाता है। हे साधु, तेरे वेश में और वर्तन में वह शक्ति है कि तू स्वयं भी तर सकता है और अन्य को भी तार सकता है। प्रमाद को छोड़कर तू वीर बन और इस बीसवीं सदी के संतप्त, भयग्रस्त और मार्ग ढूंढते हुए प्राणियों का मार्गदर्शक बन। उनका दुःख दूर कर। इसी आशा से तेरा आसरा श्रद्धालु लेते हैं अतः स्वयं भी तर और दूसरों को भी तार। नहीं तो पत्थर की नाव की तरह से तू स्वयं भी डूबेगा और अन्य को भी डुबावेगा। केवल अपने अंध भक्तों के वाड़े में बंधा हुवा तू अपना जीवन बर्बाद न कर, धर्म की सेवा कर।

निर्गुणी को होता हुवा ऋण और उसका परिणाम

गृह्णासि शय्याहृतिपुस्तकोपधीन्, सदा परेभ्यस्तपसस्त्वियं स्थितिः।
तत्ते प्रमादाद्दुरितात्प्रतिग्रहैर्ऋणार्णमग्नस्य परत्र का गतिः॥१६॥

अर्थ—तू दूसरों के पास से वसति (उपाश्रय) आहार, पुस्तक और उपधि (वस्त्र, पात्रादि) ग्रहण करता है। यह स्थिति तो तपस्वी लोगों की (शुद्ध चारित्र वालों की) है (अतः यह लेने का अधिकार तो मात्र तपस्वियों का है)। तू तो उनको स्वीकार करके वापस प्रमाद के वश में हो जाता है, तब बड़े करजे में डूबे हुए तेरे जैसे की परभव में क्या दशा होगी ? ॥ १६ ॥ उपजाति

विवेचन—जैसे किसी वीर पुरुष को उत्साहित करने के लिए या उसके आलस्य को हटाने के लिए वीरोचित कटु शब्दों का प्रयोग किया जाकर उसे इच्छित मार्ग पर लाया जाता है वैसे ही धर्मवीर महाभाग्यवान पुरुष जो चारित्र ग्रहण कर मोक्षमार्ग की तरफ प्रयाण करता है परंतु प्रमाद के वश या रसना के लोभ के वश या अंध श्रद्धालुओं की अधिक भक्ति के वश या धीरे धीरे बढ़ते हुए परिग्रह के वश वह अपने वीर मार्ग में स्खलना करता है या चरित्र पालन में ढील करता है या धीमे धीमे अपने कर्त्तव्य से च्युत होता जाता है वैसे धर्मवीर को वापस मार्ग पर लाने के लिए ग्रंथकार कहते हैं कि हे मुनि ! तू तो दुतरफा करज में डूबा जाता है। एक तो चारित्र ग्रहण करके प्रमाद आचरता है और दूसरा शुद्ध चारित्र न पालते हुए भी आहार आदि लेता है अतः जैसे करजदार मनुष्य ऊंचा सिर नहीं कर सकता है वैसे ही तेरी गति होगी। अपने प्रिय शिष्य या पुत्र को कटु कहकर प्रेरित किया जाता है इसमें पिता या गुरु की भावना दूषित नहीं होती है वैसे ही यहां भी है।

तू अपने कौन से गुण के लिए यश की इच्छा रखता है ?

न कापि सिद्धिर्न च तेऽतिशायि, मुन क्रियायोगतपःश्रुतादि ।
तथाप्यहंकारकदर्थितस्त्वं, ख्यातीच्छया ताम्यसि धिङ् मुधा किम्

अर्थ—हे मुनि ! न तो तेरे में कोई विशेष सिद्धि है, न उच्च प्रकार की क्रिया, योग, तपस्या या ज्ञान ही है; फिर भी अहंकार से कदर्थना पाया हुवा प्रसिद्धि पाने की इच्छा से हे अधम ! तू फालतू परिताप क्यों सहता है ? ॥ १७ ॥

उपजाति

विवेचन—हे मुनि, तू निरर्थक परिताप क्यों सहन करता है ? यदि तेरे में अणिमा आदि आठ सिद्धियां हों अथवा उच्च प्रकार की आतापना सहने की या घोर परिषह-उपसर्ग आदि सहने की शक्ति हो या योग वहन अथवा योग चूर्णादि तुझे प्राप्त हों या घोर तपस्या, मासक्षमण आदि तूने किए हों अथवा सूत्र सिद्धांत का रहस्य पाने जितना अभ्यास किया हो या गीतार्थ बनने योग्य ज्ञान तूने पाया हो तब तू मान पाने की इच्छा करता हो तो ठीक है (यद्यपि इतने विद्वान या तपस्वी मान करते ही नहीं हैं) यदि इतना नहीं है तो तू क्या देखकर अभिमान करता है । हे साधु ! गुण तो कस्तूरी जैसा है । वह जहां होता है प्रगट हो ही जाता है, जैसे कस्तूरी छुपी नहीं रह सकती वैसे ही गुण भी छुपा नहीं रह सकता है, गुणी की पूजा तो अवश्यमेव होती है ।

(अ) आठ सिद्धियां :—

१. अणिमा—शरीर को इतना छोटा कर देना कि वह सूई के छेद में से पार हो सके।

२. महिमा—इतना बड़ा रूप करना कि मेरूपर्वत भी घुटने तक ऊंचा प्रतीत हो।

३. लघिमा—वजन में पवन से भी हलका हो जाना।

४. गरिमा—वज्र से भी अधिक भारी हो जाना यह भार इतना अधिक होता है कि इन्द्र भी जिसे सहन नहीं कर सकता हो।

५. प्राप्ति शक्ति—शरीर को इतना ऊंचा कर देना कि पृथ्वी पर खड़े खड़े मेरू पर्वत की चोटी को अंगुली से छू सकना और ग्रह आदि का स्पर्श कर सकना (वैक्रिय शरीर से नहीं, आत्म-शक्ति से)।

६. प्राकाम्य शक्ति—पानी में गोते लगाने की तरह जमीन में गोता लगाना और जमीन की तरह पानी पर चलना।

७. इशित्व—चक्रवर्ती और इंद्र की ऋद्धि प्रकट करने की शक्ति।

८. वशित्व—सिंह आदि हिंसक पशु भी वश में हो जाय।

(आदिश्वर चरित्र सर्ग १ पृ० ८५२–८५६)

(स) योगचूर्ण—पुद्गल में अनंत शक्ति है। दो या अधिक वस्तुओं के संयोग से ऐसे चूर्ण बनाए जा सकते हैं जो चमत्कारी होते हैं। जैसे कि उस चूर्ण को पानी में डालने से मछलियां उत्पन्न हो जाती हैं। सिंह बन जाता है। जल में रास्ता बन जाता है। पुद्गल की शक्ति को वस्तु विज्ञान शास्त्री जल्दी समझ सकता है।

(ब) योगवहन सूत्र—इस सूत्र को साधु ही पढ़ सकते हैं जिसमें भी निश्चित वर्षों की दीक्षा के पश्चात् एवं तत्संबंधी क्रिया करने के बाद ही। इसका सामान्य हेतु यह है कि इससे मन वचन काया पर योग्य अंकुश आता है।

योगवहन की क्रिया में अमुक विधि और तपस्या करने के बाद पाठ पढ़ने की आज्ञा मिलती है, इसे उद्देश कहते हैं। इससे अधिक योग्यता होने पर गुरु महाराज इस पाठ की पुनरावृत्ति करने की, स्थिर करने की और तत्संबंधी शंका समाधान आदि की बातचीत करने की आज्ञा देते हैं इसे समुद्देश कहते हैं। इससे भी अधिक योग्यता होने पर उन्हीं पाठों को पढ़ाने की और उनका योग्य उपयोग करने की आज्ञा देते हैं उसे अनुज्ञा कहते हैं।

जो निर्गुणी होता हुआ भी स्तुति की इच्छा रखता हो उसका फल

हीनोऽप्यरे भाग्यगुणैर्मुधात्मन्, वांछंस्तवार्चाद्यनवाप्नुवंश्च।
ईर्ष्यन् परेभ्यो लभसेऽतितापमिहापि याता कुगतिं परत्र ॥१८॥

अर्थ—हे आत्मा ! तू पुण्य रहित है फिर भी पूजा आदि की इच्छा रखता है और जब वह नहीं मिलती है तब तू दूसरों पर द्वेष करता है ! (परन्तु वैसा करने से) इस भव में संताप पाता है और परभव में कुगति में जाता है ॥ १८ ॥ **उपजाति**

विवेचन—पूर्व पुण्य के बिना पूजा सत्कार आदि की प्राप्ति नहीं होती है। हे आत्मा, तू ने पिछले भव में दान शील तप आदि नहीं किए अतः इस भव में तुझे पूजा सत्कार नहीं मिल रहे हैं। तू तो मात्र साधु का बाना धारण करके ही पूजा चाहने लगा है परन्तु जिसका तू उपासक है व जिसके बताए हुए मार्ग पर अग्रसर हो रहा है वह वीर परमात्मा तो मान अपमान या पूजा निंदा में समान दृष्टि वाले थे। इन्द्र के महोत्सव या दशार्णभद्रराजा द्वारा किए गए स्वागत का उनके मन पर ज़रा सा भी असर नहीं हुवा। तेरे पहले के पुण्य न होने से अभी पूजा का अभाव है तथा तू औरों पर द्वेष करता है अतः कुगति निश्चित है। पहले योग्य तो बन, बाद में योग्यतानुसार इज्जत व सत्कार स्वयं ही मिलेंगे। स्तुति ऐसी वस्तु है कि जो उसकी इच्छा करता है उससे वह दूर भागती है परन्तु जो उसको लात मारता है या उसके कारणों को प्राप्त करता है उसके पास स्वयं चली आती है अतः प्रथम योग्यता प्राप्त कर, बाद में उसकी इच्छा करना।

गुण बिना स्तुति की इच्छा करने वाले का ऋण

गुणैर्विहीनोपि जनानतिस्तुतिप्रतिग्रहान् यन्मुदितः प्रतीच्छसि।
लुलायगोऽश्वोष्ट्रखरादिजन्मभिर्विना ततस्ते भविता न निष्क्रयः १९

अर्थ—तू गुण रहित है फिर भी लोगों के पास से वंदन, स्तुति, आहार पानी आदि खुश होकर पाने की इच्छा रखता है परंतु याद रखना कि भैंस, गाय, घोड़ा, ऊंट या गधे की योनि में जन्मे बिना तेरा छुटकारा नहीं है ॥१६॥ **वंशस्थ**

विवेचन—जो जिसका ऋणी होता है उससे उऋण हुए बिना उसका छुटकारा नहीं होता है। हे साधु तू निर्गुणी है फिर भी भोले लोगों से वंदन, सत्कार और खान पान ग्रहण करता है इसका चुकारा तुझे कभी भैंसा, गाय, घोड़ा, ऊंट या गधा बनकर करना होगा। तू यह न समझ रखना कि लोग तुझे विनति कर खूब सत्कार से अपने घर गोचरी के लिए ले जाते हैं उसका बदला देना ही नहीं पड़ेगा ? उसका बदला तुझे उनके यहां गाड़ी में जुतकर या सवारी में काम आकर या बोझ लाद कर देना होगा कारण कि वे तुझे गुणी धर्मात्मा और उपकारी जानकर यह सब देते हैं जब कि तू उनका अन्न खाकर वस्त्र पहन कर या सत्कार पाकर मन में फूला नहीं समाता है, प्रमादी बनकर अपनी कीर्ति फैलाने में लगा हुवा है और गुप्त रूप से अपनी वृद्धावस्था आराम से निकले वैसे स्थान बनाने में या धन संग्रह करने में या ऐसे व्यक्ति ढूंढने में लगा है जो तेरे स्वार्थों की पूर्ति कर सकते हों उनकी सहायता से तू विपरीत मार्ग का आलंबन कर स्वयं का व उनका पतन करता है अतः गुण के बिना स्तुति की इच्छा मत रख। गुण के लिए प्रयत्न कर। जैसे पशुओं के पीछे पूंछ अपने आप चली आती है वैसे ही गुण के

पीछे स्तुति तो अपने आप ही चली आएगी। हे वेषधारी ! तू क्यों सावधान नही होता है। तू अपने नाम के आगे बड़े बड़े विशेषण लगवाते क्यों नहीं शर्माता है। कभी कभी तो तू ऐसे विशेषण लगवाता है जिनको पढ़कर तेरे प्रति घृणा पैदा हो जाती है। तेरे अंध भक्त तुझे परमात्मा के बराबर मानकर पूजते हैं परंतु तू तो स्वयं अपने आप को जान रहा है कि तू कैसा है। कभी तूने विचार किया है कि क्या ये विशेषण तेरे योग्य हैं ? यदि नहीं, तो तू पढ़ा लिखा मूर्ख है।

गुण बिना के वंदन पूजन के फल

गुणेषु नोद्यच्छसि चेन्मुने ततः, प्रगीयसे यैरपि वंद्यसेऽर्च्यसे।
जुगुप्सितां प्रेत्य गतिं गतोऽपि तैर्हसिष्यसे चाभिभविष्यसेऽपि वा २०

अर्थ—हे मुनि ! तू गुण प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करता है अतः जो अभी तेरे गुणों की स्तुति करते हैं, तुझे वंदना करते हैं और पूजते हैं वही लोग जब तू कुगति में जाएगा तब वे वास्तव में हंसेंगे और तेरा अपमान करेंगे ॥ २० ॥

वंशस्थविल

विवेचन—जैसे कोई आदमी बहुत दिखावा करता हुआ दूसरों को उपदेश देता फिरता हो, सबके सामने पंडित व सदाचारी बना हुवा इमानदारी से काम करता हुआ नजर आता हो परन्तु यदि कभी वह चोरी या व्यभिचार करता हुआ पकड़ा जाये तब उसका क्या हाल होता है ? जो लोग उसकी स्तुति करते थे वही मजाक उड़ाएंगे व अपमान करेंगे। वैसे ही हे मुनि ! तू,

गुण रहित होकर मात्र बाहरी दिखावे से ज्ञानी तथा उपकारी बना फिर रहा है लेकिन जब तू अपनी करनी का फल पाने को कुगति में जाएगा तब वे ही लोग जो तेरा सत्कार करते थे तेरा अपमान करेंगे व तेरी हंसी उडाएंगे। किए हुए कर्म तुझे अवश्य भुगतने पड़ेंगे। अतः उस स्थिति का विचार करके दंभ छोड़ दे। सन्मार्ग पर आ।

गुण बिना के वंदन पूजन से हित का नाश

दानमाननुतिवंदनापरैर्मोदसे निकृतिरंजितैर्जनैः।
न त्ववैषि सुकृतस्य चेल्लवः, कोऽपि सोऽपि तव लुट्यते हि तैः २१

अर्थ—तेरे कपट जाल से रंजित हुए लोग जब तुझे दान देते हैं, नमस्कार करते हैं या वंदन करते हैं तब तू राजी होता है परन्तु तू यह नहीं जानता है कि यदि तेरे पास लेश मात्र सुकृत्य रहा होगा उसे भी वे लूट रहे हैं ॥ २१ ॥

रथोद्धता

विवेचन—हे मुनि ! तू कैसा आत्मघातक है ? बाह्य वेश, झूठा उपदेश और निरा आडम्बर करके तू कपट जाल बिछाता है। उस जाल में अनजान पक्षियों की तरह कई भोले मनुष्य भूल से फंस जाते हैं और तुझे दान, मान और खान, पान देते हैं तू प्रसन्न होता है। अरे तुझे नहीं मालूम कि वे भोले तो श्रद्धा व धर्म की भावना से तेरी जाल में फंसते हैं लेकिन उनके दान, मान या खानपान से अपना अल्प रहा हुआ पुण्य भी तू खोता जाता है। समय आने पर वे भोले मानव पक्षी तेरी जाल में

से उड़ते हुए तेरे पुण्य को भी उड़ा ले जाते हैं। तू बिल्कुल पुण्यहीन रह जायेगा। अतः गुणवान बन।

स्तवन का रहस्य – गुणार्जन

भवेद्गुणी मूग्धकृतैर्न हि स्तवैर्न ख्यातिदानार्चनवंदनादिभिः।
विना गुणान्नौ भवदुःखसंक्षयस्ततो गुणानर्जय किं स्तवादिभिः २२

अर्थ—भोले जीवों द्वारा की गई स्तुति से कोई मनुष्य गुणवान नहीं बनता है, एवं कीर्ति, अर्चन या पूजन पा जाने से भी गुणवान नहीं बनता है। गुण के बिना संसार के दुःखों का क्षय नहीं होता है इसीलिए हे भाई! तू गुण उपार्जन कर। इन स्तुति आदि से क्या लाभ है? ॥ २२ ॥

वंशस्थ और इन्द्रवंशा (उपजाति)

विवेचन—यदि कोई कुंभकार किसी चित्रकार के गुणों की प्रशंसा करता हो इससे चित्रकार को प्रसन्न नहीं होना चाहिए कारण कि कुंभकार को चित्रकला का भान नहीं है वह तो मात्र ऊपरी रंग व बनावट से ही प्रसन्न होकर चित्र की प्रशंसा कर रहा है। हां यदि कोई दूसरा चित्रकार जो इस कला की बारीकियों को जानता है वह प्रशंसा करता है तब तो ठीक ही है और उस चित्रकार को प्रसन्न होने का अधिकार भी है। इसी प्रकार से भोले अंध श्रद्धालु व अज्ञानी लोग तेरी प्रशंसा करते हुए तुझे ऐसा कहें कि, "महाराज आप तो समताशील हो, शांत चित्त व महायोगी हो, या महाज्ञानी

हो" इतना सुनने मात्र से महाराज में ये गुण नहीं आ जावेंगे। तू इससे फूल मत जा। गुण तो गुणी के अनुकरण से आवेंगे। यद्यपि वंदन, नमन रुचिकर लगते हैं सुनने में मीठे लगते हैं परन्तु उनका परिणाम पतन है। क्रोध पर विजय, ब्रह्मचर्य का पालन, मान माया का त्याग, निस्पृहता, न्यायवृत्ति और शुद्ध व्यवहार आदि गुणों को प्राप्त कर और उनकी सुगंध सब तक पहुंचा। तभी तू स्तुति का पात्र होगा।

भवांतर का विचार—लोकरंजन पर असर

अध्येषि शास्त्रं सदसद्विचित्रालापादिभिस्ताम्यसि वा समायैः।
येषां जनानामिह रंजनाय, भवांतरे ते क्व मुने क्व च त्वम् २३

अर्थ—जिन मनुष्यों का मनरंजन करने के लिए तू अच्छे और बुरे अनेक शास्त्र पढ़ता है और मायापूर्वक विचित्र प्रकार के भाषणों से (कंठ शोषादि) खेद सहन करता है आते भव में वे कहां जाएंगे और तू कहां जायगा ॥ २३ ॥

उपजाति

विवेचन—इस प्रवृत्तिमय जीवन में व्याख्यान सुनने का समय जनता के पास कम है। प्रतिदिन के व्याख्यान में श्रोताओं की संख्या बहुत ही कम होती है जिनमें भी प्रायः जीवन यात्रा के अंतिम वर्षों को व्यतीत करने वाले वृद्ध स्त्री-पुरुष ही होते हैं। जवानों का तूफानी जीवन उपासरे से दूर रहता है। कभी कभी पर्व तिथियों को वे आते हैं अतः श्रोताओं की इस अनुपस्थिति को दूर करने के लिए

व्याख्याता तरह तरह के लौकिक शास्त्रों में से मनोरंजन पाठ उद्धरित करता है। शब्दों के तोड़ मरोड़ या उच्चारण के नये तरोकों से वह उनका मन खुश करने की कोशिश करता है। कोकशास्त्र या निषिद्धशास्त्र तक पढ़ने का वह साहस करता है। नवीन कथा या दोहे कहता हुवा वह नट की तरह से हिलता डुलता व अंगमरोड़ भी करता है। जनता खुश हो जाती है व श्रोताओं की संख्या बढ़ जाती है। आज के युग में प्रथम तो लोगों के पास समय ही नहीं है; फिर भी ज्यों त्यों समय निकालकर वे सुनने आते हैं एवं धन खर्च करके दूसरे गावों से भी श्रद्धा से गुरू वंदन को आते हैं वहां उनको मात्र कहानी किस्से व गल्प चौपाइयां ही सुनने को मिलती हैं। तत्त्व की बात कुछ भी नहीं कही जाती हो इससे सुनने वालों को और सुनाने वालों को कोई लाभ नहीं होता है। अतः हे साधु! मात्र मनोरंजन को छोड़कर तत्त्व के उपदेश द्वारा अपना व उनका कल्याण कर। लोकरंजन से लोग तेरी प्रशंसा तो अवश्य करेंगे परंतु इससे तुझे कुछ भी लाभ न होगा। जैसे रामलीला में बने हुए राम को आरती में आए हुए रुपयों की थाली में से मात्र उसके वेतन का एक रुपया ही मिलेगा वैसी ही स्थिति तेरी भी होगी। तू जैसे आया था वैसे ही चला जावेगा। इस जीवन में कष्ट सहता हुवा, एकाकी जीवन बिताता हुवा, घर बार स्त्री का त्याग करके भी यदि तू इस प्रशंसारूपी शहद लगी तलवार के स्वाद में पड़ जाएगा तो तेरा जीवन निष्फल जाएगा। तू अपना जीवन लोकरंजन की अपेक्षा विद्याअध्ययन में लगा

जिससे तेरे ज्ञान चक्षु खुल जाएंगे और तू मोक्ष महल में जा पहुंचेगा। स्वयं भी तरेगा और अन्य को भी तारेगा।

परिग्रह त्याग

परिग्रहं चेद्वचजहा गृहादेस्तत्किं नु धर्मोपकृतिच्छलात्तम्।
करोषि शय्योपधिपुस्तकादेर्गरोपि नामांतरतोपि हंता॥ २४॥

अर्थ—घर आदि परिग्रह को तूने छोड़ दिये हैं तो फिर धर्म के उपकरण के बहाने शय्या, उपधि, पुस्तक आदि का परिग्रह क्यों करता है? (क्योंकि) ज़हर का नाम बदल देने से भी वह मारता ही है॥ २४॥ उपेन्द्रवज्रा

विवेचन—जब तूने घर द्वार, खेत कुए, धन, धान्य, नौकर चाकर, पशु आदि परिग्रह का त्याग किया है फिर धर्म के नाम पर मिलने वाली वस्तुओं पर क्यों मूर्च्छा करता है। परिग्रह का नाम ही मूर्च्छा है। कई साधु, भोले श्रावकों के पास से नानाविधि से क्रियाएं, समारोह या तपस्याओं का या ज्ञान प्रकाशन का आयोजन कर धन व वस्त्र मंगवाते हैं और अपने निर्धारित केंद्रों पर पहुंचा देते हैं। ओह मानव का मन कितना क्षुद्र है। एक तरफ वह सर्वस्व का त्याग करता है दूसरी तरफ वह तुच्छ वस्तुओं पर मूर्छित (आसक्त) रहता है। विष को मिठाई कहकर खिलाया जाएगा तो भी उसका असर हुए बिना नहीं रहेगा। परिग्रह, परिग्रह ही रहेगा चाहे वह धन माल का हो चाहे उपकरण का हो। अतः शास्त्रों में आज्ञा दिए गए उपकरण के अतिरिक्त तू कुछ भी न रख,

न अपने नाम के उपासरे बनवा, न अपने नाम के ग्रंथ भंडार या अलमारियां बनवा। परिग्रह की मूर्च्छा से तू बार बार जन्मेगा व मरेगा। अतः इस मूर्च्छा को दूर कर।

धर्म के निमित्त से रखा हुवा परिग्रह

परिग्रहात्स्वीकृतधर्मसाधनाभिधानमात्रात्किमु मूढ ! तुष्यसि।
न वेत्सि हेम्नाप्यतिभारिता तरी, निमज्जत्यंगिनमंबुधौ द्रुतम् २५

अर्थ—हे मूढ़ ! धर्म के साधनों को उपकरण आदि का नाम देकर स्वीकृत किए गए परिग्रह से तू क्यों खुश होता है ? क्या तू नहीं जानता है कि जहाज में अधिक भार चाहे सोने का भी लादा जाय तो वह भी बैठने वाले प्राणी को शीघ्र ही समुद्र में डुबा देता है ! ॥ २५ ॥ वशस्थ

विवेचन—संसार रूपी समुद्र में से यतिपन रूप नाव के द्वारा आत्मा तर सकती है। यदि उस नाव में अधिक परिग्रह रूप भार अधिक भर दिया जाय तो वह नाव अवश्य डूबेगी। वह परिग्रह धर्म के नाम पर किया गया भी हो तो भी भार ही है। राग दशा का पोषण करने के लिए अनावश्यक ढंग से अधिक उपधि वस्त्र व पात्र रखना त्याज्य है। दवाइयों की शीशियां पोस्ट कार्ड, घड़ी, पेन और कीमती वस्तुएं रखना कितना अशोभनीय है। आज इस प्रकार का परिग्रह बढ़ता जा रहा है जो डुबाने वाला है अतः सब त्याज्य है। ॥ २५ ॥

धर्मोपकरण पर मूर्छा भी परिग्रह है

येऽहः कषायकलिकर्मनिबंधभाजनं,
स्युः पुस्तकादिभिरपोहितधर्मसाधनैः ।
तेषां रसायनवरैरपि सर्पदामयै-
रार्त्तात्मनां गदहृतेः सुखकृत्तु किं भवेत् ।। २६ ।।

अर्थ--जिनके द्वारा धर्म साधने की अभिलाषा रखी हो वैसे पुस्तकादि द्वारा भी जो प्राणी पाप, कषाय, क्लेश और कर्म बंध करते हों वैसी दशा में उनके लिए सुख का साधन क्या हो सकता है ? जिस प्राणी की व्याधियां उत्तम प्रकार के रसायनों के सेवन से अधिक बढ़ती जाती हों उसके लिए व्याधियों की शांति का उपाय क्या हो सकता है ? ।। २६ ।।

मृदंग

विवेचन--महावीर जिनेश्वर के मोक्ष के पश्चात् गणधर भी मोक्ष पहुंचे । उनके पीछे उनकी वाणी का संग्रह आगम ग्रन्थों में किया गया है अतः अब तो उन्हीं का आधार है । ऐसे धार्मिक पुस्तकों से (आगमों से) संसार तैरा जा सकता है । वैसे पुस्तकों का अनावश्यक संग्रह जिसे संभाला ही नहीं जाता उसमें उदई दीमक लिया आदि जीव पड़ जाते हैं व मरते हैं । अरे नाम के मोह में मूर्च्छागत प्राणी ! तू धर्म के साधन से भी जीव हिंसा रूप पाप बढ़ा कर संसार बढ़ा रहा है भवकूप में डूब रहा है । तेरे नाम से खुलवाए गए ज्ञान भंडार क्या तूने कभी संभाले हैं ? उनकी तरफ तेरा कितना समय बीतता है ?

धर्मोपकरण पर मूर्छा से दोष

रक्षार्थं खलु संयमस्य गरिता येऽर्था यतिनां जिनै-
र्वासःपुस्तकपात्रकप्रभृतयो धर्मोपकृत्यात्मकाः ।
मूर्छन्मोहवशात्त एव कुधियां संसारपाताय धिक्
स्वं स्वस्यैव वधाय शस्त्रमधियां यत्दुःप्रयुक्तं भवेत् ।।२७।।

अर्थ—वस्त्र, पुस्तक और पात्र आदि धार्मिक उपकरण की वस्तुएं श्री तीर्थंकर भगवान ने संयम की रक्षा के लिए यतियों को बताई हैं फिर भी मंद बुद्धि-मूढ़ जीव मोह में पड़कर उनको संसार में गिरने के साधन बनाते हैं, उनको धिक्कार है। मूर्ख मनुष्य के द्वारा अकुशलता से काम में लिया गया शस्त्र उसके स्वयं के ही नाश का कारण बनता है ।।२७।।

शार्दूलविक्रीडित

विवेचन—जैसे मूढ़ मनुष्य या बालक के हाथ में रहा हुवा शस्त्र (चाकू छुरी तलवार आदि) उसी की उंगलियों को काटता है। जैसे अनजान आदमी भरी बंदूक का कुंदा अपनी तरफ करके दुश्मन को मारने के लिए घोड़ा दबाता है परंतु वह स्वयं अपने ही हाथों से गोली का शिकार होता है ठीक उसी तरह से मुनि, तू भी जिनोपदिष्ट निश्चित उपधि के अतिरिक्त वस्तुएं रखकर स्वयं का ही घात कर रहा है। ये वस्तुएं तुझे संसार में डुबाने वाली हैं अतः उनको तज दे।

धर्मोपकरण को दूसरों से उठवाने में दोष

संयमोपकरणच्छलात्परान्भारयन् यदसि पुस्तकादिभिः ।
गोखरोष्ट्रमहिषादिरूपभृत्तच्चिरं त्वमपि भारयिष्यसे ।। २८ ।।

अर्थ—संयम उपकरण के बहाने से पुस्तक आदि का बोझ जो तू दूसरों से उठवाता है (उनपर बोझ लदवाता है) परन्तु वे भी तुझसे अनंत काल तक गाय, गधा, ऊंट, पाड़ा आदि रूप में भार उठवाएंगे ।। २८ ।। रथोद्धता

विवेचन—हे महाव्रतधारी साधु ! (या आचार्य !) तू जीव रक्षा व अहिंसा का व्रत लेकर भी अपने तन का बोझ मजदूर से उठवाता है, यह कितनी निर्दयता है। तू पुस्तकों के बोझ के बहाने खाने के पदार्थ पानी का घड़ा व अन्य बोझा भी उससे उठवाता है, लेकिन याद रख अगले भव में तुझे भी गधा, ऊंट, घोड़ा या बैल होकर भार ढोना पड़ेगा। तू श्रावकों से मजदूर तो मांगता है रास्ता बताने के लिए लेकिन उसके पास से भार उठवाने का काम भी लेता है यह अनुचित है।

संयम और उपकरण की शोभा की तुलना

वस्त्रपात्रतनुपुस्तकादिनः शोभया न खलु संयमस्य सा ।
आदिमा च ददते भवं परा, मुक्तिमाश्रय तदिच्छयैकिकाम् ।।२९।।

अर्थ—वस्त्र, पात्र, शरीर या पुस्तक आदि की शोभा करने से संयम की शोभा नहीं होती है। प्रथम प्रकार की शोभा भव वृद्धि देती है जब कि दूसरे प्रकार की (संयम की) शोभा मोक्ष देती है अतः इन दोनों में से तेरी इच्छानुसार एक शोभा का आश्रय ग्रहण कर। (अथवा उस वस्त्र पुस्तक आदि की शोभा का त्याग कर। हे यति ! मोक्ष प्राप्ति

की इच्छा वाला भी तू संयम की शोभा में प्रयत्न क्यों नहीं करता है) ? ॥ २९ ॥

विवेचन—प्रायः अपने या अपने गुरु के नाम से ज्ञान मंदिर, पाठशाला, गुरुकुल आश्रम, या उपाश्रय बनवा कर उनमें तैल चित्र लगवाने का रिवाज बढ़ता जा रहा है। अपना चित्र बनवाते समय बढ़िया चादर, उत्तम उत्तरीय व सुंदर पुट्ठों वाले आगम ग्रंथों का उसमें प्रदर्शन किया जाता है और नीचे द्रव्य खर्चने वाले का नाम भी अपने नाम के साथ लिखा जाता है इस तरह से परस्पर नामना से तुझे जो यश होता नजर आता है वह भी परिग्रह कीं मूर्च्छा में सम्मिलित है। वैसी बाह्य शोभा को छोड़कर संयम की शोभा को बढ़ा जिससे तुझे मोक्ष प्राप्त हो सके। जो धर्म के नाम पर या धर्म का वेश धारण करके भी म्याना, पालकी या घोड़ा गाड़ी मोटर रखते हैं उनकी दुर्दशा का वर्णन तो करना ही क्या ? खेद का विषय तो यह है कि अब कई नाम के साधुओं नें रेल या मोटर में बैठना शुरु कर दिया है जब कि वेष, ओघा, पात्रे पूर्ववत ही रखे हुए हैं। यह प्रवृत्ति पतन की ओर ले जाने वाली है, अधःपतन का यह सूक्ष्म छिद्र उनके संयम घट को खाली कर देगा। इस प्रकार की वस्तुएं (मोटर आदि) रखने से स्वामोपन का अभिमान और उनको संभालने या चलाने में जीवहिंसा, परिग्रह आदि का महादोष प्रत्यक्ष ही है। समाज ऐसी शिथिलता को बरदाश्त करता जाएगा तो धीरे धीरे साधुओं का वेष तो कायम रह जायगा लेकिन

उनके अंदर का शील, जैनत्व का गौरव एवं प्रभु महावीर द्वारा उपदिष्ट आचार नष्ट हो जाएगा। पाखण्ड, षड्यन्त्र, व्यभिचार व अनाचार के लिए यह भेष उपयुक्त गिना जायगा अतः इस उत्तम वेष का अपमान एवं दुरुपयोग होता हुवा बचाना चाहिए, नहीं तो भयंकर दुष्परिणाम होगा।

परीषह सहन—संवर

शीतातपाद्यान्न मनागपीह, परीषहांश्चेत्क्षमसे विसोढुम्।
कथं ततो नारकगर्भवासदुःखानि सोढासि भवांतरे त्वम् ॥३०॥

अर्थ—जब तू इस भव में जरासी सर्दी गर्मी आदि परीषह सहने में समर्थ नहीं है तो फिर दूसरे भव में नरक के या गर्भवास के दुःखों को कैसे सहन करेगा ?। ३० ॥

उपजाति

विवेचन—साधु जीवन में कितने ही प्रकार के अनुकूल व प्रतिकूल उपसर्ग—(कष्ट) आते हैं उनको परिषह कहते हैं जिनको शांति से सहना साधु का धर्म है। यदि साधु मार्ग स्वीकार करके तू भूख, प्यास, सर्दी गर्मी आदि परीषह को न सह सकेगा तो आते भव में होने वाले नरक के दुःखों को या गर्भवास की पीड़ाओं को कैसे सह सकता है ? प्रतिकूल संयोगों में द्वेष और अनुकूल संयोगों में राग को त्यागना और इन दोनों भावों से बंधते हुए आते हुए कर्मों को रोकना ही संवर है। यदि तू परीषहों को सहता है तो संवर करता है जो मोक्ष का एक साधन है। यदि प्रसन्नतापूर्वक इन परीषहों

को सह लेगा तो भावी जन्मों के कष्ट कम होकर शीघ्र ही इस जन्म मरण के चक्र में से निकल जाएगा, यदि यहां सुख की इच्छा या प्रमाद या विपरीत आचरण से इन परीषहों को न सहेगा तो अगले भवों में ये बढ़ते ही रहेंगे और तुझे इनको भुगतना ही होगा। अतः सहनशील बन।

देह विनाशी है—जप तप कर

मुने न किं नश्वरमस्वदेहमृत्पिंडमेनं सुतपोव्रताद्यैः।
निपीड्य भीतिर्भवदुःखराशेर्हित्वात्मसाच्छैवसुखं करोषि ॥३१॥

अर्थ—हे मुनि ! यह शरीर रूपी मिट्टी का पिंड नाशवान है, यह तेरा नहीं है, इसे उत्तम प्रकार के तप और व्रतों से पीड़ा देकर अनंत भव में प्राप्त होने वाले दुःखों को दूर करके मोक्ष सुख को आत्म सन्मुख क्यों नहीं कर डालता है ? ॥ ३१ ॥ उपजाति

विवेचन—यह शरीर मिट्टी का पिंड है, अतः नाशवान है। तू इससे अधिक से अधिक लाभ प्राप्त कर ले। तेरे आधार से यह रह रहा है न कि इसके आधार से तू रह रहा है। इसका स्वामी तू है न कि यह तेरा स्वामी हे अतः इस शरीर से विविध प्रकार के तप, जप, संयम द्वारा अपना मोक्ष समीप बुला ले। इसे मात्र खाने पीने या सोने में ही मत काम में ले क्योंकि प्रायः देखा जा रहा है कि दीक्षा लेने के बाद तेरा शरीर जाड़ा हो रहा है, तेरा पेट बढ़ रहा है, बादशाही सुख का तू अनुभव कर रहा है अतः इस शरीर के सामने

हजारों व्यक्तियों को सिर झुकाते हुए देखकर तू फूल मत जा। इस शरीर से खूब तपस्या कर, संपूर्ण संयम पाल व उत्तम चारित्र के द्वारा अपना वास्तविक लक्ष (मोक्ष) प्राप्त कर ले।

चारित्र के कष्ट के सामने नरक तिर्यंच के कष्ट

यदत्र कष्टं चरणस्य पालने, परत्र तिर्यङ्नरकेषु यत्पुनः।
तयोर्मिथः सप्रतिपक्षता स्थिता, विशेषदृष्टचान्यतरं जहीहि तत् ३२

अर्थ—चारित्र पालने में इस भव में जो कष्ट पड़ते हैं और परभव में नरक और तिर्यंच गति में जो कष्ट पड़ते हैं उन दोनों में पारस्परिक प्रतिपक्षता है, अतः बुद्धि का उपयोग करके दोनों में से एक को छोड़ दे ॥ ३२ ॥ **वंशस्थविल**

विवेचन—सच्ची बुद्धि की सहायता से ही अच्छी व बुरी वस्तु की पहचान होती है। जो वस्तु अभी दुःखकर प्रतीत होती है, परन्तु भविष्य में सुखकर होगी वह है चारित्र पालन का कष्ट सहना; परन्तु अभी सुखकर प्रतीत होती हुई भविष्य में दुःखकर होगी वह है चारित्र पालन का कष्ट न सहना। चारित्र का अर्थ है बर्ताव। शुद्ध बर्ताव रखने में और आत्मगुण रमणता करने में मुनि को अभ्यासकाल में बहुत सहन करना पड़ता है। चारित्र अर्थात साधु जीवन पालने में उपधि त्याग, परिग्रह त्याग, स्वाद का त्याग भूमि शय्या सतत विहार, केश लोचन आदि के कष्ट सहन करने पड़ते हैं जब कि नरक के वैतरणी नदी, कुंभी पाक आदि एवं तिर्यंच के वधबंधन आदि दुःख ये भी कष्ट हैं। इन दोनों कष्टों में

विरोध है। जो चारित्र के कष्ट सहता है उसे नरक व तिर्यंच के दुःख नहीं सहने पड़ते हैं परंतु जो नहीं सहता है एवं विषयी है, कपट व्यवहार से जीवन व्यतीत करता है उसे दुर्गति के (नरक तिर्यंच) के दुःख सहने ही पड़ेंगे। तू दोनों में से एक को चुन ले। कौन सा कष्ट एक ही भव में सहना पड़ेगा और कौन सा कष्ट कई भवों में सहना पड़ेगा ? कौन सा कष्ट शुभ राशी की परंपरा को बढ़ाने वाला है और कौन सा अशुभ राशि की परंपरा को बढ़ाने वाला है, यह विचार ले।

प्रमाद के सुख के सामने मुक्ति का सुख

शमत्र यद्बिंदुरिव प्रमादजं, परत्र यच्चाब्धिरिवद्युमुक्तिजम्।
तयोर्मिथः सप्रतिप्रक्षता स्थिता, विशेषदृष्टचान्यतरद् गृहाण तत् ३३

अर्थ—इस भव में प्रमाद से जो सुख होता है वह बिंदु जितना है और परभव में देवलोक व मोक्ष संबंधी जो सुख होता है वह समुद्र जितना है; इन दोनों सुखों में परस्पर प्रतिपक्षता है, अतः विवेक को काम लेकर दोनों में से एक का ग्रहण कर॥ ३२॥ वंशस्थविल

विवेचन—इस भव के प्रमाद जन्य सुख अल्प, दुखान्त व दुःख जन्य हैं जब कि परभव के सुख सुखमय और परंपरा से बढ़ते हुए हैं व अन्त में चिरस्थायी हैं, अतः इन्हें ग्रहण कर।

चारित्र नियंत्रणा का दुःख विपरीत गर्भावास आदि का दुःख

नियंत्रणा या चरणेऽत्र तिर्यक्स्त्रीगर्भकुंभीनरकेषु या च।
तयोर्मिथः सप्रतिपक्षभावाद्विशेषदृष्टचान्यतरां गृहाण॥ ३४॥

अर्थ—चारित्र पालने में इस भव में तेरे पर नियंत्रणा होती है और परभव में भी तिर्यंच गति में, स्त्री के गर्भ में अथवा नरक के कुंभी पाक में भी नियंत्रणा (कष्ट, पराधीनता) होती है। इन दोनों नियंत्रणाओं में पारस्परिक विरोध है अतः विवेक से काम लेकर दोनों में से एक को ग्रहण कर ॥ ३४ ॥ **उपजाति**

विवेचन—साधु जीवन में बहुत ही नियंत्रणा सहनी पड़ती है। व्रत आदि के कारण से सहना पड़ता हुवा कष्ट तथा तीर्थंकर महाराज व गुरु महाराज की आज्ञा पालन की पराधीनता, प्रत्येक कार्य गुरु की आज्ञा व देख रेख में करना आदि भी नियंत्रणा है। परभव में माता की कुक्षी में निवास करते हुए सहना पड़ता कष्ट, पशु पक्षी योनि का कष्ट अथवा नरक की कुंभी पाक का कष्ट जो पराधीनता से सहना पड़ता है यह भी नियंत्रणा हैं। इन दोनों में परस्पर विरोध है। दोनों में से एक को तुझे स्वीकार करना पड़ेगा। इन दोनों में से एक को चुनना पड़ेगा अतः तू विवेक से काम लेकर एक को चुन ले। समझदार तो चारित्र की नियंत्रणा को ही पसंद करेगा।

परीषह सहने का उपदेश (स्ववशता में सुख)

सह तपोयमसंयमयंत्रणां, स्ववशतासहने हि गुणो महान्।
परवशस्त्वति भूरिसहिष्यसे, न च गुणं बहुमाप्स्यसि कंचन ॥३५॥

अर्थ—तू तप, यम, संयम की नियंत्रणा को सहन कर, स्व के वश में रहकर (परीषह आदि का दुःख) सहन करने

में बड़ा गुण है। जब तू परवश पड़ जाएगा तब तो बहुत दुःख सहना पड़ेगा और उसका फल कुछ भी नहीं होगा ।। ३५ ।।

द्रुतविलंबित

विवेचन—तप बारह प्रकार का होता है। छः बाह्य और छः अभ्यंतर। अनशन, उणोदरी, वृत्ति संक्षेप, रस त्याग, काय क्लेश, संलीणता यह बाह्य तप है जो शरीर से किया जाने वाला है। प्रायश्चित, विनय, वैयावच्च, सज्झाय, ध्यान, उपसर्ग सहन ये आंतरिक तप हैं। यम पांच प्रकार के हैं। जीव वध त्याग, सत्य वचन भाषण, अस्तेय (नष्ट हुवा, गिरा हुवा, भूला हुवा, या फेंका हुवा द्रव्य न लेना) अखंड ब्रह्मचर्य, और धन की मूर्च्छा का त्याग। संक्षेप से कहें तो पांच अणुव्रत या महाव्रत का पालन ही यम है। संयम सतरह प्रकार का है। पांच महाव्रत का आचरण, चार कषाय का त्याग, तीन योगों (मन, वचन, काय) पर अंकुश और पांचों इन्द्रियों का दमन। तप, यम और संयम के पालन करने में बाह्य कष्ट को यन्त्रणा कहते हैं। यद्यपि यह यंत्रणा है फिर भी इसे स्वेच्छा से स्वीकृत किया गया है क्योंकि आत्मा अपने वश में रहकर सब सहता है अतः इसका परिणाम शुभ है।

इन्द्रियों के विषयों को अपनी इच्छा से छोड़ने में आनंद है नहीं तो वृद्धावस्था में ये बहुत दुःख देंगे। वृद्धावस्था में रसना का स्वाद तो बढ़ता जाता है लेकिन दांतों की शक्ति जाती रहती हैं। सेव या पापड़ खाने की इच्छा होने पर उसे कूटकर चूरा करके ही खाया जाता है। सुपारी को

खूब कतर कर या कूटकर ही खाते हैं ओह यदि इनको युवावस्था में छोड़ दिया होता तो इस प्रकार की बाल चेष्टाएं न करनी पड़ती। अतः परिषह सहने में सशक्त बन।

परिषह सहने के शुभ फल

अणीयसा साम्यनियंत्रणाभुवा, मुनेऽत्र कष्टेन चरित्रजेन च।
यदि क्षयो दुर्गतिगर्भवासगाऽसुखावलेस्तत्किमवापि नार्थितम्।३६।

अर्थ—समता से और नियंत्रण से होते हुए थोड़े से कष्ट के द्वारा एवं चारित्र पालने से होते हुए थोड़े से दुःख के द्वारा यदि दुर्गति में जाने का और गर्भ परंपरा का सर्वथा क्षय हो जाता हो तो फिर तुझे कौन सा इच्छित प्राप्त नहीं हुवा है ? ॥ ३६ ॥ वंशस्थविल

विवेचन—यद्यपि समता से आत्मा को आनंद ही आता है, इससे संकल्प विकल्प का नाश होकर अत्यंत सुख प्रकट होता है तथा चारित्र पालने में भी विशेष कष्ट नहीं होता है वरन आत्म संतोष व शांति की प्राप्ति होती है तो भी इसे यदि कष्ट ही मान लिया जाय, तो इन दोनों प्रकार से तुझे थोड़ा कष्ट होकर परिणामतः दुर्गति का व भवपरंपरा का (पुर्नजन्म का) सर्वथा नाश होता हो तो फिर तुझे और क्या चाहिए। थोड़े से कष्ट सहने से हमेशा का कष्ट तो नष्ट हुवा। ऐसा विचार करके समता से परिषह सह।

परिषह से दूर भागने के बुरे फल

त्यज स्पृहां स्वःशिवशर्मलाभे, स्वीकृत्य तिर्यङ्नरकादिदुखम्।
सुखाणुभिश्चेद्विषयादिजातैः, संतोष्यसे संयमकष्टभीरुः ॥ ३७ ॥

अर्थ—संयम पालने के कष्ट से डरकर विषय कषाय से होते हुए अल्प सुख में यदि तू संतोष मानता हो तो फिर तिर्यंच, नारकी के भावी दुःखों को स्वीकार करले और स्वर्ग या मोक्ष लाभ की इच्छा को छोड़ दे ॥ ३७ ॥ उपजाति

विवेचन—यदि कोई बीमार दवा न पीता हो तो उसे कटाक्ष से कहा जाता है कि मिठाई खा, बासूंदी खा, आचार खा ? यदि तेरी इच्छा अच्छा होने की नहीं है तो यह खा ! इसी तरह से सूरिश्वर ने कटाक्ष वचनों से मुनि को जागृत करने के लिए कहा है कि यदि तुझे संयम में कष्ट प्रतीत होता हो और विषय कषाय में आनंद आता हो तो फिर स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति की इच्छा छोड़कर तिर्यंच या नरक के दुःखों को स्वीकार कर ले ।

परिषह सहने में विशेष शुभ फल की प्राप्ति

समग्रचिंतार्त्तिहृतेरिहापि, यस्मिन्सुखं स्यात्परमं रतताम् ।
परत्र चेंद्रादिमहोदयश्री, प्रमाद्यसीहापि कथं चरित्रे ॥ ३८ ॥

अर्थ—चारित्र से इस भव में सर्व प्रकार की चिंता और मन की आधि का नाश होता है अतः उसमें जिसका मन लगा हो उनको बड़ा सुख होता है और पर भव में इन्द्रासन या मोक्ष की महालक्ष्मी प्राप्त होती है । (इस प्रकार से फल होते हुए भी) तू चारित्र में प्रमाद क्यों करता है ॥ ३८ ॥
उपजाति

विवेचन—चारित्र पालन में स्वात्म संतोष और प्राप्त

वस्तु का भी त्याग मुख्य होता है। ऐसा करने से आत्मा को बहुत आनंद आता है। उसे चिंता (राज्य भय और चोर भय) नहीं होती है। उसे मानसिक पीड़ा अर्थात आर्त्ति (अपने और दूसरे के भरण पोषण की मानसिक पीड़ा) नहीं होती है। इस निश्चितता के स्थूल सुख के अतिरिक्त चारित्र से शुभ बंधन के कारण पर भव में इन्द्र, महर्धिक देव आदि की ऋद्धि प्राप्त होती है तथा कर्म बंधन के अभाव से मोक्ष प्राप्त होता है। टीकाकार कहते हैं कि :—

न च राज्यभयं न च चौरभयं, न च वृत्तिभयं न वियोगभयम्।
इहलोकसुखं परलोकसुखं, श्रमणत्वमिदं रमणीयतरम्॥

जो परभव, आत्मा और पुद्गल का भिन्न स्वभाव तथा जीव की भिन्न भिन्न स्थिति का स्वीकार करते हैं उन्हीं को इस आध्यात्मिक विषय में आनंद आता है। साधु जीवन को उद्देश में रखकर लिखी गई यह शिक्षा गृहस्थ के लिए भी हितकर है अतः इसका खूब मननकर पालन करना चाहिए। बाइस परीषह ये हैं :—

समता से भूख[१], प्यास[२], सर्दी[३], गरमी[४] सहना। मच्छरों डंक[५] सहना। शास्त्र के प्रमाण से अधिक वस्त्र[६] नहीं रखना। संयम में अप्रीति[७] न करना। स्त्री संग का सर्वथा[८] त्याग। अप्रति बद्ध विहार[९]। अभ्यास के स्थान की मर्यादा रखना। सरूत या कम शय्या के कारण रागद्वेष[१०] न करना। समता से

तिरस्कार[११] सहना। स्ववध होने के अवसर पर भी धर्म त्याग[१२] न करना। भिक्षा मांगते न शर्माना[१३]। भिक्षा इच्छित न[१४] मिलने पर मन का संतुलन न खोना। रोग सहना[१५]। घास या तृण[१६] का चुभना सहना। शरीर के मैल से[१७] घृणा न करना। सत्कार न हो तो परवाह न[१८] करना। सत्कार मिले तो फूलना[१९] नहीं। ज्ञानपन का अहंकार[२०] न करना। अज्ञानता पर रोष[२१] न करना। धर्म श्रद्धा[२२] दृढ़ रखना।

सुख साध्य धर्म कर्तव्य—प्रकारांतर

महातपोध्यानपरीषहादि, न सत्वसाध्यं यदि धर्तुमीशः।
तद्भावनाः किं समितीश्च गुप्तीर्धत्से शिवार्थिन्न मनःप्रसाध्याः ३९

अर्थ—हे मोक्षार्थी! उग्र तपस्या, ध्यान, परीषह आदि सत्व से साधे जा सकते हैं, यदि उन्हें साधने में तू अशक्त है तो भी बारह भावना, समिति और गुप्ति जो मन से साधी जा सकती हैं उनके साधने की भावना तू क्यों नहीं धारण करता है? ॥ ३९ ॥ उपजाति

विवेचन—इस पंचम काल में यदि उग्र तपस्या, (छः माह के उपवास या मास खमण आदि), महाप्राणायाम आदि ध्यान और बाइस परीषह आदि सहन करने की तेरी शक्ति नहीं

है यद्यपि प्रयत्न से वे साधे जा सकते हैं तो भी तू यदि मन पर अंकुश रखता हो तो इन्द्रिय दमन, आत्म संयम, योग आदि शारीरिक कष्ट के सहे बिना भी महाविकट कार्य साध सकेगा। मन के द्वारा साधी जा सकने वाली अनित्य आदि बारह भावनाएं, इर्यादि पांच समिति और मन आदि तीन गुप्ति तो तू सरलता से धारण कर सकता है, इनमें तो कोई शारीरिक कष्ट नहीं पड़ता है तो फिर इनके साधने में तू प्रयत्न क्यों नहीं करता है ?

भावना-संयम स्थान—उसका आश्रय

अनित्यताद्या भज भावनाः सदा, यतस्व दुःसाध्यगुणेऽपि संयमे।
जिघत्सया ते त्वरते ह्ययं यमः, श्रयन् प्रमादान्न भवाद्बिभेषि किम्

अर्थ अनित्य आदि सभी भावनाएं सदा भाता रह, संयम के (मूल और उतर) गुण जो दुःसाध्य हैं उनमें यत्न कर, यह यमराज तुझे खा जाने की जल्दी कर रहा है। क्या प्रमाद का सहारा लेते समय तू संसार भ्रमण से नहीं डरता है ? ॥ ४० ॥ **वंशस्थविल**

विवेचन—हे साधु ! प्रमाद से संसार बढ़ता जा रहा है, मृत्यु नजदीक आती जा रही है और समय बीतता जा रहा है। यह मनुष्य देह फिर मिलना महा दुर्लभ है अतः तू सदा बारह भावना भा, चरणसित्तरी का पालन कर, जिसमें महाव्रत, यति धर्म, संयम, वैयावच्च, ब्रह्मचर्य की गुप्ति, कषाय त्याग आदि का समावेश है एवं करणसित्तरी का

पालन कर, जिसमें पिंड आदि की शुद्धि, समिति, भावना, साधु की प्रतिमा, इन्द्रिय निरोध, प्रतिलेखना गुप्ति व अभिग्रह आदि का समावेश है ।

चरणसित्तरी के ७० भेद

५. महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह का पालन ।

१० यतिधर्म—१ क्षमा, २ अहंकारत्याग, ३ सरलता, ४ निर्लोभ, ५ तप, आश्रव की ६ विरति, ७ सत्य, ८ संयम, ९ धनत्याग, अखण्ड १० ब्रह्मचर्य ।

१७. प्रकार से संयम—

५. नए कर्मबंध कराने वाले प्राणातिपात मृषावाद आदि महादोषों से अलग रहना, ५. इन्द्रियों का दमन, ४ कषाय का त्याग, ३ मन, वचन, काया के पाप कार्यों से दूर रहना ।

१०. प्रकार से वैयावच्च—

१ आचार्य, २ उपाध्याय, ३ तपस्वी, ४ नवदीक्षित शिष्य, ५ रोगी साधु ६ सामान्य साधु, ७ स्थविर, ८ चतुर्विध संघ, ९ कुल १० गण इन सबकी योग्य सेवा करना, उन्हें आहार पानी ला देना एवं उनकी अन्य सेवा करना ।

९. ब्रह्मचर्य गुप्ति—

१. वसति—जिस स्थान में, स्त्री, पशु, या नपुंसक हों या उनकी मूर्ति या चित्र हों वैसे स्थान में नहीं रहना ।

२. कथा—स्त्री संबंधी कथा न कहना, न पढ़ना, मात्र स्त्री वर्ग के सामने कथा नहीं कहना, स्त्री से एकांत में बात न करना।

३. आसन—स्त्री के साथ एक आसन पर न बैठना, उसके उठ जाने पर भी उस आसन या स्थान पर दो घड़ी (४८ मिनट) तक न बैठना।

४. इंद्रिय निरीक्षण—स्त्री के अंगोपांग नहीं देखना।

५. पर्दे की ओट से काम श्रवण—भींत, कनात, या पर्दे की ओट के पीछे रहते हुए पति पत्नि या स्त्री की बातें न सुनना।

६. पूर्व भोग चिंतन—पहले के भोगे हुए विकारों की स्मृति न करना।

७. प्रणीत—दुध, दही, घी, मधुर और चीकने पदार्थ अधिक न खाना।

८. अति मात्राहार—अविकारी सादा भोजन भी मात्र शरीर निर्वाह जितना ही खाना, खूब पेट भरकर न खाना एवं अधिक मूत्र आवे वैसा आहार न करना।

९—विभूषण—स्नान, विलेपन, या शरीर की शोभा न करना।

३. ज्ञान—शुद्ध अवबोध, शुद्ध श्रद्धा और निरतिचार वर्तन।

१२. तप—१ उपवास करना, २ कम खाना, ३ वस्तुएं कम खाना, ४ रस त्याग, ५ शरीर को लोचादि कष्ट देना,

६ अंगोपांग का संकोच ये छ बाह्य तप। ७ प्रायश्चित, ८ विनय, ९ वैयावच्च, १० ज्ञानाभ्यास, ११ ध्यान, १२ उत्सर्ग ये छः आंतरिक तप करना। कुल १२ तप तपना।

४. कषाय त्याग—क्रोध, मान, माया, लोभ का त्याग।

करणसित्तरी के ७० भेद

४. पिंडशुद्धि[१] में ४२ दोष रहित आहार लेना, शय्या[२] शुद्धि, वस्त्र[३] और पात्र[४] शुद्धि।

५. समिति—१. मार्ग में साड़े तीन हाथ आगे दृष्टि रखकर चलना, इर्यासमिति, २. निर्दंभ, सत्य अल्प, हितकर बोलना, भाषा समिति, ३. दोष रहित आहार पानी लेना, एषणा समिति, ४. वस्तु लेते या रखते जीवों की रक्षा करना, आदान भंडमत्त प्रक्षेपणा समिति, ५. लघुशंका, शौच आदि करते या डालते या खेंखार कफ खूंक या कचरा आदि फेंकते समय जमीन को देखकर जीवों की रक्षा करते हुए डालना, पारिठापनिका समिति।

१२. बारह भावना—

१. अनित्य—इस संसार में आत्मा के सिवाय अन्य समस्त वस्तुएं नाशवंत हैं, यह सोचना।

२. अशरण—मृत्यु के समय जीव का कोई रक्षक नहीं है मात्र शुभ कर्म का ही शरण है।

३. संसार—संसार समुद्र में से कब निकलूं, संसार की जंजीर से कब छूटूं यह विचारना।

४. एकत्व—यह जीव अकेला आया है, अकेला जाएगा, इसका कोई नहीं है न यह किसी का है।

५. अन्यत्व—हे जीव ! तू किसी का नहीं है ये सब जड़ व चेतन पदार्थ तेरे नहीं हैं तू सबसे भिन्न है।

६. अशुचि—यह शरीर मलमूत्र का धाम है, रोग, जरा का स्थान है, मांस, रुधिर हड्डी आदि अपवित्र वस्तुओं से बना हुवा है में इससे अलग हूं इसकी अपवित्रता को विचारना।

७. आश्रव—राग द्वेष अज्ञान मिथ्यात्व, अविरति आदि से कर्म आते हैं ये आश्रव हैं इन्हें त्यागना चाहिए।

८. संवर—समिति, गुप्ति, यति धर्म, चारित्र आदि से नए कर्म नहीं बंधते हैं।

९. निर्जरा—ज्ञान सहित क्रिया व तप से पहले के कर्मों को खपाना चाहिए ऐसा सोचना चाहिए।

१०. लोकस्वरूप—लोकस्वरूप की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश सोचना।

११. बोधि दुर्लभ—संसार में भटकते हुए आत्मा को सम्यक् ज्ञान का प्राप्त होना दुर्लभ है, यदि वैसा ज्ञान पाया तो भी चारित्र, सर्व विरति धर्म पाना दुर्लभ है।

१२, धर्म दुर्लभ—शुद्ध, देव, गुरु और धर्म को पहचानना

दुर्लभ है, उनको पहचान कर उनको पूजना, नमना, आराधना करना अधिक दुर्लभ है।

१२. साधु की प्रतिमा—विशेष प्रकार के तप। ज्ञानी से या शास्त्रों से जानें।

५. इंद्रिय निरोध—इंद्रियों का दमन।

२५. प्रतिलेखना—सुबह, दुपहर और सायंकाल को सब उपकरणों की प्रतिलेखना करना। (उन्हें झाड़ना पोंछना)

३ गुप्ति—मन वचन और काया के योगों पर अंकुश रखना या उनको रोकना।

४. अभिग्रह—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अभिग्रह करना या नियम लेना, मन में सोचकर उसका पालन करना।

चरणसित्तरी नित्य अनुष्ठान है और करणसित्तरी प्रयोजन के वश करने योग्य अनुष्ठान है।

योग रुंधन की आवश्यकता

हतं मनस्ते कुविकल्पजालैर्वचोप्यवद्यैश्च वपुः प्रमादैः।
लब्धीश्च सिद्धीश्च तथापि वांछन्, मनोरथैरेव हहा हतोसि ॥४१॥

अर्थ—तेरा मन खराब संकल्प विकल्प से आहत है, तेरे वचन असत्य और कठोर भाषण से भरे हुए हैं और तेरा शरीर प्रमाद से बिगड़ा हुवा है फिर भी तू लब्धि और सिद्धि की इच्छा करता है। वास्तव में तू (मिथ्या) मनोरथ से मारा गया है ॥ ४१ ॥ **उपजाति**

विवेचन—योग अर्थात मन, वचन और काया का पाप काम आत्मशक्ति से बंद करना। इन तीनों को वश में रखना इससे सांसारिक दुःखों का नाश और मोक्ष को प्राप्ति सुलभ होती है। ग्रंथकार कह रहे हैं कि तेरे मन, वचन और काया श्लोक के कथन के अनुसार बिगड़े हुए हैं फिर भी तू लब्धि और सिद्धि चाहता है, कितना आश्चर्य है ? वास्तव में तुझे मिथ्या मनोरथों ने परवश कर रखा है। सारांश कि जिसके मन वचन और काया स्ववश हो जावें तो बाद में उसे लब्धि या ऋद्धि की इच्छा भी नहीं रहती है। वास्तव में न लब्धि व ऋद्धि से मोक्ष ही मिलता है।

मनोयोग पर नियंत्रण—मन गुप्ति

मनोवशस्ते सुखदुःखसंगमो, मनो मिलेद्यं स्तु तदात्मकं भवेत्।
प्रमादचोरैरिति वार्यतां मिलच्छीलांगमित्रैरतुषंजयानिशम् ॥४२॥

अर्थ—सुख और दुःख पाना तेरे मन के आधीन है। मन जिसके साथ मिलता है उसके साथ एकाकार हो जाता है। अतः प्रमाद रूप चोर से मिलते हुए तेरे मन को रोक रख और शीलांगरूप मित्रों के साथ उसे निरंतर मिलने दे ॥४२॥

वंशस्थ

विवेचन—मन का स्वभाव जल या तेल जैसा है। जल में जैसा रंग मिलता है वह वैसा ही रंगीन नजर आता है। तेल में जैसा सुगंधी पदार्थ मिलाना हो वैसा मिल सकता है। तेल, जल में जल्दी फैल जाता है वैसे ही मन संसार में शीघ्र

आसक्त हो जाता है इसके स्वभाव को विचारते हुए इस चंचल मनरूप घोड़े को सदा काबू में रखने के लिए, समता, दया, उदारता, सत्य, क्षमा, धैर्य ये गुण धारण करने चाहिए इनके साथ मिलकर यह वैसा ही बन जावेगा जब कि प्रमाद के साथ मिलकर प्रमादी बन जावेगा अतः तू इसे शीलांग के साथ जोड़ दे।

मत्सर त्याग

ध्रुवः प्रमादैर्भववारिधौ मुने, तव प्रपातः परमत्सरः पुनः।
गले निबद्धोरु शिलोपमोऽस्ति चेत्कथं तदोन्मज्जनमप्यवाप्स्यसि ४३

अर्थ—हे मुनि ! तू प्रमाद करता है इस कारण से संसार समुद्र में तेरा पतन तो निश्चित है ही साथ ही दूसरों पर तू मत्सर करता है वह गले में बंधी हुई बड़ी शिला जैसा है अतः तू उस समुद्र तल में से ऊपर भी कैसे आ सकेगा ॥ ४३ ॥ वंशस्थ

विवेचन—हे मुनि तू प्रमाद (मद्य, विषय, कषाय, विकथा, निद्रा) के कारण भव समुद्र में अवश्य डूबेगा साथ में ही मत्सर (ईर्षा) करने से समुद्र के तले में ही पड़ा रहेगा, मत्सररूपी पत्थर की शिला तेरे गले में बंधी रहने से तू ऊपर न आ सकेगा। जीवन में प्रमाद के साथ ही मत्सर को भी नरक का व भव भ्रमण का कारण बताया है अतः चाहे गृहस्थी हो चाहे साधु उसे प्रमाद व मत्सर से दूर रहना चाहिए। आत्म जागृति के बिना इनसे दूर नहीं रहा जा सकता है एवं इनसे दूर रहे बिना आत्मजागृति भी नहीं हो सकती है।

निर्जरा निमित्त परीषह सहन

महर्षयः केऽपि सहंत्युदीर्याप्युग्रातपादीन्यदि निर्जरार्थम् ।
कष्टं प्रसंगागतमप्यणीयोऽपीच्छन् शिवं किं सहसे स न भिक्षो ४४

अर्थ—जब बड़े ऋषि भी कर्म की निर्जरा के लिए उदीरणा करके भी आतापना आदि सहन करते हैं तब तू मोक्ष की इच्छा रखता हुवा भी प्रसंग से आए हुए अत्यंत अल्प कष्टों को क्यों नहीं सहता है ? ॥ ४४ ॥ **उपजाति**

विवेचन—गत भवों व इस भव में बांधे हुए कर्मों की निर्जरा करने के लिए उन कर्मों की स्थिति आने से पहले ही उनको उदय में लाकर, उनको भोगकर उन्हें आत्मप्रदेश से अलग कर देने के लिए जान बूझकर कष्ट सहन करने को उदीरणा कहते हैं। उत्कट मोक्षाभिलाषी आत्मा प्रायः ऐसा ही करते हैं। गर्मी में दुपहर को गरम रेत में तप करना, पोष मास की सख्त सर्दी में कपड़े उतार कर नदी किनारे या अन्य ठंडे स्थान में तप करना आदि उदीरणा है। हे साधु जब तेरा लक्ष ही मोक्ष पाने का है तब तू उदीरणा करना तो दूर रहा, विपरीत इसके चारित्र पालते हुए साधारण कष्ट, भूख प्यास, विहार आदि में भी असनशील बनता है, निराश होता है, निश्वास डालता है यह अयोग्य है। तू भी उदीरणा करके या कष्ट सहन करके अपना हित कर ले।

यति स्वरूप— भाव दर्शन

यो दान मानस्तुतिवंदनाभिर्न मोदनेऽन्यैर्न तु दुर्मनायते ।
अलाभलाभादि परीषहान् सहन्, यतिः स तत्त्वादपरो विडंबकः ४५

अर्थ—जो प्राणी दान, मान, (सत्कार) स्तुति और नमस्कार से प्रसन्न नहीं हो जाता है और उनसे विपरीत (असत्कार, निंदा) से अप्रसन्न नहीं होता है और अलाभ आदि परीषहों को सहन करता है वह परमार्थी यति है, बाकी दूसरे तो वेशविडंबक हैं। इंन्द्रवंशा

विवेचन—जिसका मन अपने काबू में हो और स्तुति या निंदा में खुश या नाराज़ न होता हो तथा आए हुए परीषहों को बिना खेद से सहता हो वही वास्तव में सच्चा यति है बाकी तो वेश की विडंबना करने वाले वेशधारी नट जैसे हैं। ऐसे वेशधारी, अपने उपकरणों को भिन्न भिन्न रूप व विधि से धारण करके, समेट करके या कुछ भिन्नता लाकर अपना अलग ही सांग रचते हैं, न तो वे सिद्धांत को जानते हैं न अपना या दूसरों का भला ही कर सकते हैं। इस पंचम काल में ऐसे वेशधारी दिन प्रतिदिन बढ़ते व पुजाते जा रहे हैं, काल का प्रभाव है। वे अनपढ़ लोगों के आदर सत्कार व वंदन पूजन योग्य व अराध्यदेव तक बन रहे हैं। कर्मों के वशीभूत प्राणी सच्चे देवगुरु धर्म को न पहचान कर ऐसों के फेर में पड़कर अपनी भव परंपरा को बढ़ा रहे हैं यही तो कर्म गति है। जीवों को पूर्वभव में ज्ञान नहीं मिला इसीलिए तो गुरु को पहचान नहीं है, जब गुरु की पहचान नहीं है अतः ऐसे वेशधारी के फंदे में पड़े हैं अब तरने का रास्ता कहां रहा आश्चर्य है। ऐसे, वेषधारी, जो धर्म को बदनाम करके स्व पर का अहित करते हैं उनसे सावधान रहना चाहिए।

यति, गृहस्थ की चिंता न करे

दधद्गृहस्थेषु ममत्वबुद्धिं, तदीयतप्त्या परितप्यमानः ।
अनिवृतांतःकरणः सदा स्वैस्तेषां च पापैर्भ्रमिता भवेसि ॥४६॥

अर्थ—गृहस्थ पर ममत्व बुद्धि रखने से उनके सुख दुःख की चिंता से संतप्त रहने से तेरा अंतःकरण सदा व्याकुल रहेगा और तू अपने और उनके पापों से संसार में भटकता रहेगा ॥ ४६ ॥ उपजाति

विवेचन—साधु एक स्थान पर अधिक न टिकें । शास्त्रोक्त विधि से नव कल्पी विहार करते रहें । एक ही शहर में बहुत अधिक रहने से या बार बार उसी शहर में चातुर्मास करने के निमित्त आकर आठ आठ मास तक स्थिर रहने से कई दोष उत्पन्न होते हैं जिनमें से मोह व दृष्टिराग मुख्य हैं । ये मेरे श्रावक हैं, ये मेरे भक्त हैं उनमें ऐसी ममत्व बुद्धि आ जाती है जिससे गृहस्थों की घरेलु बातों में पड़ने से उनके सुख दुःख के भागी बना जाता है एवं शांति का भंग होता है और परिणामतः स्वयं का व उन श्रावकों का संसार भ्रमण बढ़ता है । गृहस्थों पर से राग दूर करने का एक तो उपाय यह है कि उनसे परिचय कम करना, फालतु बातों का त्याग कर अभ्यास में चित्त लगाना, नवकल्पी विहार करना, एक ही स्थान पर सिवाय वृद्धावस्था, अशक्ति, रोगादि या आवश्यक धार्मिक कारण के विशेष स्थिरता न करना । दूसरा उपाय है राग का कटु विपाकपन सोचना और आत्मपरिणिति को डिगने नहीं देना ।

आज प्रायः चातुर्मास करने की स्थिरता की अवधि चार मास की हद को छोड़कर ८ मास या १० मास तक पहुंच गई है। खेद है कि कहा किसको जाय ! जो उपदेशक, गीतार्थ आचार्य कहे जाते हैं वे भी इसी रोग के शिकार बने हुए हैं परिणामतः एक ही प्रांत में साधुओं का जमाव है वही प्रांत (गुजरात) उनका विहार व चातुर्मास का केंद्र बना हुवा है। बड़े बड़े शहरों में (अहमदाबाद, बंबई, पालीताणा,) उनका जमाव नजर आता है चाहे वहां उनकी अवज्ञा ही क्यों न होती हो, चाहे वे समाज को भाररूप क्यों न दिखते हों, चाहें उनके कारण से गृहस्थों को विपरीत विचारणा में क्यों न जाना पड़ता हो, चाहे उनकी स्थिरता से दूसरे साधुओं को स्थान का अभाव ही क्यों न होता हो। इन सब बातों की परवाह आज किसे है। आहार विहार की सुगमता से वे लाचार हैं। विशेषतः दैनिक व्यवहार के साधन या दवा आदि उन्हें सुखपूर्वक मिल जाने से या अंध श्रद्धालुओं की भक्ति के कारण वे मधुमक्खी की तरह अपने छत्तों रूप शहरों को छोड़ना पसंद नहीं करते हैं। उनके ऐसे बर्ताव से अन्य प्रांत धर्म से वंचित हैं। वहां श्रावकों में रात्रि भोजन तथा कंदमूल का खूब प्रचार है और पतन की पराकाष्ठा यहां तक पहुंच गई है कि वे जिन देव की मूर्ति व मंदिरों के द्वेषी बन गए हैं। इसी शास्त्र के प्रणेता जिस भूमि (मेवाड़) में विचरे थे आज वहां की दुर्दशा देखकर बड़ा दुख होता है। अतः दृष्टि राग से बचने के लिए नवकल्पी विहार अत्यंत आवश्यक है जो कल्याण का मार्ग है।

गृहस्थ की चिंता का फल

त्यक्त्वा गृहं स्वं परगेहचिंतातप्तस्य को नाम गुणस्तवर्षे ।
आजीविकास्ते यतिवेषतोऽत्र, सुदुर्गतिः प्रेत्य तु दुर्निवारा ।।४७।।

अर्थ—अपना घर छोड़कर दूसरे के घर की चिंता से संतप्त हे ऋषि ! तुझे क्या लाभ होने वाला है ? (अधिक से अधिक तो) यति के वेष से इस भव में तेरी आजीविका सुख से चलेगी परंतु (इस वेष से) परभव में अत्यंत नेष्ट दुर्गति नहीं रोकी जा सकेगी ।। ४७ ।।

उपजाति

विवेचन—जिस ध्येय को (मोक्ष को) सामने रखकर तूने यह वेश धारण किया है और अपने घर की चिंता से मुक्त हुवा है तो फिर दूसरों के घर की चिंता क्यों करता है इससे तेरी हानि होगी। इस वेष से इस भव में चाहे तुझे खान, पान, मान अधिक मात्रा में मिलते हों परन्तु पर भव में दुर्गति को रोकने में यह तेरा सहायक न होगा। अतः गृहस्थ की चिंता को छोड़कर आत्मचिंतन कर।

तेरी प्रतिज्ञा से विपरीत तेरी चलन

कुर्वे न सावद्यमिति प्रतिज्ञां, वदन्नकुर्वन्नपि देहमात्रात् ।
शय्यादिकृत्येषु नुदन् गृहस्थान् हृदा गिरा वासि कथं मुमुक्षुः ४८

अर्थ—"मैं सावद्य नहीं करूंगा" ऐसी प्रतिज्ञा का तू प्रतिदिन उच्चारण करता है फिर भी सिर्फ शरीर से ही तू सावद्य

काम नहीं करता है परंतु मन वचन से तो गृहस्थों को शय्या आदि कामों के लिए प्रेरित करता रहता है तो फिर तू मुमुक्षु कैसा ? ॥ ४८ ॥ उपजाति

विवेचन—दीक्षा लेने के पश्चात मानव पूरी तरह से अंकुश में आ जाता है। आत्मार्थी को तो इसमें खूब आनंद आता है। जिसे आनंद आता है वही सच्चा साधु है लेकिन कई भारी कर्मी जीव इस अवस्था में आने के बाद भी मन की अभिलाषाओं से पराजित होकर कई आदेश उपदेश देकर मनोवांछित कार्य साधते हैं व वस्तु मंगाते हैं अतः वे मुमुक्षु नहीं हैं। दीक्षा लेकर प्रतिदिन यह प्रतिज्ञा नौ बार ली जाती है, कि, "सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं" इत्यादि। जिसका अर्थ है कि हे प्रभु ! मैं सभी प्रकार के पापकारी कार्यों को जीवन पर्यंत नहीं सोचूंगा, करने का उपदेश नही दूंगा और स्वयं भी नहीं करूंगा और करते हुए को भला भी नहीं जानूंगा।" परंतु प्रतिदिन तू अपनी सुख साधना के लिए वैसा उपदेश या आदेश देता है यह तो तेरी प्रतिज्ञा का भंग है जो मृषावाद भी है अतः तू मन वचन और काया से प्रतिज्ञा का पालन कर।

दिखते हुए प्रशस्त सावद्य कर्मों का फल

कथं महत्त्वाय ममत्वतो वा, सावद्यमिच्छस्यपि संघलोके।
न हेममय्यप्युदरे हि शस्त्री, क्षिप्ता क्षणोति क्षणतोऽप्यसून किम् ४९

अर्थ—तू अपने महत्व के लिए या ममत्व के लिए संघलोक

में भी सावद्य की वांछा करता है तो क्या सोने की छुरी भी पेट में मारने से क्षण में प्राण नाश नहीं कर देती है ? ॥४९॥

उपजाति

विवेचन—संघ के कामों (प्रतिष्ठा, उपधान आदि) में भी यदि तू अपना यश बढ़ाना चाहता है या मूर्ति पर अपना नाम खुदवाने की भावना से उपदेश देता है तो वह भी ममत्त्व या महत्त्व बढ़ाने का कारण होने से आत्मघातक है। ऐसे भावों से प्रशस्त या अप्रशस्त कार्य भी हानिकारक हैं। छुरी चाहे लोहे की हो चाहे सोने की, पेट में मारने से अवश्य प्राणघात करती है। यहाँ छुरी की उपमा ममत्व और महत्वता से, पेट को आत्मपरिणिति से और प्राण को चारित्र जीवन से दी है।

पुण्यहीन की चेष्टा, उद्धत बर्ताव—अधम फल

रंकः कोऽपि जनाभिभूतिपदवी त्यक्तवा प्रसादाद्गुरो-
र्वेषं प्राप्ययतेः कथंचन कियच्छास्त्रं पदं कोऽपि च।
मौखर्यादिवशीकृतर्जुजनतादानार्चनैर्गर्वभाग्-
आत्मानं गणयन्नरेंद्रमिव धिग्गंता द्रुतं दुर्गतौ ॥ ५० ॥

अर्थ—कोई दीन हीन मनुष्य लोगों से अपमानित होने के स्थान को छोड़कर गुरू महाराज की कृपा से मुनि का वेष पाता है, थोड़ा सा शास्त्र अभ्यास भी करता है और कोई पदवी भी पाता है तब अपने वाचालपन से भद्रिक लोगों को वशीभूत करके उन रागी लोगों से दिए गए दान और सम्मान से वह गर्व मानता है और अपने आप को राजा समान गिनता

है। ऐसों को धिक्कार है। वे शीघ्र ही दुर्गति में जाने वाले हैं। (अनंत द्रव्यलिंगी भी ऐसी दशा में वरतने से ही निष्फल हुए हैं) ॥ ५० ॥ शार्दूलविक्रीडित

विवेचन—जीव को पाप कर्मानुसार दरिद्रावस्था, दासपन, परमुखापेक्षा आदि प्राप्त होते हैं। उसे कई प्रसंगों में अपमान सहना पड़ता है। यदि किसी पूर्व कर्म के कारण गुरू महाराज का संयोग मिल गया तो उसे उस अपमानित घृणित दशा में से निकाला गया और पूजनीय वेष (मुनिवेष) प्राप्त हुआ। वहां वह थोड़ा सा अभ्यास भी करता है और समय जाते उसे कोई पदवी, (पन्यास, उपाध्याय, गणि, आचार्य) भी प्राप्त होती है। तब उसे लोगों से मिलने बोलने की छूट रहती है जिससे वह लोगों में अपना प्रभुत्व जमाने के लिए तरह तरह का वाग् जाल फैलाता है, लोगों में अपनी तरफ श्रद्धा व अनुराग पैदा करता है, वे अनुरागी लोग उसे तरह तरह का सम्मान देते हैं, उसके उपदेशों को सुनते व मानते हैं और धर्म क्रिया, अनुष्ठान या महोत्सव करते हैं। इससे वह अपने आपको राजा मानता है, एवं अभिमान करता है। उसे नहीं मालूम कि यह सब तो तेरे भगवान के मार्ग पर चलने से, एवं उनका उपदिष्ट वेष धारण करने से व उनके बताये शास्त्रों को पढ़ने के कारण हो रहा है। इसमें तेरा व्यक्तित्व का प्रभाव कुछ भी नहीं है यदि तेरा प्रभाव होता तो तेरी पहले की दशा में (दीन दरिद्रावस्था) भी होता। जैसे कोई सरकार का सिपाही वारंट लेकर आता है और किसी को गिरफ्तार करके मन में

फूलता है कि मेरा प्रभाव कैसा है, मैं कितने बड़े व ऊंचे पद पर हूं, मेरे में इस कैदी को पकड़ने की, शक्ति है, यह उसकी मूर्खता है क्योंकि यह प्रभाव तो सरकारी पोशाक का है। वैसा हो भोलापन उस मुनि की भी है। उसको नमस्कार नहीं है वरन जैन साधु के वेश को नमस्कार है, उसकी शोभा या उसका प्रभाव नहीं है यह तो जैन शासन की शोभा व प्रभाव है अतः पौद्गलिक फल की इच्छा रखे बिना शुद्ध अध्यवसाय से धर्म क्रिया करना चाहिए। अभिमान से तो यह जीव क्रिया करता है और कष्ट भी उठाता है और प्राणांत उपसर्ग भी सहता है परंतु भाव शुद्ध न होने से वैसी फल प्राप्ति नहीं होती जैसी कि होनी चाहिए।

आज देखा जाता है कि उपधान करके माला पहनते वक्त झगड़ा होता है, पहली माला कौन पहने इसके लिए क्लेश होता है आपस में लड़ते झगड़ते हैं। आचार्यों के समक्ष ही बोलाचाली व अपमानसूचक शब्द बोले जाते हैं। अभिमान व दिखावे की भावना नाश हुए बिना हमारी इन क्रियाओं का कोई महत्त्व नहीं है। तप या क्रियाएं करने के बाद ऐसा करना (अपनी महिमा बढ़ाना या लोक दिखावा करना) आत्मवंचना है व कृत पुण्य को नष्ट करना है अतः अभिमान को छोड़कर प्रत्येक क्रिया करना या कराना चाहिए इसी में आत्म कल्याण है। जो पहले दीन हीन दशा में थे अब साधु के ऊंचे पद पर हैं उन्हें अपनी उस दशा का भान रखकर निराभिमानी रहना चाहिए। भोले जीवों को उन्मार्ग के

बजाय सन्मार्ग पर ले जाना चाहिए इसी में स्व व पर का कल्याण है।

चारित्र प्राप्ति—प्रमाद त्याग

प्राप्यापि चारित्रमिदं दुरापं, स्वदोषजैर्यद्विषयप्रमादैः।
भवांबुधौ धिक् पतितोऽसि भिक्षो, हतोऽसि दुःखैस्तदनंतकालम् ५१

अर्थ—महान कष्ट से भी दुर्लभ ऐसे इस चारित्र को पाकर अपने दोषों से उत्पन्न किए गए विषय और प्रमाद के द्वारा हे भिक्षु ! तू संसार समुद्र में गिरता जा रहा है अतः उसके परिणाम से अनंतकाल तक दुःख सहेगा ॥ ५१ ॥

उपजाति

विवेचन—आत्मभान भूलने से जीव को विषय, कषाय और प्रमाद की प्राप्ति होती है इससे नए कर्मों की शृंखला शुरू होती है। भाग्योदय से तुझे ऐसा अवसर मिला है, महान कष्ट से भी कठिनता से मिलने वाला चारित्र तेरे उदय में आया है अतः तू अपने आपको संयम में रखकर उन पिछले विषय व प्रमाद की परंपरा को मिटा दे और नए विषय व प्रमाद से दूर रह, नहीं तो तेरा भव भ्रमण व संसार कूप पतन का क्रम नहीं मिटेगा।

बोधि बीज प्राप्ति आत्महित साधन

कथमपि समवाप्य बोधिरत्नं युगसमिलादिनिदर्शनाद्दुरापम्।
कुरु कुरु रिपुवश्यतामगच्छन्, किमपि हितं लभसे यतोऽर्थितं शम् ५२

अर्थ—युग समिला आदि सुप्रसिद्ध दृष्टांतों के अनुसार महामुश्किल पाए जाने वाले बोधिरत्न (समकित) को पाकर तू शत्रुओं के आधीन न होकर थोड़ा सा भी आत्महित कर जिससे तुझे इच्छित सुख की प्राप्ति हो ॥ ५२ ॥ **पुष्पिताग्रा**

विवेचन—इच्छित सुख मोक्ष है उसका बीज समकित है। उस समकित को पाने के ग्यारह कारण हैं—अनुकंपा, अकाम निर्जरा, अज्ञान तप, दान, विनय, अभ्यास, संयोग वियोग दुःख, उत्सव, ऋद्धि और सत्कार। मनुष्य भव की दुर्लभता के लिए दश दृष्टातों में से एक दृष्टांत है युग-समिला है। स्वयं भू रमण रमण समुद्र (अनंत द्वीप समुद्रों के पश्चात अर्ध राजप्रमाण, सबसे बड़ा समुद्र) के पश्चिम भाग में युग (बैल के कंधे पर डाला जाने वाला जूड़ा) को डाला जाय और पूर्व भाग में समिला (वह खीली जो जूड़े में डाली जाती है) को डाली जाय इतनी दूरी व समुद्र की तरंगों के कारण जूड़े में खीले का फसना महान कठिन है, शायद यह भी संभव हो जाय तो भी मानव भव पाना इससे भी दुर्लभ है और बोधिबीज मिलना इससे भी दुर्लभ है। अतः हे यति ! अपने आत्महित के लिए थोड़ा सा भी प्रयत्न कर, नहीं तो काम क्रोध आदि शत्रु के वश में होकर तू भव में भटकता रहेगा। इन शत्रुओं के चंगुल से निकल, जिससे तुझे इच्छित सुख मिलेगा।

शत्रुओं की नामावली

द्विषस्त्विमे ते विषयप्रमादा, असंवृता मानसदेहवाचः।
असंयमाः सप्तदशापि हास्यादयश्च बिभ्यच्चर नित्यमेभ्यः ।५३।

अर्थ—तेरे शत्रु हैं—विषय, प्रमाद, निरंकुश मन वचन काय, असंयम के सतरह स्थान और हास्यादि। उनसे तू सदा सर्वदा सचेत रहना ॥ ५३ ॥ उपेन्द्रवज्रा

विवेचन—अपने शत्रुओं को पहचान कर सावधानी से चल—शत्रु ये हैं—स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द इन पांचों इन्द्रियों के विषय या इनके उत्तर भेद रूप तेईस विषय। मद्य, विषय, कषाय, विकथा और निद्रा ये यांच प्रमाद। मन, वचन और काया के संवर बिना के व्यापार (निरंकुशता) सतरह प्रकार का असंयम के स्थान जो चरण सितरी में बताए हैं। इन सबको पहचान कर इनसे दूर रह।

सामग्री—उसका उपाय

गुरूनवाप्याप्यपहाय गेहमधीत्य शास्त्राण्यपि तत्त्ववांचि।
निर्वाहचिंतादिभराद्यभावेऽप्यूषे न किं प्रेत्य हिताय यत्नः ॥५४॥

अर्थ—हे यति ! तुझे महान गुरू की प्राप्ति हुई, तूने घर-बार छोड़े, तत्व प्रतिपादन करने वाले ग्रंन्थों का अभ्यास किया और निर्वाह करनें की चिंता आदि का तेरा भार उतर गया फिर भी परभव के हित के लिए तुझसे प्रयत्न क्यों नहीं होता है ? ॥ ५४ ॥ उपजाति

विवेचन—हे यति ! तुझे सद्गुरू का योग मिला, तूने विरक्त होकर घर दूकान, धन, माल, स्त्री, पुत्र का त्याग किया, उत्तम शास्त्रों का अभ्यास किया, द्रव्यानुयोग का तुझे

ज्ञान प्राप्त हुआ, तुझे अपने और अपने परिवार के भरण पोषण की चिंता नहीं रही, विवाह शादी, काज कीरियावर करने की व मकान बंधाने, जेवर घड़ाने या दुकान पर तरह तरह के परिश्रम करके धन कमाने की चिंता भी नहीं रही अर्थात् तू हर प्रकार से निश्चिन्त है और फिर भी तुझसे धर्म में प्रवृत्त क्यों नहीं हुआ जाता है ? प्रमाद के वश में होकर तू यह भव व परभव क्यों बिगाड़ रहा है ?

संयम की विराधना नहीं करना

विराधितैः संयमसर्वयोगैः,
पतिष्यतस्ते भवदुःखराशौ ।
शास्त्राणि शिष्योपधिपुस्तकाद्या,
भक्ताश्च लोकाः शरणाय नालम् ।। ५५ ।।

अर्थ—संयम के सर्व योगों की विराधना करने से तू जब भव दुःख के समूह में गिरेगा तब शास्त्र शिष्य, उपधि, पुस्तकें और भक्त लोग आदि कोई भी तुझे शरण देने में समर्थ नहीं हो सकेंगे ।। ५५ ।। उपजाति

ववेचन—हे साधु ! संयम की आराधना ही तेरा मुख्य कर्त्तव्य है । इसकी विराधना के अनेक दुष्परिणाम हैं जिनमें से दो तो अनिवार्य हैं । एक तो दुर्गति गमन दूसरा अनंत भव भ्रमण । दुर्गति में पड़ने से रोकने की शक्ति न तो तेरी पुस्तकों से भरी अलमारी में है न शिष्य की पलटन में है न तेरे अपने कहलाने वाले दृष्टि रागी भक्तों में है न ही

मात्र कण्ठस्थ किए गए आचारांग, सूत्र कृतांग आदि शास्त्रों में ही है। यदि कोई दुर्गति में से बचाने वाला है तो वह केवल मात्र संयम ही है। इस जीव को पुद्गल या अन्य जीव सहायक नहीं हो सकते हैं, यह अकेला ही है, अकेला ही अपने अच्छे बुरे कर्मों का फल भोगने वाला है अतः ऐसे आलंबनों को ढूंढने का अवसर ही न दे। सदा संयम गुण में लगा रह और आत्मा को अनंत दुःख राशि में से गिरने से बचा।

संयम से सुख, प्रमाद से उसका नाश

यस्य क्षणोपि सुरधामसुखानि पल्य-
कोटीनृणां द्विनवतीं ह्यधिकां ददाति।
किं हारयस्यधम संयमजीवितं तत,
हाहा प्रमत्त पुनरस्य कुतस्तवाप्तिः॥ ५६॥

अर्थ—जिस (संयम) की एक क्षण (मुहूर्त) भी बानवे क्रोड़ पल्योपम से अधिक समय तक देव लोक का सुख देती है ऐसे संयम जीवन को हे अधम! तू क्यों हार रहा है? हे प्रमादी! दुबारा फिर से तुझे इस संयम की प्राप्ति भी कहां से होंगी? ॥ ५६ ॥ **वसंततिलका**

विवेचन—टीकाकार धन विजयजी गणी लिखते हैं कि, "संयम जीवन का एक क्षण भी मनुष्य को बानवे क्रोड़ पल्योपम से अधिक समय तक का देवलोक का सुख देता है।

"सामायिक करता हुआ श्रावक दो घड़ी (४८ मिनिट)

तक समभाव में बरतता है तब वह बाणवें क्रोड़, उन साठ लाख, पच्चीस हजार नौ सो पच्चीस और तीन अष्टम भाग (९२, ५९, २५, ९२५ ३/८)" पल्योपम का देवायुष्य बांधता है। "इति प्रतिक्रमण-सूत्र वृत्तौ"।

एक सामायिक का जब इतना अधिक फल है तब साधु जो पूरे जीवन के प्रत्येक दिन के प्रत्येक क्षण में सामायिक में रहकर जीवन के सभी काम करता है, उसको कितना अधिक फल मिलता है। अतः हे साधु विषय कषाय से दूर रहकर उत्तम प्रकार से संयम जीवन बिता।

संयम का फल—ऐहिक व आमुष्मिक—उपसंहार

नाम्नापि यस्येति जनेऽसि पूज्यः, शुद्धात्ततो नेष्टसुखानि कानि।
तत्संयमेऽस्मिन् यतसे मुमुक्षोऽनुभूयमानोरुफलेऽपि किं न ॥५७॥

अर्थ—संयम के नाम मात्र से भी यदि तू लोगों में पूजा जाता है तो यदि वास्तव में संयम शुद्ध हो तो कौन सा इष्ट तुझे नहीं मिलता ? जिस संयम के महान फल प्रत्यक्ष अनुभव में आए हैं उस संयम में हे यति ! तू प्रयत्न क्यों नहीं करता है ? ॥ ५७ ॥ **उपजाति**

विवेचन—केवल ऊपरी वेष व पात्र से ही तू साधु दीखता है और इतने से परिवर्तन से ही जब तुझे आहार, उपाश्रय और वंदन पूजनादि मिलता है अर्थात तेरे नाम मात्र के साधुपन से इतना फल मिलता है। यदि तू साधु जीवन को,

(संयम को) सुचारु व वास्तविक रीति से पालेगा तो तुझे सर्वोत्कृष्ट फल (मोक्ष) की प्राप्ति होगी। तेरा ऊपरी साधुपन तो सबको नजर आता है लेकिन अंदर का तो तू ही जानता है। यदि तू जैसा बाहर से साधु है वैसा ही अंदर से भी है तब तो अव्याबाध सुख तेरे समीप ही है अर्थात् सब दुःखों से छुड़ाने वाला सुख—मोक्ष तेरे निकट है।

पूज्य मुनिराजो ! संसार के दावानल से बचने के लिए आपने संयम मार्ग स्वेच्छा से स्वीकार किया है अतः आपको धन्य है। आप स्वयं तरने व दूसरों को तारने का प्रयत्न कर रहे हैं। आपका जीवन केवल परोपकार के लिए ही है अतः आदरणीय है। परन्तु खेद का विषय है कि आपका जैसा वेष धारण करने वाले कई साधु, यति, उन्मार्ग में चलते हैं। वे लोग अपने नाम के पीछे श्रद्धालु श्रावकों का निरर्थक धन खर्चाते हैं, आपके उन्मत्त हठी व क्रोधी स्वभाव के कारण उन्हें अदालतों के द्वार खटखटाने पड़ते हैं जिससे जैन धर्म की निंदा होती है। न मालूम क्या बात है कि इस समय में प्रायः सभी तरह के अधिकतर साधु सुख को इच्छा करते हैं। उपाश्रयों में खूब सामग्री का संग्रह कर चैत्यवासियों की तरह प्रमादी, आसक्त, व प्रमतावस्था में रह रहे हैं। जैन समाज का अधिक धन आपके सुख के लिए व आपके रोगों का इलाज कराने में या आपकी प्रशंसा के ग्रंथ प्रकाशन में या आपके अहं की पूर्ति के लिए खर्च हो रहा है। जिस प्रकार से प्रतिदिन सायंकाल को अंधकार क्रमशः

घर में छा जाता है उसी क्रम से व शनैः शनैः जैन समाज पर अज्ञानाधंकार, निर्धनता व कुसंप छा रहा है। आप जो एक आधार हैं उसकी जड़े भी खोखली हो रही है। आपकी दशा मठधारियों जैसी हो रही है। ३-४ साधु मिलकर विचरते हैं, विहार २-४ दिन का और जमाव १-२ माह का, साथ में नौकर व सब सामान। पहले आपलोग मात्र आत्म कल्याण का ध्येय रखते थे, शास्त्रों को पढ़ते थे, बस्ती से खूब दूर निर्जन स्थान में रहते थे, आपके शब्द मात्र का असर होता था जब कि आज आप श्रावकों के घर की फिक्र करते हैं, आलीशान उपश्रयों में अपने नाम के ज्ञान भंडारों व अल्मारियों से घिरे रहते हैं। एक गच्छ या सिंघाड़े के निमित्त बनवाए गए उपासरों में दूसरे गच्छ, सिंघाड़े या गुरु के शिष्य नहीं ठहराए जाते हैं

जहां सतत विहार की आवश्यकता है वहां आप जाते ही नहीं हैं जहां लोगों में आपके प्रति अरुचि है, आपके कारण गांव में कुसंप है अर्थात आपको उपाश्रय खाली करने का नोटिस सरकार मारफत दिया जाता है वहीं टिके रहने की आपकी इच्छा तीव्रतर होती है। अब आपको अकेले घूमने में भी संकोच नहीं रहा है।

पांच पांच महाव्रत के धारण करने वाले की ऐसी दुर्दशा !! आपका लोगों पर प्रभाव नहीं। आपके अंदर के शत्रुओं का जोर बढ़ गया है अतः आपका ऊपरी बेष तो वही रहा

है परंतु अंदर विषय कषाय का साम्राज्य शीघ्रगति से बढ़ रहा है। प्रायः वही साधु व साध्वी एक ही गांव में बार २ चातुर्मास करते हैं जिनमें राग उत्पन्न हो जाता है, तरुण साध्वियां युवा साधुओं के संपर्क में आने की भावना करती हैं यह सब समाज का दुर्भाग्य है। जैन समाज अंधश्रद्धालु है। इस समाज में शिक्षा को स्थान कम मिल रहा है अतः वेशधारियों का पाप बढ़ता जा रहा है उच्चकोटि के वैराग्य व त्याग के जैनमार्ग को कई कपटी साधु बदनाम कर रहे हैं। वेष सिंह का बरताव सियार का हो रहा है। पूज्यवर सावधान ! यह क्रांति का युग है। नौजवान स्त्री पुरुष अब इन सब पाखंडों को सह न सकेंगें। आपने दीक्षा ली है इसका किसी पर अहसान नहीं है यदि आप सच्चे साधु हैं तो हमारे पूज्य हैं वरना पेटभरू हैं। आपसे समाज का हित हो सकता हो कीजिए वरना अपनें दुराचरण से वीतराग के नाम को बदनाम न कीजिए। चिंतामणि रत्न रूप जैनधर्म को अपने कुकर्मों से काच का टुकड़ा न बनाइये।

पूज्य गुरुवर ! क्षमा करें। हम तो आपमें पूर्वाचार्यों का आत्मबल देखना चाहते हैं। श्री हेमचंद्राचार्य की ज्ञान-शक्ति, हीरविजयसूरी की उपदेश शक्ति हरिभद्रसूरि की शास्त्र अनुरक्ति और मुनि सुंदरसूरि की लेखन शक्ति फिर से आपमें देखना चाहते हैं। आनंदघनजी व यशोविजयजी एवं आत्मारामजी की शक्ति आपमें देखना चाहते हैं। आप समाज के करणाधार हैं आप जैनधर्म व समाज के बीज हैं। बीज

खोखला होगा तो अंकुर कैसे उगेगा । आपके ही कारण आज जैन समाज छिन्न भिन्न हो रहा है । तिथि चर्चा के कारण समाज का अंग प्रत्यंग दर्द अनुभव कर रहा है । संवत्सरी की एकता जाती रही है । आज आपके कुसंप के विरुद्ध श्रावकों को अनशन करना पड़ रहा है । अब तो आपसी फूट को मिटावें । अब तो आपको स्वमान का भान होना चाहिए । अब तो प्रभु महावीर व उनके आचार को आघात लगाने वाले साहित्य प्रगट हो रहे हैं क्या इस तरफ भी आपका ध्यान गया है ? जैन समाज आपसी फूट अंधक्रिया रुचि व अंध विश्वास के कारण अपनी संस्कृति को खो रहा है यह सब आपको संभालना होगा । आपसे समाज की यह मांग है कि आप अपने साधु समाज के झगड़ों को सुलझाकर नए संघटित समाज की रचना कर जैन शासन का सितारा ऊंचा चमकावें ।

हे गुरुवर्य्य आप अपना असली कर्त्तव्य बजाइये । हे क्षमाश्रमण ! आप सबसे कटु शब्दों के लिए अंतकरण से क्षमा मांगता हूं, किसी की निंदा नहीं करना चाहता हूं । किसी न किसी तरह से शासन की उन्नति हो, सबको मोक्ष की प्राप्ति हो, धर्म की जय हो इसी से तीव्र शब्दों का प्रयोग किया है, अतः क्षमा करें ।

इति त्रयोदशो यतिशिक्षोपदेशाधिकारः

अथ चतुर्दशो

मिथ्यात्वादिनिरोधाधिकारः

तेरहवें अधिकार का मुख्य उद्देश्य साधु के लिए उपदेश का था। साधु प्रायः देशविरतिधर श्रावक वर्ग में से बनता है, उसे मन, वचन, काया के योग पर अंकुश, इंद्रियों का दमन और मिथ्यात्व आदि बंध हेतु का त्याग करने का उपदेश यहां दिया गया है। ग्रंथकर्ता इसके लिए लिखते हैं कि, "अथ सामान्यतो यतीन् विशेषतो धर्म गृहिणश्चाश्रित्य मिथ्यात्वादि संवरोपदेशः" अतः यह उपदेश यति के लिए सामान्य है और देश विरतिधर गृहस्थ को भी उद्देश में रखकर लिखा गया है। इसके अधिकारी को योग्य विवेचन नीचे मालूम पड़ेगा।

बंध के हेतु का संवर कर

मिथ्यात्वयोगाविरतिप्रमादान्, आत्मन् सदा संवृणु सौख्यमिच्छन्।
असंवृता यद्भवतापमेते, सुसंवृता मुवितरमां च दद्युः ॥ १ ॥

अर्थ—हे चेतन ! यदि तू सुख की इच्छा रखता है तो मिथ्यात्व योग, अविरति और प्रमाद का संवर कर। यदि उनका संवर न किया जाय तो वे संसार का संताप देते हैं,

परन्तु यदि उनका अच्छी तरह संवर किया जाय तो वे मोक्ष लक्ष्मी देते हैं ॥ १ । उपजाति

विवेचन—मिथ्यात्व दो प्रकार का है—लौकिक और लोकोत्तर। इन दोनों के भी दो दो भेद हैं—देवगत और गुरुगत ।

(१) लौकिक देवगत मिथ्यात्व—अन्य धर्मों के द्वारा स्वीकार किए गए हरि हर ब्रह्मा आदि स्त्री या शस्त्र धारक देवों को देव मानना और उनको पूजा करना ।

(२) लौकिक गुरुगत—ब्राह्मण, संन्यासी आदि मिथ्योपदेशी आरंभ परिग्रह वाले को गुरु मानना, नमस्कार करना उनका उपदेश सुनना, आदर करना ।

(३) लोकोत्तर देवगत—केशरियाजी, पार्श्वनाथजी, मल्लिनाथजी—आदि की मानता करना । इस लोक संबंधो सुख, धन, पुत्र आदि के लिए पूजा करना ।

(४) लोकोतर गुरुगत—तेरहवें अधिकार में जैनाभास तरीके गिने गए गोरजी, यति, श्रीपूज्य, पासथ्या, कुशीलिया आदि कुगुरु की सेवा गुरु मानकर करना ।

अथवा मिथ्यात्व पांच प्रकार का है । १. आभिग्रहिक २. अनाभिग्रहिक, ३. आभिनिवेशिक, ४. सांशयिक, ५. अनाभोगिक ।

(१) आभिग्रहिक—कल्पित शास्त्र पर ममत्व रखना, परपक्षपर कदाग्रह करना । हरिभद्रसूरि जैसे भी कहते हैं

कि, "मुझे वीर प्रभु की तरफ पक्षपात नहीं है, कपिल पर द्वेष नहीं है, जिसका वचन युक्तिमान होगा उसी को आदर ना है।" गीतार्थ पर निष्ठा रखना और गुणवान का आधिपत्य स्वीकारना, (परतंत्रपणा मानना इसमें) दोष नहीं है, कारण कि सभी जीवों का बुद्धि वैभव विशाल नहीं होती है। सभी की बुद्धि तत्व को पहचानने में समर्थ नहीं होती है अतः गीतार्थ पर श्रद्धा रखना।

(२) अनाभिग्राहिक—सभी देव वंदनीय हैं, कोई निंदनीय नहीं है, एवं सभी गुरु और सभी धर्म अच्छे हैं, ऐसी सामान्यवाणी बोलना, तथा आलस्य करके बैठे रहना और सत्य की परीक्षा न करने की वृत्ति रखना, दूसरा मिथ्यात्व है। इसमें सोना और पीतल हीरा और कांच दोनों समान गिने जाते हैं यही मिथ्याभाव है।

(३) आभिनिवेशिक—धर्म का यथार्थ स्वरूप समझते हुए भी किसी प्रकार के दुराग्रह के कारण विपरीत प्ररूपणा करना। अहंकार से नया मत स्थापित करने या चलाने के लिए एवं वंदना नमस्कार आदि प्राप्त करने के लिए बहुत से दूर्भवी जीव इस प्रकार के मिथ्यात्व का सेवन करते हैं।

(४) सांशयिक—शुद्ध देव, गुरु या धर्म सच्चे होंगे कि झूठे ऐसी शंका करना। सूक्ष्म अर्थ का संशय तो साधु को भी होता है परंतु वे तो इस अंतिम निर्णय पर रहते हैं कि तत्त्व तो केवली गम्य है, अतः यह मिथ्यात्त्व रूप नहीं हैं वरन सच्चे समाधान जानने की इच्छा रूप है। देव आदि

तत्व के लिए शंका करना सांशयिक मिथ्यात्व है. उसके स्वरूप के लिए शंका करना शंका है। उसे जानने की इच्छा और उसके कार्यभूत होने वाला प्रश्न आशंका कहलाता है।

(५) अनाभोगिक–विचार शून्य एकेंद्रिय जीव को अथवा विशेष ज्ञान रहित जीवों को यह मिथ्यात्व होता है।

जो जो कर्मबंध होता है उसके उदय समय प्राप्त होने पर उसको भुगतना पड़ता है। इस बंध के हेतु चार हैं, मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। इसके ५७ भेद हैं। इन सत्तावन बंध हेतुओं को समझने की पूरी आवश्यकता है। इन चार हेतुओं में से मिथ्यात्व के पांच भेद ऊपर कहे जा चुके हैं अब अन्य तीन हेतुओं को कहते हैं।

बारह अविरति–पांच इन्द्रिय और मन का संवर न करना तथा छः काय जीवों का वध करना यह बारह प्रकार की अविरति कर्मबंध के हेतुभूत है।

कषाय–संसार का लाभ। इसके २५ भेद हैं। इस पर विषय कषाय द्वार में पर्याप्त लिखा गया है। क्रोध, मान, माया, लोभ, इनमें से प्रत्येक के चार चार भेद हैं। उत्कृष्ट पंद्रह दिन तक रहे और देव गति प्राप्त करावे वह 'संज्वलन'। उत्कृष्ट चार मास तक रहे और मनुष्य गति प्राप्त करावे वह 'प्रत्याख्यानावरण'। उत्कृष्ण एक वर्ष तक रहे और तिर्यंचगति प्राप्त करावे वह अप्रत्याख्यानी और उत्कृष्ट जीवन पर्यंत रहे और नरकगति प्राप्त करावे वह 'अनंतानुबंधी'। यह अनुक्रम से यथाख्यात चारित्र, सर्व विरति, देश विरति

और समकित गुणों को प्राप्त नहीं होने देते हैं। यह सोलह भेद हुए। इसमें हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा तथा स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुंसक वेद ये नौ नोकषाय मिलाने से कुल २५ भेद हुए। ये कर्मबंध के प्रबल हेतु हैं। योग पंद्रह हैं:—मनयोग के चार भेद हैं।

(१) सत्य मनोयोग—सच्चे विचार करना।

(२) असत्य मनोयोग—झूठे विचार करना।

(३) मिश्र मनोयोग—जिस विचार में कुछ बात सच्ची और बाकी झूठी हो।

(४) असत्यामृषा मनोयोग—सामान्य विचार, झूठे या बुरे के भेद बिना के विचार। व्यवहारिक विचार जैसे कि घड़ा झरता है, पर्वत जलता है, नदी बहती है।

वचन योग के चार भेद हैं—सत्य वचन योग, असत्य वचन योग, मिश्र वचन योग और असत्यामृषा वचन योग। काय योग के ७ भेद हैं :—

(१) तैजस कार्मण काय—जब जीव एक गति से दूसरी गति को जाता है तब उसके अनादिकाल से साथ रहने वाले भव मूल के नाम से प्रसिद्ध दोनों शरीर (तैजस और कार्मण) साथ रहते हैं। तैजस के कारण वह भावी भव में आहार लेकर उसे पचाकर शरीर रूप से बना सकता है और कार्मण से नयी नयी अवस्थाएं पाने के साथ नए कर्म पुद्गल ग्रहण कर सकता है।

(२) औदारिक मिश्र—पिछले भव से जीव अपने साथ तैजस कार्मण लाता है और वह औदारिक शरीर की यद्यपि शुरूआत की है तथापि निष्पत्ति नहीं हुई है तो वह औदारिक मिश्र कहलाता है।

(३) औदारिक—जिस शरीर के पुद्गल स्थूल एवं प्रायः अस्थि, मांस रुधिर और चरबीमय होते हैं वह औदारिक शरीर है।

(४) वैक्रियमिश्र—दृश्य होकर अदृश्य होना, भूचर होकर खेचर होना, बड़ा होकर छोटा होना, ऐसी अनेक तरह की क्रियाएं करने वाला सात धातुओं रहित शरीर ही वैक्रिय शरीर है। उसकी शुरूआत होकर भी समाप्ति न हुई हो वहां तक वैक्रिय मिश्र है।

(५) वैक्रिय—ऊपर कहा हुवा शरीर जब पूर्ण हो जाता है तब वैक्रिय कहलाता है।

(६) आहारकमिश्र—चौदह पूर्व को जानने वाले महापुरुष, किसी सूक्ष्म शंका को निवारण करने के लिए केवली महाराज के पास भेजने के लिए जो शरीर रचते हैं उसकी समाप्ति पहले की अवस्था (वह शरीर केवल ज्योतिः स्वरूप होता है)।

(७) आहारक—ऊपर कहे हुए शरीर की संपूर्ण अवस्था।

इन ऊपर बताए हुए सात प्रकार के शरीरों में से जीव का जिस संबंधी प्रयत्न हो उसे उस नाम का योग समझना जैसे हम अभी औदारिक और तैजस कार्मण के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। तैजस और कार्मण दोनों सदा साथ रहने वाले

हैं अतः शरीर के रूप में दोनों को भिन्न भिन्न गिनना और योग के रूप में एकत्रित कर एक ही गिना है। एक के साथ दूसरा रहता ही है।

इन सत्तावन बंध हेतुओं का संवर किया हो तो कर्मबंध की प्रणाली बंध होती और पहले के बंधे हुए कर्मों के क्षय हो जाने पर जीव स्वतंत्र अनवधि सुख प्राप्त करता है। इस अधिकार में योग निरोध इंद्रिय दमन पर विशेष लिखा जावेगा।

मनोनिग्रह—तंदुलमत्स्य

मनः संवृणु हे विद्वन्नसंवृतमना यतः।
याति तंदुलमत्स्यो द्राक्, सप्तमीं नरकावनीम् ॥ २ ॥

अर्थ—हे विद्वान! मन का संवर कर; कारण कि तंदुलमत्स्य मन का संवर नहीं करने से तुरंत ही सातवें नरक में जाता है ॥ २ ॥ अनुष्टुप

मन को चाहे जहां भटकने देने से बहुत कर्मबंध होते हैं। इसको स्वछंद छोड़ने से यह अनेक तरह के विचार करता रहता है और समायिक जैसी क्रिया करते हुए और उसमें ध्यान करते हुए भी वह कहीं का कहीं पहुंच जाता है परिणामतः जीव को अनेक आपत्तियों में डालता है और कुगति की तरफ खींचता है। मगरमच्छ की पलकों में रहने वाली चांवल जितनी सी छोटी मच्छी मगरमच्छ के मुंह में से पानी के साथ निकल जाने वाली छोटी छोटी मछलियों के लिए सोचती है, "कि यदि मगरमच्छ की जगह मैं होती तो

एक भी मछली को दांतों के छेद में से निकलने न देती सबको हड़प कर जाती"। सोचने की बात है कि इसका शरीर चावल जितना है अतः भोजन कितना थोड़ा चाहिए परन्तु लालसा व वैर वृत्ति कितनी ! इसीके परिणाम से वह मरते ही सातवीं नरक मे ३३ सागरोपम का आयुष्य लेकर जाती है। उसका जन्म पलकों में होता है, यह गर्भज जीव होने से मन वाली होती है व इसका अन्तर्मुहूर्त का आयुष्य होता है। इतने कम काल जीवित रहकर दुर्भावना से वह कितना बड़ा नारकी का आयुष्य बांध लेती है ओह मन का संवर न करने से कितना भयंकर परिणाम होता है इसी तरह से जो मनुष्य एक गन्ने के लिए पूरा खेत जलाते हैं या थोड़े से दोष के लिए गांव को जलाने की भावना रखते हैं या दुर्भावना द्वारा किसी के लिए घात तक सोचते हैं उनकी भी यही दशा होती है।

मन का वेग—प्रसन्नचंद्र का दृष्टांत

प्रसन्नचंद्रराजर्षेर्मनःप्रसरसंवरौ ।
नरकस्य शिवस्यापि, हेतुभूतौ क्षणादपि ।। ३ ।।

अर्थ—क्षण भर में प्रसन्नचंद्र राजर्षि को मन की प्रवृत्ति और निवृत्ति अनुक्रम से नरक और मोक्ष का कारण हुई ।। ३ ।। अनुष्टुप

विवेचन—प्रसन्नचंद्र नामक राजा वैराग्यवासित होकर एक स्थान में ध्यानारूढ़ खड़े थे पास में होकर श्रेणिक राजा

की सेना उनके पुत्र के दुःख संबंधी युद्ध की बात करती हुई निकली जिसे सुनकर उनका मन विचलित हो गया और ध्यान मुद्रा में खड़े खड़े वह मन से पुत्र की रक्षा के लिए शत्रुओं से युद्ध करने लगे। इधर श्रेणिक राजा महावीर प्रभु के पास पहुंचकर प्रसन्नचंद्र के बारे में पूछते हैं तो प्रभु कहते हैं कि यदि वह तपस्वी अभी काल करे तो सातवीं नरक में जाय। थोड़ी देर बाद राजा के फिर पूछने पर प्रभु ने कहा कि अनुत्तर विमान में देव हो, इतने में देव दुंदुंभी बजी और राजा ने प्रभु से उसका कारण पूछा तो प्रभु ने कहा कि प्रसन्नचंद्र राजर्षि को केवल ज्ञान हो गया है। राजा श्रेणिक को बहुत आश्चर्य हुवा तब वीर प्रभु ने कहा कि उस तपस्वी का मन जब वैर वृत्ति रख रहा था तब नरकगामी था पश्चात पश्चाताप करता हुवा स्थिति स्थापक हुवा और शुक्ल ध्यान ध्याने से उसे तुरंत केवल ज्ञान हुवा। इस तरह से मन की प्रवृति नरक का और मन को निवृत्ति मोक्ष का कारण बनी।

मन की अप्रवृत्ति—स्थिरता

मनोऽप्रवृत्तिमात्रेण, ध्यानं नैकेंद्रियादिषु।
धर्म्यशुक्लमनःस्थैर्यभाजस्तु ध्यायिनः स्तुमः ॥ ४ ॥

अर्थ—मन की प्रवृत्ति न करने मात्र से ही ध्यान नहीं होता है, जैसे कि एकेन्द्रिय आदि में (उनके मन न होने से मन की प्रवृत्ति नहीं होती)। जो ध्यान करने वाले प्राणी धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान के कारण मन की स्थिरता के भाजन होते हैं उनकी हम स्तुति करते हैं ॥४॥ अनुष्टुप

विवेचन—श्री अध्यात्मोपनिषद (योगशास्त्र) के पांचवें प्रकाश में अनुभवी योगी श्रीमान हेमचंद्रसूरिजी ने कहा है कि पवनरोध (श्वास को रोकना) आदि कारणों से प्राणायाम का स्वरूप अन्य दर्शनकारों ने जो बताया है वह बहुत उपयोगी नहीं है। वह तो काल ज्ञान और आरोग्य के लिए जानने योग्य है किरण कि इसमें मन की प्रवृत्ति ही नहीं होती अतः मन की प्रवृत्ति न करना तो मन का नाश करना है। एकेंद्रिय और विकलेंद्रिय के तो मन होता ही नहीं है परंतु इससे उनको लाभ नहीं होता है। मन को उपयोग में लाने के लिए उसमें स्थिरता प्राप्त करने की आवश्यकता है। मन की प्रवृत्ति के प्रवाह को रोकने में लाभ नहीं है परन्तु उसे सद् ध्यान में प्रेरित करना, उसी में रमण करना, उसी के संबंध में प्रेरणा द्वारा स्थिरता प्राप्त करना उपयुक्त है, "हठ योग" कम लाभदायक है ऐसा जैन धर्म का मत है। काय योग पर इससे थोड़ा नियंत्रण होता है परंतु मन की गति (बंधारण) समझकर उसे सद्ध्यान में जोड़ देना ही सर्वत्र अनुसरणीय है। मन के रोकने की भी आवश्यकता है परन्तु वह (साधक को) अवस्था पर है। ध्येय चार तरह के हैं पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत।

पिंडस्थ की पांच धारणा है :—पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी और तत्रम्।

पदस्थ—नवकार आदि।

रुपस्थ—जिनेश्वर देव की मूर्ति।

रूपातीत—शुद्ध स्वरूप, अखण्ड आनंद, चिद्घनानंदरूप, परमात्म भाव प्रकाश।

इस ध्येय में मन को लगा देना, यह ध्यान है और ऐसा करके मन की स्थिरता लाना यह योग का मुख्य अंग है। जैन शास्त्रकार ध्यान का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि—"रागाइ विउट्टणसहं झाणम्" अर्थात रागादि को नष्ट करने में जो समर्थ हो वह ध्यान है। ध्यान चार प्रकार का है उसमें आर्त्त और रौद्र ये दो दुर्ध्यान हैं तथा धर्म और शुक्ल ये शुभ ध्यान हैं, इनका स्वरूप बहुत सूक्ष्म है। इनके चार चार भेद हैं धर्म ध्यान के चार भेदों में से पहला—"आज्ञा-विचय ध्यान" है सर्वज्ञ के वचनों में परस्पर विरोध नहीं है ऐसा समझकर उसका चिंतन करना, इसकी खूबी समझना यह प्रथम धर्म ध्यान है। इससे "अपाय विचय ध्यान" में—राग द्वेष कषाय प्रमाद किस किस तरह के दुःख उत्पन्न करते हैं यह विचारना और पाप कर्मों से पीछे हटना, यह धर्म ध्यान का दूसरा भेद है। तीसरा भेद "विपाक विचय" ध्यान है। कर्म का बंध और उदय विचारना उसका शासन, तीर्थंकर चक्रवर्ती जैसों पर भी है, उसकी चलती हुई शक्ति और जगत का व्यवहार कर्म विपाक से ही चलता है इस संबंध में विचार करना, धर्म ध्यान का तीसरा भेद है। अंतिम, "संस्थान विचय ध्यान" है। इसमें लोक का स्वरूप विचारना है। चौदह राजलोक, उत्पत्ति स्थिति और नाशवाले जीव, अजीव आदि छः द्रव्य युक्त लोकाकृति का चिंतन करना। इसी प्रकार से शुक्ल ध्यान के भी चार भेद हैं

(प्रथकत्व वितर्क सविचार, एकत्व वितर्क सविचार, एकत्व वितर्क अविचार, सूक्ष्मक्रिय और उच्छिन्नक्रिय) इस ध्यान का विषय अधिक सूक्ष्म है। इसका ज्ञान योग शास्त्र से जानें। तात्पर्य यह है कि ऐसे धर्म और शुक्ल ध्यान में मन को लगा कर स्थिरता प्राप्त करने से महालाभ होता है।

चित्त की स्थिरता प्राप्त करने का उपाय यह है कि मन को निरंतर सुध्यान में प्रेरित करना। उक्त ध्यान से प्राणी को इन्द्रियों से अगोचर आत्मसंवेद्य सुख प्राप्त होता है।

सुनियंत्रित मनवाले पवित्र महात्मा

सार्थं निरर्थकं वा यन्मनः सुध्यानयंत्रितम्।
विरतं दुर्विकल्पेभ्यः पारगांस्तान् स्तुवे यतीन्॥ ५॥

अर्थ—सार्थकता से अथवा निष्फल परिणाम वाले प्रयत्नों से भी जिनका मन सुध्यान की तरफ लगा रहता है और जो खराब विकल्पों से दूर रहते हैं वैसे—संसार से पार पाए हुए यतिओं की हम स्तुति करते हैं॥ ५॥ अनुष्टुप

विवेचन—"सार्थ" अर्थात शुभ परिणाम वाला कार्य, ऐसे ही हेतु से परिणाम (फल) के लिए बहुत चिंता न रखने का शास्त्र में कथन है। "भवन्ति भूरिभिर्भाग्यैर्धर्मकर्म मनोरथाः। फलन्ति यत्पुनस्ते तु तत्सुवर्णस्य सौरभम्"। अर्थात धर्म कार्य करने के मनोरथ ही महाभाग्य से होते हैं और यदि वे शुभ फल दें तो सोने में सुगंध जैसा समझना।

मन पर नियंत्रण न होने से वह अस्तव्यस्त होकर झोंका खाता रहता है अतः उस पर अंकुश रखकर आर्त रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्म-शुक्ल ध्यान ध्याना चाहिए।

वचन अप्रवृत्ति—निरवद्य वचन

वचोऽप्रवृत्तिमात्रेण, मौनं के के न बिभ्रति।
निरवद्यं वचो येषां, वचोगुप्तांस्तु तान् स्तुवे ॥ ६ ॥

अर्थ—वचन की अ प्रवृत्ति मात्र से कौन कौन मौन धारण नहीं करते हैं ? परन्तु हम तो उनकी प्रशंसा करते हैं जो वचन गुप्ति वाले प्राणी निरवद्य वचन बोलते हैं ॥ ६ ॥

अनुष्टुप

विवेचन—कई कारणों से वचन की प्रवृत्ति होती ही नहीं है अर्थात बोला ही नहीं जाता है। एकेंद्रिय वाले प्राणियों (पृथ्वी, जल हवा, अग्नि, वनस्पति के जीव) के तो जीभ होती ही नहीं है। दो इन्द्रिय से पंचेंद्रिय तक के तिर्यंच प्राणी (पशु-पक्षी) स्पष्ट नहीं बोल सकते हैं। कई मनुष्य भी रोग, क्षोभ, अथा गूंगेपन से नहीं बोल सकते हैं अतः बलात मौन रहते हैं, परन्तु ऐसे मौन से कुछ भी लाभ नहीं होता है। बोलने की शक्ति होते हुए भी निरवद्य (निष्पाप) वचन बोलनें में ही खूबी है। वचन गुप्ति धारण की हो, भाषा पर अंकुश हो और बोले तब सत्य प्रिय, मित् और पथ्य वचन ही बोले वही निरवद्य वचन कहलाता है, जैसे कि अशक्त होने पर साधु होना कोई आश्चर्य नहीं है। शक्ति होते हुए

बिना कारण न बोलना, गंभीरता रखना एवं बोलते समय भी विचार करके, प्रमाण सहित और आवश्यकता हो उतना ही बोलना यही वाणी का संयम कहलाता है।

निरवद्य वचन—वसु राजा

निरवद्यं वचो ब्रूहि, सावद्यवचनैर्यतः।
प्रयाता नरकं घोरं, वसुराजा दयोद्रुतम् ॥ ७ ॥

अर्थ—तू निरवद्य (निष्पाप) वचन बोल, कारण कि सावद्य वचन बोलने से वसु राजा एक दम घोर नरक में गए हैं ॥ ७ ॥ अनुष्टुप्

विवेचन—तू निरवद्य (निष्पाप) वचन बोल, निरवद्य का अर्थ सत्य, प्रिय और प्रमाणित बोलना होता है, वचन सत्य के साथ ही प्रिय भी होना चाहिए, हितकर होना चाहिए। एवं सर्वांश से सत्य होना चाहिए। "नरो वा कुंजरो वा" की तरह से सुनने वाले को भ्रम में डालने वाला नहीं होना चाहिए इतने से भ्रामक वचन से धर्मराज युधिष्ठिर भी धर्म से भ्रष्ट हुए कहलाए। सावद्य वचन बोलने से भाषा पर अंकुश नहीं रहता है, दूसरों पर वजन नहीं पड़ता है बात का असर नहीं होता है, एवं मन में क्षोभ रहता है, तथा स्वयं की कीमत घटती है, लोग वाचाल कहकर वक्ता की बात की परवाह नहीं करते हैं। सावद्य वचन बोलने से वसु राजा जिसका सिंहासन स्फटिक रत्न से बने होने के कारण जमीन से ऊंचा रहता दिखता था केवल वचनबद्ध होकर अपने

सहपाठी व गुरूपुत्र, पर्वत के बचाव के लिए अपने दूसरे सहपाठी नारद के समक्ष जानते हुए भी "अज" शब्द का अर्थ शालि (छिलके सहित चावल-साल) के बजाय "बकरा" कहता है, इतने मात्र से देव उसको सिंहासन से नीचे डाल देते हैं और वह तुरत मरकर नरक में जाता है, अतः सत्य बोलना, संपूर्ण सत्य बोलना और सत्य के अतिरिक्त कुछ न बोलना उत्तम है।

दुर्वचन के भयंकर परिणाम

इहामुत्र च वैराय, दुर्वाचो नरकाय च।
अग्निदग्धाः प्ररोहन्ति, दुर्वाग्दग्धाः पुनर्न हि ॥ ८ ॥

अर्थ—दुष्ट वचन, इस लोक में वैर कराते हैं और परलोक में नरक देते हैं। अग्नि से जले हुए तो पुनः अंकुरित हो जाते हैं परन्तु दुर्वचन से जले हुए पुनः स्नेहांकुरित नहीं होते ॥ ८ ॥ अनुष्टुप्

विवेचन—दुर्वचन, कटुभाषन, एवं मर्मान्तिक वचन से इस लोक में पारस्परिक वैर बढ़ता है और मरने के बाद नरक की प्राप्ति होती है। प्रायः अपने स्वजन (भाई, बहिन, पिता, माता, पत्नि व पुत्र आदि) के साथ रहते हुए या सांसारिक प्रशंग आने पर व्यवहार चलाने के लिए या विवाह आदि प्रसंग के अवसर पर सबके एकत्रित होने पर या गृहस्थी के बटवारा पर भाई भाई में या अन्य कारण से

भी ऐसे ही मार्मिक वचनों का प्रयोग कभी कभी हो जाता है अतः उस समय कम से कम बोलने की पूरी आवश्यकता है।

तिर्थंकर महाराज और वचन गुप्ति की आदेयता

अत एव जिना दीक्षाकालादाकेवलोद्भवम्।
अवद्यादिभिया ब्रूयु र्ज्ञानत्रयभृतोऽपि न ॥ ६ ॥

अर्थ—इसी कारण से जिन, (तीर्थंकर) तीन ज्ञान के धारक होते हुए भी दीक्षा काल से लेकर केवल ज्ञान की प्राप्ति तक पाप के डर से कुछ भी नहीं बोलते हैं ॥ ६ ॥

अनुष्टुप्

विवेचन—सावद्य वचन बोलने का अनिष्ट फल होता है इसी कारण से जिनेश्वर देव भी छद्मस्थ अवस्था में अर्थात् गृहस्थाश्रम छोड़कर साधुपन स्वीकार करके केवल ज्ञान होने के पूर्व की अवस्था तक मौन धारण कर लेते हैं। इस समय में उनको अनेक उपसर्ग (कष्ट) आते हैं फिर भी अपने बचाव के लिए एक शब्द भी नहीं बोलते, आत्मध्यान करते हुए उन्हें कितनी ही सिद्धियां उत्तरोत्तर प्राप्त होती हैं लेकिन एक भी सिद्धि को प्रयोग न करते हुए वे एकदम मौन रहते हैं, वैसी अवस्था में भी उनको पाप का डर रहता है। अतः जो प्रतिदिन सांसारिक चर्चा करते रहते हैं, अनुमान से परिणाम की घोषणा करते रहते हैं, किसी के लिए कुछ का कुछ अन्दाज लगाते हैं उनका क्या होगा? अतः सावद्य वचन का त्याग करना चाहिए एवं निर्थक बोलकर कर्म बंध नहीं करना चाहिए। बड़े बड़े

ज्ञानी भी सिद्धि के लिए मौन धारण करते हैं अतः हमें भी उनका अनुकरण करना चाहिए।

काय संवर—कछुए का दृष्टांत

कृपया संवृणु स्वांगं कूर्मज्ञातनिदर्शनात्।
संवृतासंवृतांगा यत् सुखदुःखान्यवाप्नुयुः॥ १०॥

अर्थ—तू अपने स्वयं पर कृपा करके संवर कर। कछुओं के दृष्टांत से शरीर का संवर करने वाले और नहीं करने वाले कछुए ने क्रमशः सुख और दुःख पाया है। (इससे शिक्षा ले) ॥ १० ॥ अनुष्टुप्

विवेचन—मन और वचन की तरह से शरीर को भी वश में रखना आवश्यक है। काया की सावद्य प्रवृत्ति अनंत संसार बढ़ाने वाली है अतः काया की तमाम प्रवृत्तियां शुभ हेतु से ही करनी चाहिए। जब तक आत्मा का नियंत्रण मन-वचन-काया तीनों पर नहीं होगा तब तक आधि-व्याधि-उपाधि मिट नहीं सकेंगी। जब तक पूरे शरीर की प्रवृत्तियां आत्मसाक्षी से न होंगी तब तक कर्म बंध की प्रणाली रुक नहीं सकेंगी। जो शरीर से अनेक तरह की हलचलें अनियंत्रित रीति से करते रहते हैं उनको पूरी हानि उठानी पड़ती है। एक जंगल में दो कछुओं पर किसी हिंसक पशु की नजर पड़ी और वह उन पर झपटा। उन दोनों ने अपने अंगों को संकुचित कर लिया और वहीं स्थिर हो गए। कुछ समय के पश्चात् एक कछुए ने घबरा कर जैसे ही अपने पैर व गर्दन

बाहर निकाले कि तत्काल उस पशु ने उसे मार दिया, परंतु जो कछुआ चुपचाप पड़ा रहा उसको कोई दुःख नहीं हुआ। शरीर के संवर का लाभ स्वयं को ही मिलता है अतः हे प्राणी तू स्वयं अपने पर दया करके शरीर का संवर कर। सूरजसांढ़ या अमरिये बकरे की तरह भटकता हुआ इधर उधर घूमकर कर्मों को मार न खा।

काया की अप्रवृत्ति—काया का शुभ व्यापार

कायस्तंभान्न के के स्युस्तरुस्तंभादयो यताः।
शिवहेतुक्रियो येषां, कायस्तांतु स्तुवे यतीन्॥ ११॥

अर्थ—मात्र काया के संवर से वृक्ष, स्तंभ आदि कौन कौन संयमी नहीं है? परन्तु जिनका शरीर मोक्ष पाने के लिए क्रिया करने में उद्यत रहता है, वैसे यति की हम स्तुति करते हैं॥ ११॥ अनुष्टुप्

विवेचन—शरीर को जबरदस्ती से एक स्थान पर बिठाए रखना या उससे कोई काम न लेना संवर नहीं कहलाता है, ऐसे तो वृक्ष और थंभे भी एक ही स्थान पर टिके रहते हैं, परन्तु जो शरीर से स्व-पर के हित साधन के काम करते हैं मोक्ष साधन की शुभ क्रियाओं का अनुष्ठान करते हैं वे ही संवर करते हैं अतः वे स्तुति के पात्र हैं। इस शरीर से अनेक तरह के काम—धनोपार्जन, स्वरंजन, परभंजन परपीड़न होते हैं परंतु सार्थक तो वहीं हैं जो आत्मा को वास्तविक शाँति देने वाले हैं, अतः शरीर पर शुभ नियंत्रण करना चाहिए।

श्रोत्रेन्द्रिय संवर

श्रुतिसंयममात्रेण, शब्दान् कान् के त्यजन्ति न ।
इष्टानिष्टेषु चैतेषु, रागद्वेषौ त्यजन्मुनिः ॥ १२ ॥

अर्थ—कान के संयम मात्र से कौन शब्दों को नहीं त्यागते हैं, परन्तु इष्ट और अनिष्ट शब्दों पर राग द्वेष छोड़ देने वाले को ही मुनि कहते हैं ॥ १२ ॥ **अनुष्टुप**

विवेचन—एकेंद्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के जीवों के कान नहीं होते हैं एवं बहरे मनुष्य भी सुन नहीं सकते हैं तथा कानों में ऊंगली डालने या रूई लगाने से भी सुना नहीं जा सकता है परन्तु यह श्रोत्रेन्द्रिय का संयम नहीं कहलाता है। धन्य तो वह है जो मधुर राग रागिनी या पियानो आदि के शब्दों में राग नहीं करता है, एवं काक गर्दभ आदि के कर्कश शब्दों पर द्वेष नहीं करता है, दोनों में समान भाव रखता है। जो अपनी प्रशंसा के शब्दों पर मुग्ध नहीं होता है एवं निंदा के शब्दों पर द्वेष नहीं करता है, वही सच्चा मुनि है। इन्द्रिय पराजय शतक में लिखा है, "जीवन को अशाश्वत जानकर, मोक्षमार्ग के सुख को शाश्वत जानकर और आयुष्य को परिमित जानकर इन्द्रिय भोग से विशेष बचना चाहिए। "मृग और सर्प श्रोतेंद्रिय के असंयम से फंसते हैं।

चक्षुरिन्द्रिय संवर

चक्षुःसंयममात्रात्के, रूपालोकांस्त्यजन्ति न ।
इष्टानिष्टेषु चैतेषु, रागद्वेषौ त्यजन्मुनिः ॥ १३ ॥

अर्थ—मात्र चक्षु के संयम से कौन रूप अवलोकन नहीं त्यागते ? परन्तु इष्ट और अनिष्ट रूपों में जो रागद्वेष छोड़ देते हैं वही सच्चे मुनि हैं ।। १३ ।। **अनुष्टुप**

विवेचन—तेइन्द्रिय तक के सब जीव नेत्र रहित होते हैं एवं पंचेंन्द्रिय मनुष्य और तिर्यंच में भी कितने ही अंधे होते हैं परन्तु इस प्रकार के संयम से लाभ क्या ? अथवा आंखें मीच कर बैठे रहने से भी लाभ क्या ? परन्तु वास्तविक संयम तो वह है जब कि सुंदर स्त्री सामने होते हुए भी उसके अंगोपांग न देखें, तथा रोगी, कुष्ट व विकृत शरीर को देखते हुए भी घृणा न करें। कभी कभी ऐसा भी होता है कि गुरुजन या बड़ों के विनय से हम इच्छित वस्तु नहीं देख पाते हैं परन्तु मन तो वहीं जाता है ऐसा चक्षु संयम भी निरर्थक है। सच्चा चक्षु संवर तो यह है जैसा कि इन्द्रिय पराजय शतक में भी लिखा है, "उन्हीं पुरुषों को धन्य है, उन्हीं को हम नमस्कार करते हैं और उन्हीं संयमी के हम दास हैं जिनके हृदय में विकारी नेत्र से देखने वाली स्त्री नहीं खटकती हैं। इसी असंयम से पतंगिए दीपक में आकर गिरते हैं व मरते हैं।

घ्राणेन्द्रिय संवर

घ्राणसंयममात्रेण, गंधान् कान् के त्यजन्ति न ।
इष्टानिष्टेषु चैतेषु रागद्वेषौ त्यजन्मुनिः ।। १४ ।।

अर्थ—नासिका के संयम मात्र से कौन गंध को नहीं

त्यागता है ? परन्तु जो इष्ट और अनिष्ट गंधों के प्रति राग द्वेष छोड़ देते हैं वही मुनि हैं ।। १२ ।। अनुष्टुप

विवेचन—जिन जीवों के घ्राणेंद्रिय नहीं है वे तो मज़बूरन ही घ्राणेंद्रियसंयमी बन रहे हैं परन्तु जो मनुष्य अपनी इच्छा पूर्वक सुगंधयुक्त पदार्थों का सेवन नहीं करते हैं एवं उन सुगंधी पदार्थों की तरफ उनका राग नहीं है एवं दुर्गंधयुक्त पदार्थों की तरफ द्वेष नहीं है वे ही मुनि हैं। घ्राणेंद्रिय को वश में न रखकर भौंरा कमल में कैद हो जाता है और हाथी के मुख में पहुंच जाता है। सांसारिक पदार्थों से जो अलिप्त है वही धन्य है।

रसेन्द्रिय संवर

जिह्वासंयम मात्रेण, रसान् कान् के त्यजन्ति न ।
मनसा त्यज तानिष्टान्, यदीच्छसि तपःफलम् ।।१५।।

अर्थ—जीभ के संयम मात्र से कौन रसों को छोड़ते नहीं हैं ? यदि तू तप के फल पाने की इच्छा रखता हो तो सुंदर-मधुर लगने वाले रसों को छोड़ दे ।। १५ ।। अनुष्टुप

विवेचन—संसार का मोह प्रदर्शन कराने में सहायक यदि कोई है तो जीभ है। बड़े बड़े महमानों के लिए खाने की बड़ी तैयारी करनी पड़ती है जिससे ही उनके प्रति स्नेह प्रकट किया जाता है। हम कहीं महमान बन कर जावें और स्वादिष्ट भोजन या मिष्टान्न न बना हो तो कहते हैं उन्होंने

हमारे लिए कुछ भी नहीं किया, उनको मोह ही नहीं है। इस प्रकार से हम रसना इन्द्रिय को प्रसन्न रखने में तरह तरह के पाक-मेवे-मिठाई-चटनी आदि बनाते हैं और हमारा अधिक से अधिक समय व धन इसी काम में खर्च होता है साथ ही आरंभ सारंभ (जीव हिंसा) भी होता है। मीठे के कारण अनेक छोटे छोटे जीव जन्तु आकृष्ट होकर मर जाते हैं और हमारा नरक का मार्ग सरल करते हैं। रसना के वशीभूत होकर हम बेपरवाही से जंतुओं को निमंत्रित कर उनका घात करते हैं और अपनी कुगति निश्चित करते हैं।

जीभ वश में न रहने के कारण अनेक लड़ाई झगड़े होते हैं, मार्मिक शब्दों का प्रहार भी इसी से होता है एवं अशांति की जड़ भी यही है। मछली पकड़ने वाले कांटे के मुख पर आटे की गोलियां लगा देते हैं। भोली मछली आटा खाने के साथ ही उस कांटे में लटककर अपना प्राण खोती है। शास्त्रकार कहते हैं कि:—इन्द्रियों में रसेन्द्रिय, कर्मों में मोहनीय, व्रतों में ब्रह्मचर्य और गुप्ति में मनगुप्ति ये चारों सबसे अधिक कठिनता से जीते जा सकते हैं।

श्लोक—अरकाण रसणी कम्माण मोहणी तहचेव बंभवयम।
गुत्तीण यमणगुत्ती, चउरो दुक्खेहिं जिप्पति।

स्पर्शेन्द्रिय संयम

त्वचः संयममात्रेण, स्पर्शान् कान् के त्यजन्ति न।
मनसा त्यज तानिष्ठान् यदीच्छसि तपः फलम्॥ १६॥

अर्थ—चमड़ी के स्पर्श न करने मात्र से कौन स्पर्श का

त्याग नहीं करता है ? परन्तु यदि तुझे तप का फल पाना हो तो इष्ट स्पर्शों का मन से त्याग कर ॥ १६ ॥ अनुष्टुप्

विवेचन—संसार में भटकने वाली यही इन्द्रिय सबसे अधिक कष्टकर है। सुन्दर स्त्री या बालक के गाल का स्पर्श करने पर भी मन में राग न उत्पन्न हो और चमड़ी पर कोढ़ आदि होने पर अथवा मच्छर या बिच्छू के डंक लगने पर या सर्दी गर्मी के अनिष्ट स्पर्श से मन में द्वेष भाव न उत्पन्न हो यही स्पर्शेन्द्रिय का संयम है, बाकी सब तो निर्थक बाते हैं। हाथी को पकड़ने वाले पहले खड्ढा खोद कर उस पर घास बिछा देते हैं और उस घास पर कागज की हथिनी खड़ो कर देते हैं, वह काम लोलुपी हाथो स्पर्शेन्द्रिय की लिप्सा का मारा वहां जाता है उस खड्डे में गिरकर बंधन को पाता है। कामांधो नैव पश्यति। परस्त्रीगामी व वैश्यागामी लंपट पुरुषों की दुर्दशा के कई दृष्टांत शास्त्रों में वर्णित हैं।

गुह्येन्द्रिय—संयम

बस्तिसंयममात्रेण, ब्रह्म के के न बिभ्रते।
मनः संयमतो धेहि, धीर चेत्तत्फलार्थ्यसि ॥ १७ ॥

अर्थ—मूत्राशय के संयम मात्र से कौन कौन संयम धारण नहीं करते हैं ? हे धीर ! यदि तुझे ब्रह्मचर्य के फल की इच्छा हो तो मन का संयम करके ब्रह्मचर्य का धारण कर ॥ १७ ॥ अनुष्टुप

विवेचन—स्पर्शेन्द्रिय संयम के अनुसंधान में गुह्येंद्रिय

के संयम को एक अलग श्लोक में वर्णित किया है यह इन्द्रिय अलग नहीं है, स्पर्शेन्द्रिय ही है परन्तु इसका संयम सबसे कठिन होने से सबसे अधिक महत्व का भी है। शास्त्रकारों ने कहा है कि सुगंध लेते हुए, सुस्वर सुनते हुए, रूप देखते हुए और उत्तम पदार्थ खाते हुए यदि आत्मस्वरूप विचारा जाय और पौद्गलिक भाव का त्याग किया जाय तो कदाचित् केवल ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है परन्तु स्त्री संयोग या पुरुष संयोग करते हुए तो आत्मा को केवल ज्ञान हो ही नहीं सकता है। एकान्त दुर्ध्यान, सात धातु की एकत्रता, महाक्लिष्ट अध्यवसाय होने पर ही स्त्री सयोग होता है। गुह्येंद्रिय का जबरदस्ती संयम—ब्रह्मचर्य पालन नहीं कहलाता है यों तो एकेंद्रिय से असन्नि पंचेंद्रिय तक का जीव नपुंसक वेद में ही रहता है। कई पुरुष भी इच्छा से नपुंसक बनते हैं। नारकी के जीव तथा मनुष्यों द्वारा नपुंसक किए गए घोड़े या बैल भी तो जबरदस्ती से संयमी रहते हैं, इसका कोई महत्त्व नहीं है। महत्त्व व बलिहारी तो इसकी है कि एकांत हो, सुंदर स्त्री सम्मुख हो, वह स्वयं प्रार्थना भी करती हो, सब संयोग अनुकूल हों, धन व वैभव की कमी न हो उस वक्त संयम पाला जाय !! राजिमति, सुदर्शन सेठ व स्थूलिभद्र को इसीलिए धन्य माना गया है। इसका संयम न रहने से रावण ने पूरी लंका का नाश कराया, इलाची कुमार ने घरबार, माता पिता का त्याग कर नट का कार्य स्वीकार किया, धवल सेठ सातवीं मंजिल से गिरता हुवा अपनी ही कटारी से मारा गया। हाय ! शूरवीर मानव रण में लाखों योद्धाओं को

जीत सकता है लेकिन एक दुबली पतली नारी द्वारा पराजित होता है। इसीलिए सब तपों में ब्रह्मचर्य को सर्वश्रेष्ठ बताया है। इसका पालन तभी हो सकता है जब कि नौ वाड़ों से इसकी रक्षा हो जिनका उल्लेख यति शिक्षा के पाठ में चरण-सित्तरी में किया है। इस विषय के लिए "इन्द्रियपराजय शतक, शृंगार वैराग्य तरंगिणी, शीलोपदेशमाला आदि पुस्तकें पढ़ें।

समुदाय से पांचों इन्द्रियों का संवरोपदेश

विषयेंद्रियसंयोगाभावात्के न संयताः।
रागद्वेषमनोयोगाभावाद्यें तु स्तवीमि तान्॥ १८॥

अर्थ—विषय और इन्द्रियों के संयोग न होने से कौन संयम नहीं पालता है? परन्तु राग-द्वेष का योग जो मन के साथ नहीं होने देते हैं उन्हीं की मैं स्तुति करता हूं॥ १८॥

अनुष्टुप

विवेचन—मधुर स्वर, सुन्दर रूप, सुगंधी पुष्प, मीठा भोजन और सुकोमल स्त्री ये पाँच विषय हैं यदि ये इन्द्रियों को न मिलें तब तक तो जबरन संयम है ही, जैसे "वृद्धानारी पतिव्रता", परंतु जो इन सब विषयों के सुलभ होने पर भी इन्द्रियों को उनमें जाने से खींचते हैं, वही स्तुति के पात्र हैं। अच्छे लगने वाले विषयों में राग और बुरे लगने वाले विषयों में द्वेष जो नहीं करते हैं वही संयमी हैं। कोई वस्तु अच्छी है या बुरी इसका आधार मन पर है, मन जिस वस्तु को जैसी मान लेता हे वह वैसी ही प्रतीत होती है। संसार के विषयों

में भटकती हुई इन्द्रियों को मन के द्वारा वश में करके जो इन्हें आत्मिक शुद्ध प्रवाह में लगा देते हैं वही सच्चे महात्मा हैं और वे ही स्तुत्य हैं।

कषाय संवर—करट और उत्करट

कषायान् संवृणु प्राज्ञ, नरकं यदसंवरात्।
महातपस्विनोप्यापुः, करटोत्करटादयः॥ १९॥

अर्थ—हे बुद्धिमान! तू कषाय का संवर कर। उसका संवर न करने से करट और उत्करट जैसे महातपस्वी भी नरक को पाए हैं॥ १९॥ अनुष्टुप

विवेचन—हे विज्ञ! तू क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों का संवर कर, ये कषाय ही संसार को बढ़ाने वाले हैं एवं संसार में बार बार जन्म लेते हुए भी तुझे कहीं भी सुख से नहीं रहने देते, स्वयं तुझे ही पद पद पर दुख देते हैं। जिनके मन में अधिक कषाय हैं वे उतने ही भयंकर सर्पों के करंडियों को साथ लिए फिरते हैं। जैसे पूंगी बजी नहीं कि सांप फन फैलाकर बाहर निकला नहीं, वैसे ही प्रति दिन जब भी जरा सा संयोग क्रोध, मान, माया, लोभ का आया नहीं कि अंदर रहे हुए ये सांप बाहर निकले नहीं। अतः हे बुद्धिमान इन चारों सांपों को दूर जंगल में छोड़ आ और मन में जरा भी इनकी स्मृति न रहने दे। कुणाला नगरी में तपस्या करते हुए करट और उत्करट नामक दोनों मासियात भाई किले के नालदे में ध्यान कर रहे थे। बारिश

नजदीक आने पर शासनदेव ने उनके बह जाने के भय से कुणाला में बारिश न होने दी, बाकी सब जगह बारिश हुई। गांव के लोगों ने वरशा के अभाव का कारण इन दोनों को जानकर इन्हें खूब पीटा जिससे क्रोधित होकर उन्होंने कुणाला में १५ दिन तक निरंतर वारिश होने का श्राप दिया फलतः पूरा नगर बह गया और वे साधु मरकर ३२ सागरोपम तक सातवीं नरक में रहे।

क्रियावंत की शुभ योग में प्रवृत्ति होनी चाहिए जिसका कारण

यस्यास्ति किंचिन्नतपोयमादि, ब्रूयात्स यत्तत्तुदतां परान् वा।
यस्यास्ति कष्टाप्तमिदं तु किं न, तद्भ्रंशभीः संवृणुते स योगान् २०

अर्थ—जिसके तपस्या आदि कुछ भी नहीं है वह तो चाहे जैसा बोले, या दूसरों को कष्ट दे, परन्तु जिन्होंने महान कष्ट से तपस्यादि प्राप्त की है वे उसका नाश हो जाने के भय से योग का संवर क्यों नहीं करते हैं? इंद्रवज्रा

विवेचन—जैसे अति साधारण मनुष्य और प्रतिष्ठित नागरिक के बर्ताव, बोल और व्यवहार में अंतर है अर्थात सदा निरर्थक बोलने वाले, किसी को कुछ भी कह देने वाले साधारण मनुष्य को अपनी बात के निरर्थक जाने में या अपने कथन का कुछ भी असर न होने या अपमान के लिए खेद नहीं होता है परन्तु एक प्रतिष्ठित इज्जतदार व उच्चपदस्थ नागरिक को अपनी प्रतिष्ठा का डर रहता है, अपने वचन के निरर्थक होने का डर रहता है जब कि पहले को कोई डर नहीं है, दूसरा अपनी प्रतिष्ठा के भय से

सोचकर बोलता है, समझकर बरतता है । ठीक उसी तरह से अनंतकाल से मिथ्यात्व के प्रवाह में खींचा जाता हुवा वह प्राणी तो चाहे जैसे बोले, मन, वचन, काया के अशुभ योग से किसी को दुःख दे पीड़ा दे, उसके पास तो कुछ खोने जैसा है ही नहीं परन्तु जिसके पास तपस्यारूपी धन है, महान गुणोंरूपी रत्न की मंजूषा है वह उसके नाश के भय से योग (मन, वचन, काया) का संयम क्यों नहीं करता है ? पहला प्राणी जन्म से दुःखी है, उसे अपने दुःख का संताप नहीं है, भव में भटकता है, ठोकरें खाता है, उसके लिए उसे पश्चाताप नहीं है न उसे सत्कर्म करने की अभिलाषा है न सद्गति पाने की उत्कंठा है परंतु जो ज्ञानी है, जिसने सन्मार्ग का अनुसरण किया हे, तप संपादन किया है तो फिर उन सबके नाश के भय से वह योग संवर क्यों नहीं करता है ? क्रियावंत शुभमार्ग में अवश्य प्रवृत्ति करे ।

मन योग के संवर की मुख्यता

भवेत्समग्रेष्वपि संवरेषु, परं निदानं शिवसंपदां यः ।
त्यजन् कषायादिजदुर्विकल्पान्, कुर्यान्मनः संवरमिद्धधीस्तम् ।२१।

अर्थ—मोक्ष लक्ष्मी प्राप्त करने के बड़े से बड़े कारण रूप सर्व प्रकार के संवर में भी मन का संवर है, ऐसा जानकर समृद्धबुद्धि जीव कषाय से उत्पन्न हुए दुर्विकल्पों को छोड़कर मन का संवर करे ।। २१ ।। उपजाति

विवेचन—सच्चा सुख तो मोक्ष में ही है इसका जिसको

अनुभव हो गया है वैसा समृद्धबुद्धि जीव कषाय से उत्पन्न होने वाले दुर्विकल्पों का त्याग करे, यह तभी हो सकता है जब कि मन का पूरा संवर हो जाय। वास्तव में सुख और दुःख मन के साथ हैं। मन जिसमें सुख मान लेता है वह सुख बन जाता है और मन जिसको दुःख मान लेता है वह दुःख बन जाता है अतः मन को सुधारना नितांत आवश्यक है इसके सुधारे बिना कर्म की निर्जरा असंभव है अतः मन का संयम करना परम आवश्यक है।

निःसंगता और संवर उपसंहार

तदेवमात्मा कृतसंवरः स्यात्, निसंगताभाक् सततं सुखेन।
निःसंगभावादथ संवरस्तद्द्वयं शिवार्थी युगपद्भजेत् ॥२२॥

अर्थ—जिसने उक्त प्रकार से संवर किया है ऐसा आत्मा बिना प्रयास से निःसंगता का भाजन होता है, एवं निःसंगता भाव से ही संवर होता है अतः मोक्ष का अभिलाषी जीव इन दोनों को साथ ही भजे ॥ २२ ॥ उपजाति

विवेचन—जिसने मिथ्यात्व का त्याग किया हो, अविरति दूर की हो, कषाय को जीत लिए हों और योग का रुंधन (नियंत्रण) किया हो उसका स्वाभाविकतः ममत्व घटता जाता है। ममत्व घटा नहीं कि सांसारिक वासना का दृढ़ बंधन ढीला होना शुरू हुवा नहीं। वासना घटने से विषय के साथ एकाकार वृत्ति होती रुक जाती है। अंत में वासना भी नष्ट होती है और ममता भी नष्ट होती है, ये दोनों गईं कि मोह गया,

मोह गया तो भव भ्रमण गया और भव भ्रमण गया कि अव्याबाध मुक्ति सुख मिला समझो।

जैसे सर्दी से बचने वाला वाला प्राणी सर्वप्रथम बाहर से अपने मकान में प्रवेश करता है पश्चात उसके दरवाजे और खिड़कियां बंद करता है पश्चात कमरे के अंदर की ठण्डी हवा को गरम करने का उपाय करता है वैसे ही मोक्षार्थी प्राणी सर्व-प्रथम अपने घर में—आत्मदशा—में प्रवेश करे पश्चात कर्मों के आने के मार्गों मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग को रोके, तत्पश्चात, पूर्व के कर्मों को तप की गरमी से तपावे। इस तरह से संवर और निर्जरा करने से वह अपने सबसे सुखदायी, सदाकाल स्थिर रहने वाले सर्वोत्तम महल—मोक्ष में जा पहुंचेगा फिर उसे पुनर्जन्म रूप सर्दी नहीं लगेगी।

इस जन्म में धन, स्त्री, पुत्र, मकान आदि पाना दुर्लभ नहीं है, दुर्लभ तो है अपनी आत्मदशा का ज्ञान होना। वैसा होने पर भी अति कठिन है मन का नियंत्रण। हठ योग से मन का रुकना वैसा ही फलदायी है जैसा कि अति शक्तिमान चंचल घोड़े को बांध देना इससे श्रेष्ठ तो यह है कि इस घोड़े की शक्ति का सदुपयोग किया जाय। मन को रोकने की अपेक्षा उसकी अशुभ प्रवृत्ति को रोककर उसे शुभ प्रवृत्ति में लगाना श्रेष्ठ है। मन शुभ ध्यान में लगा नहीं कि ज्ञानोदय हुवा नहीं फिर मोक्ष दूर नहीं है।

इति चतुर्दशो मिथ्यात्वादिनिरोधधिकारः

अथ पंचदशः

शुभवृत्तिशिक्षोपदेशाधिकारः

इस अधिकार में वृत्ति—वर्तन—बताया है उसमें से अधिकतर साधु के योग्य हैं कुछ श्रावक के योग्य है। पाठक अपनी अपनी योग्यता के अनुसार उसका ग्रहण करें। यह अधिकार विशेषतः साधु के लिए लिखा गया है।

आवश्यक क्रिया करना

आवश्यकेष्वातनु यत्नमाप्तोदितेषु शुद्धेषु तमोऽपहेषु।
न हंत्यभुक्तं हि न चाप्यशुद्धं, वैद्योक्तमप्यौषधमामयान् यत् ॥१॥

अर्थ—आप्त पुरुषों के बताए हुए शुद्ध और पाप के हरने वाले आवश्यक (कार्य) करने में यत्न कर, कारण कि वैद्य का बताया हुवा औषध यदि खाया न होय अथवा (खाया होने पर भी यदि) अशुद्ध हो तो वह रोग का नाश नहीं कर सकता है ॥ १ ॥ उपजाति

विवेचन—वे क्रियाएं जो साधु व श्रावक को प्रतिदिन अवश्य करनी चाहिएं वे आवश्यक कहलाती हैं। उनके नाम हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिजिनस्तवन, वंदन, प्रतिक्रमण, क योत्सर्ग और पच्चखाण इन छः में से सामायिक, श्रावक

नियमित समय व संख्या के अनुसार करता है जब कि साधु जीवन भर सामायिक में ही रहता है। इन आवश्यकों से सबको आत्मशांति मिलती है और मोक्षमार्ग पर स्थिरता रहती है, अपनी करणी का निरीक्षण किया जाता है व अयोग्य काम को छोड़ने व योग्य काम को आगे बढ़ाने की प्रेरणा मिलती है ये छः प्रतिदिन अवश्य करने चाहिए इनके बिना जीवन निरंकुश रहता है। इस श्लोक में सर्वज्ञ भगवान (आप्त) को वैद्य, आवश्यक क्रिया को औषध और भवपर्यटन को व्याधि की उपमा दी है।

तपस्या करनी चाहिए

तपांसि तन्याद्विविधानि नित्यं, मुखे कटून्यायतिसुंदराणि।
निध्नंति तान्येव कुकर्मराशिं रसायनानीव दुरामयान् यत् ॥२॥

अर्थ—यद्यपि मुंह में डालते ही कटु लगने वाले परन्तु परिणाम से सुन्दर ऐसे दोनों प्रकार के तप हमेशा कर। क्योंकि वे कुकर्म के समूह का उसी प्रकार से तुरंत नाश करते हैं जैसे दुष्ट रोगों को रसायण (भस्म) नष्ट करता है॥ २॥ उपजाति

विवेचन—छः बाह्य और छः अभ्यंतर तप का वर्णन पहले आ चुका है उन तपों को कर जिससे तेरे पापों का नाश होगा यद्यपि उनके करते हुए मन नहीं मानता है, भूख सताती है परंतु परिणाम अति सुन्दर होगा अतः तू तपकर। जैसे असाध्य रोग को भस्म नष्ट करती है वैसे ही घाती कर्म तक को तपस्या नष्ट करती है।

शीलांग-योग-उपसर्ग-समिति-गुप्ति

विशुद्धशीलांगसहस्रधारी, भवानिशं निर्मितयोगसिद्धिः ।
सहोपसर्गांस्तनुनिर्ममः सन्, भजस्व गुप्तीःसमितीश्च सम्यक् ।।३।।

अर्थ—तू (अठारह) हजार शीलांग को धारण करने वाला बन, योग सिद्धि निष्पादित हो, शरीर की ममता का त्यागकर उपसर्गों का सहन कर एवं समिति तथा गुप्ति को अच्छी तरह भज ।। ३ ।। **इंद्रवज्रा**

विवेचन—तू चारित्र के अंग—शीलांग का धारण कर, मन वचन और काया के योग को वश में कर अर्थात योग की सिद्धि प्राप्त कर, शरीर की ममता छोड़कर परिषह सह, शरीर के लिए विचार कर कि यह क्या है ? किसका है ? इसका स्वभाव क्या है ? आदि। जीवन को उत्तम बनाने के लिए अष्ट प्रवचन माता रूप पांच समिति और तीन गुप्ति को धारण कर ।

स्वाध्याय-आगमार्थ-भिक्षा आदि

स्वाध्याययोगेषु दधस्व यत्नं, माध्यस्थवृत्यानुसरागमर्थान ।
अगारवो भैक्षमटाविषादी, हेतौ विशुद्धे वशितेंद्रियौघः ।। ४ ।।

अर्थ—सज्झाय ध्यान में यत्न कर, मध्यस्थ बुद्धि से आगम के अर्थ के अनुसार, अहंकार को छोड़कर भिक्षा के लिए फिर, एवं इन्द्रिय के समूह को वश में करके शुद्ध हेतु में विषाद रहित होजा ।। ४ ।। **उपजाति**

विवेचन—हे साधु ! तू निरर्थक बातों को छोड़कर स्वाध्याय कर, सज्झाय पढने में चित्त को लगा जिससे तेरा मन संसार में भटकने से रुक जाएगा। आगम ग्रंथों का अध्ययन न्याय की बुद्धि से कर, तेरी दृष्टि किसी विशेष वाडे बंदी के अंजन से आंजी हुई नहीं होनी चाहिए नहीं तो तू अपने उसी संकुचित दृष्टि के द्वारा अर्थ का अनर्थ कर बैठेगा और स्वयं भी डूबेगा और अनेक भोले जीवों को भी डुबा देगा। माध्यस्थ बुद्धि नहीं होने से आज उत्सूत्र प्ररूपणा बड़े बड़े आचार्यों द्वारा हो रही है, परिणामतः समाज में झगड़े फैले हुए हैं, नए पंथ, फिरके भी इसी कारण से बढ़ गए हैं अतः आगम के अर्थ का माध्यस्थ बुद्धि से अनुकरण कर, अपने कुल, जाति, आदि के व विद्या आदि के अभिमान को छोड़कर विधिवत गोचरीकर, इन्द्रियां जो हर समय अपने इच्छित पदार्थों की ओर झुकतीं हैं उनको वश में कर के सच्चे आनंद का अनुभव कर, सांसारिक राग, सन्मान, भोगेच्छा, पुद्गल वस्तुओं का संग्रह तुझे वर्जित है ही अतः उन वस्तुओं से परे रह जिससे तुझे किसी प्रकार का विषाद नहीं होगा इस तरह से तेरा मार्ग उत्तम बनेगा ॥४॥

उपदेश-विहार

ददस्व धर्मार्थित यैव धर्म्यान सदोपदेशान् स्वपरादि साम्यान् ।
जगद्धितैषा नवभिश्च कल्पैर्ग्रामे कुले वा विहराऽप्रमत्तः ॥५॥

अर्थ—हे मुनि ! तू धर्म प्राप्त करने के हेतु से इस प्रकार के धर्मानुसार उपदेश दे कि जो स्व और पर के विषय में

समानता प्रतिपादित करने वाले हों। तू जगत का हितैषी बनकर प्रमाद को त्याग कर गांव अथवा कुल में नवकल्पी विहार कर ॥ ५ ॥ उपजाति

विवेचन—हे साधु ! तू निष्पाप, एकांत धर्म के हेतुभूत, स्व पर के लिए समभावी उपदेश दे। उपदेश देने में तेरा सांसारिक हित कुछ भी छुपा न होना चाहिए। अपनी विद्या के प्रदर्शन के लिए या अपनी कीर्ति पताका फहरानें के लिए या अपने नाम की विरुदावली छपवाने के गुप्त हेतु से या अपनी इच्छित भोगलिप्सा की पूर्ति के सिए या अपने सांसारिक कुटुम्ब के पोषण के लिए तू उपदेश न दे। तेरा उपदेश स्वयं तुझे और श्रोताओं को भी हितकर हो सांथ ही इष्ट व अनिष्ट पदार्थों में समान भाव लाने वाला हो, वैराग्य की पराकाष्ठा को पहुंचा हुवा हो जिसे सुनकर श्रोताओं की दृष्टि स्वर्ण व लोह को, सुगंध और दुर्गंध को एक जैसी बुद्धि से देखने लग जाय अर्थात इच्छित पर राग व अनिच्छित पर द्वेष रहित हो जाय।

साधु को नवकल्पी बिहार अवश्य करना चाहिए। कार्तिक पूर्णिमा से अषाढ़ सुदी चवदस तक आठ मास के आठ बिहार और चौमासे का एक विहार ऐसे नौ विहार करने चाहियें। साधु इसमें कभी प्रमाद न करे जगत का हित सम्मुख रखकर विहार करे। विशेष शिक्षण, रोग, वृद्धता या शासन का अपूर्व शास्त्रोक्त लाभ इन कारणों के सिवाय साधु एक स्थान पर विशेष न रहे।

आज विहार करने की पद्धति साफ विपरीत होती जा रही है। एक ही बड़े शहर में बारबार चौमासा करने पर भी साधु संतुष्ट नहीं होते हैं, शहरों का मोह, गोचरी में आसक्ति, दृष्टि रागी श्रावकों की भक्ति, रूप सुन्दरियों के मीठे वचन कइयों को वहां से खिसकने नहीं देते हैं चाहे उन्हें उपासरा खाली करने के नोटिस भी दिया जावें तो भी नहीं हटते हैं। चातुर्मास की मर्यादा चार मास से आठ मास तक बढ़ गई है। कई साधु आठ नौ मास स्थिर रहकर १–२ माह आसपास के तीर्थों में घूमकर फिर वहीं जा पहुंचते हैं। जहां विहार की आवश्यकता है वैसे प्रातों में जाते ही नहीं हैं, इस परिपाटी से उनका संग्रह—परिग्रह प्रमाद, आसक्ति, अज्ञान बढ़ रहा है, शास्त्र की हीलना हो रही है श्रावक पथ भ्रष्ट व आचार भ्रष्ट हो रहे हैं मंदिरों के द्वार बंद हो रहे हैं घोर अशातन हो रही है पर साधुओं को इसकी परवाह नहीं है वे शास्त्र को नहीं मानते हैं। अतः हे मुनि तू नवकल्पी विहार कर और स्व पर का कल्याण साध ले।

स्वात्म निरीक्षण—परिणाम

कृताकृतं स्वस्य तपोजपादि, शक्तीरशक्तीः सुकृतेतरे च।
सदा समीक्षस्व हृदाथ साध्ये, यतस्व हेयं त्यज चाव्ययार्थी ॥६॥

अर्थ—तप, जप आदि तूने किए हैं कि नहीं? अच्छे और बुरे काम करने में तेरी शक्ति, अशक्ति कितनी है? इन सभी विषयों का अपने हृदय में सदा विचार कर। हे

मोक्षार्थी ! साधने योग्य कार्यों में यत्न कर और त्यागने योग्य कार्यों को छोड़ दे ॥ ६ ॥ उपजाति

विवेचन—हे साधु ! तू आत्म निरीक्षण कर कि तूने जप, तप, उपदेश, धर्मोन्नति, संघ संवृद्धि आदि कार्य किए हैं कि नहीं ? शरीर की ममता छोड़कर विशेष तप कितने किए हैं ? धर्मशास्त्रों का पठन, पाठन, लेखन कितना किया है ? धर्म विहीन क्षेत्र में विहार करके धर्म से पतित होते हुए कितने प्राणियों की रक्षा की है, एवं उन्हें फिर से धर्म में कितना प्रवृत्त किया है ? तेरे मन की कमजोरी या कदाग्रह का त्याग कितना किया है ? धर्म स्थानों, मंदिरों, उपाश्रयों या संघ के ऊपर आई हुई आपत्ति के निवारण के लिए त्याग या स्वार्पण कितना किया है ? क्या तेरे जैसे समृद्ध आचार्य या मुनि की उपस्थिति में धर्म स्थानों पर या संघ पर विकट संकट आने पर तू बलिदान के लिए तैयार हो सकता है ? क्या कालिकाचार्य जैसा पुरुषार्थ, तू गर्द भिल्ल जैसों के सामने करके धर्म की रक्षा कर सकता है ? हे मुनि ! इन सब बातों का विचार करके प्रतिदिन बढ़ते हुए निरर्थक प्रलापों का, अनावश्यक मानसिक उपाधियों का, संघ में होते हुए विटंबा-वाद का उपचार करता हुवा तू आत्माहित साध ले। क्योंकि तू मोक्षाभिलाषी है। मोक्षाभिलाषी के लिए आत्मनिरीक्षण आवश्यक है।

हे श्रावक ! क्या तू भी प्रतिदिन जप, तप, (द्रव्य या भाव से) पूजा, गुरुवंदन, प्रतिक्रमण या साधर्मिक भक्ति करता

है ? क्या तेरे पास रहे हुए समय व धन का सात क्षेत्र के लिए सदुपयोग करता है ? क्या तेरे आचरण को देखकर तेरे धर्म के प्रति अन्य लोगों को हीनता तो उत्पन्न नहीं होती है ? क्या तू श्रावक कहलाता हुवा ऐसे आरंभ सारंभ तो नहीं करता जिससे अन्य धर्मी तेरे धर्म व इष्टदेव को घृणा की दृष्टि से देखते हों ? क्या तू धर्म की विपत्ति के समय उपेक्षा तो नहीं करता है ? क्या तू धर्म के लिए कल्पक, शकटार जैसे माहण (जैन ब्राह्मण-महात्मा) की तरह अपना बलिदान दे सकता है ? क्या तुझे अपने परिवार या स्वयं के शरीर की अपेक्षा धर्म पर अधिक अनुराग है ? इस तरह से तू आत्म-निरीक्षण करता हुवा, वीर पुरुष की तरह धर्म का पालन कर अपनी शक्ति-अशक्ति का विचार करके अच्छे कामों को आचर, बुरों को छोड़ दे। प्रतिदिन ऐसी बातों का विचार करता हुवा तू वीरता पूर्वक मोक्ष की तरफ बढ़। चौदह नियमों को धारण कर।

पर पीड़ा वर्जन—योग निर्मलता

परस्य पीडापरिवर्जनात्ते, त्रिधा त्रियोग्यप्यमला सदास्तु।
साम्यैकलीनं गतदुर्विकल्पं, मनो वचश्चाप्यनघप्रवृत्ति ॥ ७ ॥

अर्थ—तेरे मन वचन काया के योग दूसरे जीवों को तीनों प्रकार से पीड़ा न देने से निर्मल हों, तेरा मन केवल समता में ही लीन हो जाय, एवं वह अपने दुर्विकल्प छोड़ दे और तेरा वचन भी निरवद्य व्यापार (काम) में ही प्रवृत्त होता रहे। ॥ ७ ॥ उपजाति

विवेचन—सभी धर्मों में अहिंसा को सर्वश्रेष्ठ माना है, सर्वसाधारण उक्ति है "अहिंसा परमो धर्मः" परन्तु ऐसा मानते हुए भी कई धर्मावलम्बी हिंसा करते रहते हैं इतना ही नहीं धार्मिक पर्वों पर भी धर्म के नाम पर हिंसा करते हैं। जैन धर्म ने इसकी पूरी गहराई सोची है। जैन इसका पालन सावधानी से करता व कराता है। किसी भी प्राणी को स्वयं पीड़ा देना, दूसरे से दिलाना, या पीड़ा देने वाले को सहायता देना या उसकी पुष्टि करना इन तीनों प्रकारों की हिंसा का मन से, वचन से, काया से त्याग करना संपूर्ण अहिंसा कहलाता है। इससे मन, वचन और काया के योग निर्मल बनते हैं। हे जीव ! तेरा मन सदा समता में ही लीन हो दुर्विकल्पों से हटकर निर्मल रहे यह तभी हो सकता है जब कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि जो आत्मगुणों के घातक हैं उनका त्याग किया जाय। इतना होने पर दुर्विकल्पों का स्वयमेव नाश हो जाता है और मन निर्मल होकर आत्महित में लगता है। वचन से भी पाप व्यापारों का त्याग आवश्यक है यह भी तभी हो सकता है जब मन में से हिंसा की भावना दूर हो जाय। किसी को पीड़ा देने के लिए या अपने स्वार्थ के लिए वचन का पाप व्यापार होता है परंतु जब मन ही पाप व्यापार से दूर हो जाय तो वचन से वैसे उद्‌गार निकल ही नहीं सकते हैं एवं काया से वैसे पाप आचरे ही नहीं जा सकते हैं। अतः शास्त्रकार चाहते हैं कि तेरे मन, वचन, काय निर्मल हो जाएं जिससे तू अपनी आत्मा का व अन्य की आत्माओं का हित कर सके।

भावना आत्मलय

मैत्रीं प्रमोदं करुणां च सम्यक्, मध्यस्थतां चानय साम्यमात्मन् ।
सद्भावनास्वात्मलयं प्रयत्नात्, कृताविरामं रमयस्व चेतः ।।८।।

अर्थ—हे आत्मा ! मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थता को अच्छी तरह से भा (धारण कर) समता भाव प्रगट कर। प्रयत्न करके सद्भावना भाकर आत्मलय में विराम पाकर (अपने) मन को क्रीड़ा करा ।। ८ ।। उपजाति

विवेचन—तू अपने हृदय में मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ इन चारों भावों को निरंतर धारण कर। इनमें आत्मरमण करने से परम शांति प्राप्त होती है। भावना भाते हुए शुद्ध समता का उदय होता है। समता आत्मिक गुण है और स्थिरता इसकी नींव है। मात्र ज्ञान, ध्यान, तप और शीलयुक्त मुनि की अपेक्षा समताधारी मुनि अधिक गुण निष्पादित कर सकता है इस प्रकार से जब प्रवृत्ति करते हुए समता प्राप्त होती है तब जीव आत्म जागृति करता है। उसे सांसारिक सभी काम तुच्छ प्रतीत होते हैं उसका मन आत्मप्रवृत्ति की तरफ दौड़ता है। उसे केवल आत्म-प्रवृत्ति ही रुचिकर प्रतीत होती है। शुभ ध्यान द्वारा आत्म-लय होता है और उस वक्त अनिर्वचनीय आत्मानंद होता है। आत्मरमण करने के लिए प्रबल पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है और जब मन उस तरफ लगता है तब वाह्य वस्तु का भान नहीं रहता है। मन अंतर्मुख हुवा नहीं, कि ध्येय समीप आया समझो।

मोह के योद्धाओं का पराजय

कुर्यान्न कुत्रापि ममत्वभावं, न च प्रभो रत्यरती कषायान् ।
इहापि सौख्यं लभसेऽप्यनीहो, ह्यनुत्तरामार्त्यसुखाभमात्मन् ॥९॥

अर्थ—हे समर्थ आत्मा ! किसी भी वस्तु पर ममत्त्व भाव न रख, एवं रति अरति और कषाय भी न कर। जब तू इच्छा रहित हो जाएगा तब तो अनुत्तर विमान में बसने वाले देवों का सुख भी तुझे यहीं मिलेगा ॥ ९ ॥

इंद्रवज्रा

विवेचन—हे आत्मा तू अपने शरीर, स्त्री, पुत्र, धन आदि पर से ममता हटा ले, ये तेरे नहीं हैं और तू इनका नहीं है, इनका ममत्व इस लोक और परलोक में दुखदायी है; तू अच्छी और बुरी वस्तुओं में राग या द्वेष का विचार छोड़ दे अर्थात रति अरति न कर; संसार में घुमाने वाले कषाय को तू छोड़ दे, ऐसा करने से तुझे बहुत सुख मिलेगा। अनुत्तर विमान के देवों को सबसे अधिक सुख है कारण कि वहां स्वामी सेवकपन नहीं है एवं काम विकार से होने वाली शारीरिक या मानसिक विडंबना भी नहीं है परंतु निस्पृहता से होने वाला सुख इससे भी बढ़कर होता है उपाध्याजी ने कहा है :—

परस्पृहा महादुःखं निस्पृहत्वं महासुखम् ।
एतदुक्तं समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥

आत्मा में अनंत ज्ञान है और अनंत दर्शन है। महावीर प्रभु जैसा बल, अभय कुमार जैसी बुद्धि, हेमचंद्राचार्य जैसा

श्रुतज्ञान, कयवन्ना सेठ जैसा सौभाग्य गजसुकुमाल जैसी समता, शक्ति के रूप में सब आत्माओं में रही हुई है मात्र पुरुषार्थ करके उसे प्रकट करने की आवश्यकता है इसी कारण से आत्मा को "समर्थ" कहा है। हे समर्थ आत्मा, तू उपरोक्त श्लोक के अनुसार आचरण कर।

उपसंहार—शुभ प्रवृत्ति करने वाले की गति

इति यतिवरशिक्षां योऽवधार्य व्रतस्थ-
श्चरणकरणयोगानेकचित्तः श्रयेत।
सपदि भवमहाब्धिं क्लेशराशिं स तीर्त्वा,
विलसति शिवसौख्यानंत्यसायुज्यमाप्य ॥ १० ॥

अर्थ—यतिवरों के संबध में बताई हुई शिक्षा जो व्रतधारी (साधु और उपलक्षण से श्रावक) एकाग्रचित मे हृदय में ठसाता है और चारित्र तथा क्रिया के योगों को पालता है वह संसार समुद्र रूप क्लेश के समूह को एकदम तरकर मोक्ष के अनंत सुख में तन्मय होकर स्वयं आनन्द पाता है। ॥ १० ॥ **मालिनी**

विवेचन—उपकारी की वृत्ति सदा उपकार करने में ही लगी रहती है, सच्चा उपकारी वही है जो सदा काल का दुःख मिटा देता हो, थोड़े समय के उपकार की अपेक्षा अनंतकाल का सुख दिलाने का जो मार्ग बताता है वही सर्वोत्तम उपकारी है। ऐसे परमोपकारी तीर्थंकर प्रभु, गणधर पूर्वाचार्य, आदि ने जीवों के उपकार के लिए उपरोक्त उपदेश दिया

है। पूर्वाचार्यों ने कहीं कहीं भार पूर्वक शब्दों में टोका भी है जिसका कारण यही है कि वे जीव पर एकांत उपकार करने की निस्पृह वृत्ति रखते थे अतः इस जीव को शुभ रास्ते लेने के लिए उन्होंने प्रत्येक विषय पर कहा है।

इस उपदेश में से साधु और श्रावक को अपनी योग्यतानुसार उपदेश ग्रहण करना है। जो प्राणी नियमानुसार चरण-करण गुणों का अनुसरण करेगा वह थोड़े समय में संसार समुद्र से तरकर मोक्ष सुख को पाएगा। वह सुख महासुख है और अनंतकाल तक रहने वाला है, अतः इमें उस सुख को पाने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस प्रकार से शुभवृत्ति उपदेश नामक अधिकार में साधु को शुभवृत्ति रखने का उपदेश दिया गया जो योग्यतानुसार श्रावक के लिए भी ग्राह्य है। वातावरण ऐसा होता जा रहा है कि लोगों की इच्छा धार्मिक क्रिया से भागने की होती है परंतु यह आत्मघातक वस्तु है। बिना शुभ प्रवृत्ति (क्रिया) के कर्मों का काटना कठिन होता है अतः हमें पूरे अधिकार में उपदिष्ट मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

इति पंचदशो शुभवृत्तिशिक्षोपदेशाधिकारः

अथ षोडशः

साम्यसर्वस्वाधिकारः

अब पूरे ग्रंथ के साररूप—एक प्रधान तत्व—साम्य—समता सर्वस्व ही है, इस विषय पर उपसंहार करते हुए संक्षिप्त विवेचन ग्रंथकार करते हैं। इस पूरे ग्रंथ का उद्देश्य क्या है, साध्यबिंदु कहां है, प्रयोजन क्या है, यह सब ग्रंथकर्ता बताते हैं।

समता का फल—मोक्ष संपत्ति

एवं सदाभ्यासवशेन साम्यं, नयस्व साम्यं परमार्थवेदिन्।
यतः करस्थाः शिवसंपदस्ते, भवन्ति सद्यो भवभीतिभेत्तुः ॥१॥

अर्थ—हे तात्त्विक पदार्थ के जानने वाले ! तू इस प्रकार से (ऊपर पंद्रह द्वार में कथित) निरंतर अभ्यास के योग से समता को आत्मा के साथ में जोड़ दे; जिससे भव के भय को भेदने वाली मोक्ष संपत्तिएं तुझे एकदम प्राप्त हो जाएं। ॥ १ ॥ **उपजाति**

विवेचन—तेरा साध्य "समता" होना चाहिए और उसकी प्राप्ति के लिए आत्मा के साथ समता का निरंतर योग रहना चाहिए। श्रीहेमचंद्राचार्य ने योगशास्त्र में कहा है कि :—

पणिहन्ति क्षणार्धेन साम्यमालंब्य कर्मतत् ।
यन्नहन्यान्न रस्तीव्रतपसा जन्मकोटिभिः ।।

अर्थात समता का आलंबन लेने से, वैसे कर्मों का एक क्षण में नाश हो जाता है जिनके लिए करोड़ों जन्म तक विविध तपस्या करनी पड़ती है। हे बंधु ! एक बार एकांत निरुपाधि, निजस्वरूपलीनता, अजरामरत्व, अशांति का अभाव तथा स्थिरता का विचार कर। यदि ये तुझे उत्तम प्रतीत हों तो समता का आश्रय ग्रहण कर इससे तुझे बहुत सुख प्राप्त होगा। इसके लिए अभी समय है, योग्य अवसर भी है, फिर ऐसा अवसर मिले या न मिले अतः तू समता प्राप्ति के लिए उद्यम कर।

अविद्या त्याग ही समता का बीज

त्वमेव दुःखं नरकस्त्वमेव, त्वमेव शर्मापि शिवं त्वमेव ।
त्वमेव कर्माणि मनस्त्वमेव, जहीह्यविद्यामवधेहि चात्मन् ।।२।।

अर्थ—हे आत्मा ! तू ही दुःख है, तू ही नरक है; तू ही सुख और मोक्ष भी तू ही है। तू ही कर्म और मन भी तू ही है। अविद्या को छोड़ दे और सावधान हो जा ।।२।।

इंद्रवज्रा

विवेचन हे आत्मा ! तू ही दुःख है, कारण कि उन दुःखों के कारण भूत कर्म तूने ही किए हैं। सुख दुःख की सच्ची झूठी कल्पना भी तू ही करता है। इसी तरह से नरक भी तू ही है। दुःख का संचय करने वाला और उनको समझने

वाला भी तू ही है। सुख के लिए भी तू ही कर्ता व अधिष्ठाता है। अच्छी बुरी, कम ज्यादा भावनाओं के अनुसार काम करने का जुम्मेवार भी तू ही है। प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा मोक्ष का आनंद अनुभव करने वाला भी तू ही। कर्म को करने वाला और मन को प्रेरणा देने वाला भी तू ही है अतः कर्म और मन भी तू ही है।

जैन धर्मानुसार आत्मा शुद्ध, ज्ञानमय, अविनाशी और नित्य है। कर्मों के कारण इस पर पर्दे गिरे हुए हैं। उन पर्दों को दूर हटाने के लिए प्रबल पुरुषार्थ करना आवश्यक है। आत्मा स्वयं ही कर्ता व भोक्ता है इसको किसी अन्य आत्मा की अपेक्षा नहीं है यह स्वयं तरता है व स्वयं ही डूबता है। हे आत्मा तू अपना वास्तविक रूप पहचान और अविद्या का त्याग कर। शास्त्रकार कहते हैं :—

"अज्ञानं खलु भोकष्टं, क्रोधादिभ्योऽति तीव्र पापेभ्यः ॥
अर्थात क्रोध आदि अति तीव्र पापों से भी अज्ञान महान कष्ट देने वाला है। जब तक अज्ञान का नाश नहीं होगा तब तक साध्य नजर में नहीं आएगा। अतः हे भाई ! तू जागृत हो, पुरुषार्थ कर और वीर्य को काम में लाकर मोक्ष साध ले।

सुख दुःख का मूल क्रमशः समता, ममता

निःसंगतामेहि सदा तदात्मन्नर्थेष्वशेषेष्वपि साम्यभावात्।
अवेहि विद्वन् ममतैव मूलं, शुचां, सुखानां समतैव चेति ॥३॥

अर्थ—हे आत्मा ! सभी पदार्थों पर सदा समता भाव

लाकर निःसंगपन प्राप्त कर। हे विद्वान्! तू जान ले कि दुःख का मूल ममता ही हैं और सुख का मूल समता ही है। ॥ ३ ॥ उपजाति

विवेचन—जब तक हमारा चित्त घर हाट बाग बगीचे, धन, माल स्त्री, पुत्र, मान सनमान में ही लगा रहता है तब तक हम उनके संगी हैं और वे हमारे संगी (साथी) हैं। इनमें लगा हुवा मन आत्मा या परमात्मा में नहीं लग सकता है। अतः शास्त्रकार कहते हैं कि इस संग का त्याग करने के लिए तू समता भाव ला। समता का तात्पर्य यह है कि सभी इष्ट अनिष्ट वस्तुओं में समान भाव रखना। यह समता ही सुख का मूल है और प्रत्येक वस्तु में ममता-मेरापन-अहंभाव-ही दुःख का मूल है।

समता का नमूना

स्त्रीषु धूलिषु निजे च परे वा, संपदि प्रसरदापदि चात्मन्।
तत्त्वमेहि समतां ममतामुग् येन शाश्वतसुखाद्वयमेषि ॥४॥

अर्थ—स्त्री में और धूलि में, अपने में और पराए में, सम्पत्ति में और विस्तृत विपत्ति में, हे आत्मा! (तत्व को पहचानकर) समता धारण कर और ममता को छोड़ दे, जिससे शाश्वत सुख के साथ तेरा एकाकार होगा ॥ ४ ॥ स्वागता

विवेचन—शाश्वतसुख-मोक्षसुख की प्राप्ति के लिए भी समता ही आवश्यक है। मन में जब तक अपना-पराया भाव

रहता है, अपने स्त्री पुत्र आदि की आपत्ति पर ही दुःख और अन्य दुःखी जीवों पर उपेक्षा रहती है तब तक समता नहीं आ सकती। अपने पुत्र के जरा से गिर जाने पर खूब चिंता करते हुए उसकी संभाल करना और दूसरे के पुत्र के तीन मंजिल पर से गिरने या मोटर के नीचे दब जाने पर देखते हुए भी खेद न होना, उसका साधारण सा भी उपचार कराने की भावना न होना वही तो ममता है। सम्पत्ति आने पर फूले हुए फिरना, उसका प्रदर्शन करना और विपत्ति आने पर उसका रोना हर जगह रोते रहना यही तो ममता है। हे आत्मा तू सभी अवस्थाओं में समता रख तभी तुझे मोक्ष के सुख का साक्षातकार होगा।

समता के कारण रूप, पदार्थों का सेवन कर

तमेव सेवस्व गुरुं प्रयत्नादधीष्व शास्त्राण्यपि तानि विद्वन्।
तदेव तत्त्वं परिभावयात्मन्, येभ्यो भवेत्साम्यसुधोपभोगः ॥५॥

अर्थ—हे आत्मा ! तू उसी गुरु की प्रयत्न से सेवा कर, उन्हीं शास्त्रों का अभ्यास कर और उसी तत्त्व का चिन्तन कर जिससे तुझे समतारूपी अमृत का स्वाद मिलता हो ॥५॥

उपजाति

विवेचन—हे आत्मा ! चौरासी लाख जीवा योनि में भटकते हुए तुझे सद्भाग्य से (मनुष्य योनि मिलने के पश्चात तेरी) धर्म के प्रति रुचि उत्पन्न हुई है और तू मोक्ष की अभिलाषा रखता है अतः हे भाई तू ढोंगी गुरु को छोड़कर

समता का अमृत पिलाने वाले गुरु की सेवा कर, अन्य प्रपंचों के शास्त्रों को छोड़कर त्याग वैराग्य युक्त समता का पाठ पढ़ाने वाले शास्त्रों का अध्ययन कर और समता की पुष्टि करने वाले तत्त्व का चिंतन कर। श्री उमास्वातिजी ने कहा है :—जिस जिस भाव से वैराग्य भाव की पुष्टि होती हो (उसका पोषण होता हो) वही भाव भाने के लिए मन वचन और काया से अभ्यास करना चाहिए।

यह ग्रंथ—समतारस का नमूना

समग्रसच्छास्त्रमहर्णवेभ्यः, समुद्धृतः साम्यसुधारसोऽयम्।
निपीयतां हे विबुधा लभध्वमिहापि मुक्तेः सुखवर्णिकां यत् ॥६॥

अर्थ—यह समता-अमृत का रस सभी बड़े बड़े शास्त्र समुद्रों में से निकाला गया है। हे पण्डितजन ! आप यह रस पीजिये और मोक्ष सुख का नमूना यहीं प्राप्त कीजिये।

इंद्रवज्रा

विवेचन—समता-अमृत सब उत्तम शास्त्रों का निचोड़ है, अतः सब शास्त्रों के सारभूत अमृत को हे विद्वानों आप पियें और मोक्ष का सुख कैसा होता है उसका थोड़ा सा अनुभव आपको यहीं इसी भव में मिल सकेगा।

समताधारी का स्वरूप बताते हुए अनुभवी योगी श्रीमद् कपूरचंदजी (चिदानंदजी) महाराज कहते हैं कि :—

जे अरि मित्त बराबर जानत, पारस और पाषाण ज्युं होई;
कंचन कीच समान अहे जस, नीच नरेश में भेद न कोई।

मान कहा अपमान कहा मन, ऐसो विचार नहि तस होई;
राग नहिं अरु रोस नहिं चित्त, धन्य अहे जग में जन सोई ॥१॥
ज्ञानी कहो अज्ञानी कहो कोई, ध्यानी कहो मनमाने ज्युं कोई;
जोगी कहो भावे भोगी कहो कोई, जाकुँ जिस्यो मन भावत होई।
दोषी कहो निरदोषी कहो पिंडदोषी कहो को औगुन जोई;
राग नहिं अरु रोष नहिं जाकुँ, धन्य अहे जग में जन सोई ॥२॥
साधु सुसंत महंत कहो कोई, भावे कहो निरगंथ पियारो;
चोर कहो चाहे ढोर कहो कोई, सेव करो कोउ जान दुल्हारे।
विनय करो कोउ ऊंचे बेठाव ज्युँ दूर थी देख कोउ जारे;
धार सदा समभाव चिदानंद, लोह कहावत सुनत नारे ॥३॥

समता के लिए उपाध्याय यशविजयजी कहते हैं कि :—

उपशमसार छे प्रवचनने, सुजस वचन ए प्रमाणे रे।

समता ही शास्त्र का सार है।

समता विण जे अनुसरे, प्राणी पुण्य काम।
छार ऊपर ते लीपणुँ, झांखर चित्राम ॥

अर्थात जो कोई प्राणी समता के बिना कोई भी पुण्य का काम करता है वह उसी तरह निरर्थक है जैसे ऊसर भूमि पर लीपना या वृक्ष के सूखे पत्तों के ढेर पर चित्र बनाना है।

हे पुण्यशाली ! इस देव दुर्लभ मानव भव में यदि तू सुख चाहता है तो समता रख और अव्याबाध सुख का अंशतः यहीं पर अनुभव कर। तेरे रोग, शोक, भय, व्याधि आदि सब मिट जाएंगे।

कर्त्ता, नाम-विषय प्रयोजन

शांतरसभावनात्मा, मुनिसुन्दरसूरिभिः कृतो ग्रंथः ।
ब्रह्मस्पृहया ध्येयः, स्वपरहितोऽध्यात्मकल्पतरुरेषः ॥ ७ ॥

अर्थ—शांत रस की भावना से परिपूर्ण अध्यात्मज्ञान के कल्पवृक्ष (अध्यात्म-कल्पद्रुम) ग्रंथ को **श्री मुनि सुन्दरसूरिजी ने** अपने और दूसरों के हित के लिए रचा है उसका अध्ययन ब्रह्म (ज्ञान और क्रिया) प्राप्त करने की इच्छा से करना चाहिए ॥ ७ ॥ **गीति**

विवेचन—इच्छित फल का देने वाले कल्पवृक्ष की तरह से यह ग्रंथ भी नामानुसार इच्छित फल (मोक्ष) को देने वाला है । यह शांतरस से भरपूर है। इस ग्रंथ की रचना सहस्रावधानी श्री मुनि सुन्दरसूरिजी ने अपने व अन्य के हित की भावना से की है । श्री मुनि सुन्दरजी ने (जो कि श्री सोमसुन्दरजी के शिष्य थे) संतिकरं स्तवन की रचना देलवाड़े (राजस्थान) में की थी, वे समर्थ आचार्य फरमाते हैं कि इस कल्पतरु ग्रंथ का अध्यन ज्ञान और क्रिया (ब्रह्म) के लिए करा जिससे तुम्हें ध्येय की (मोक्ष की) प्राप्ति हो । इस कल्पवृक्ष समशास्त्र से जो कोई कुछ भी निर्मल बुद्धि से मांगेगा वही उसे प्राप्त होगा ।

उपसंहार

इहमिति मतिमानधीत्य, चित्ते रमयति यो विरमत्ययं भवाद्द्राक् ।
स च नियतमतो रमेत चास्मिन् सह भववैरिजयश्रिया शिवश्रीः ८

अर्थ—जो बुद्धिमान पुरुष इस ग्रंथ का अध्ययन करके चित्त में मनन करेगा वह थोड़े ही समय में संसार से विरक्त हो जायगा और संसाररूप शत्रु की विजयरूप लक्ष्मी के साथ ही मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त करेगा ॥ ८ ॥ **आर्यागीति**

विवेचन—इस उत्तम ग्रंथ की समाप्ति पर जयश्रिया (श्री मुनि सुन्दरजी) का आशीर्वाद है कि जो पुरुष इसका अध्ययन कर मनन करेगा वह संसार शत्रु से विजयी होकर मोक्षलक्ष्मी को वरेगा। मात्र अध्ययन से लाभ नहीं होता है, वरन मनन से होता है। बिना मनन के कई पढ़े लिखे भी भारी अनुचित काम करते हैं अतः जैसे पक्का रंग चढ़ाने के लिए पहले वस्त्र को रंग की कुण्डी में भिजोकर काफी समय तक स्थिर रखा जाता है तभी उसपर रंग चढ़ता है, इसी तरह से इस ग्रंथ का अध्ययन कर खूब देर तक मनन करने से यह सार्थक होगा और संसार शत्रु पर विजय दिलाकर मोक्ष दिलाएगा।

इति षोडषः साम्यसर्वस्वधिकारः

यह विवेचन जो आप श्री ने पढ़ा है वह आपके ही एक बालक द्वारा अर्पित है इसमें कहीं कहीं कटु शब्दों का प्रयोग हुवा है जिसके लिए मैं क्षमा चाहता हूं। विशेषकर यतिशिक्षा के पाठ में अति तिक्त, कटु, मार्मिक शब्दों का व भावों का प्रदर्शन मैंने किया है परंतु करूं क्या यह पाठ ही ऐसा है और उसमें वर्णित दोष आज प्रायः उस वर्ग में देखे जा रहे हैं अतः उनकी सेवा में सादर वंदन करता हुवा उनसे क्षमा मांगता हूं और चाहूंगा कि वे अपना मुंह इस दर्पण में देखें और उसे साफ करें।

ग्रंथकर्ता की भावना शुद्ध थी, वह सबका उपकार चाहते थे उसी भावना के वशीभूत होकर उसी की पुष्टी में श्री मोतीचंद भाई ने विवेचन किया था और मुझ अल्पबुद्धि ने भी वैसा ही प्रयास किया है। यद्यपि मैंने अधिक खुले शब्दों का प्रयोग किया है तथापि काल की दृष्टि से क्षमा चाहता हूं।

इसमें जो आत्मा को आनंद देने वाले शब्द या भावादि हैं वे ग्रंथकर्त्ता के हैं और जो कुछ चुभने वाले या आत्मा को क्षुब्ध करने वाले हैं वे सब मेरे हैं। पाठक अमृत का पान करते हुए इस ग्रंथ का सदुपयोग कर मुझे कृतार्थ करें।

अंत में सब जीवों के कल्याण की कामना करता हूं तथा अपने कल्याण के लिए जिनराज से प्रार्थना करता हुवा सब जीवों से क्षमा मांगता हूं। कृपया सब क्षमा करें।

सुखी रहें सब जीव जगत के कोई कभी न घबरावे।
वैर पाप अभिमान छोड़ जग नित्य नये मंगल गावे॥

ॐ शांति ॐ शांति ॐ शांति

मनुष्य भव की दुर्लभता के दस दृष्टांत

(१) चोल्लक (भोजन)—चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने एक ब्राह्मण को प्रसन्न होकर कहा कि "तुझे जो चाहिए सो मांग ले"। ब्राह्मण ने अपनी स्त्री की सलाह से यह मांगा कि, "आपके राज्य में हरेक घर में मैं बारी बारी से भोजन करूं।" चक्रवर्ती ने यह स्वीकार कर वैसा प्रबंध कर दिया।

पहले ही दिन उस ब्राह्मण ने चक्रवर्त्ती के यहां भोजन किया और जीम कर एक स्वर्ण-मोहर प्राप्त की, पश्चात वह एक लाख बाणवे हजार रानियों के यहां जीमा, इसी प्रकार से उसे छः खण्ड में हरेक के यहां जोमना था। परन्तु प्रथम दिन के भोजन में जो स्वाद उसे मिला था वह फिर कभी नहीं मिला। उसकी उत्कंठा लगी हुई थी कि कब छः ही खण्डों के तमाम शहरों के सब ही घरों में जीम चुकूं और कब चक्रवर्त्ती के यहां मेरी बारी फिर से आवे। यह बनना जैसे दुर्लभ है वैसे ही मानव-जीवन मिलना दुर्लभ है। शायद किसी भी तरह से वह ब्राह्मण प्रथम दिन जीमे हुए भोजन को दुबारा पाए, परंतु जो भाग्यहीन प्राणी मनुष्य भव पाकर उसे खो देता है वह उसे दुबारा फिर कभी भी नहीं पा सकता।

(२) पासा—चंद्रगुप्त मौर्य जब राज्यासन पर आरूढ़ हुवा तब खजाना खाली हो गया था। बुद्धिनिधान जैन ब्राह्मण (माहण-महात्मा) चाणक्य ने एक युक्ति की उसने कल पुर्जो

वाले चौपट पासे बनवाए जिन्हें इच्छानुसार डाले जाकर खेल खेला जा सकता था। पश्चात चाणक्य ने शहर में घोषणा कराई कि, "जो कोई मुझे खेल में जीत लेगा उसे स्वर्ण मोहरों का थाल दिया जाएगा और जो हार जाएगा उसके पास से सिर्फ एक ही मोहर ली जाएगी"। ऐसी आकर्षक घोषणा से अनेक मनुष्य पासा का खेल खेले और हार गए, खजाना भर गया।

जैसे हारे हुए मनुष्य पासे के खेल से कभी भी अपनी पूंजी वापस नहीं पा सकेंगे वैसे ही जीवों के लिए हारा हुवा मनुष्य भव फिर पाना दुर्लभ है।

(३) धान्य का ढेर—यदि सारे संसार का धान्य संग्रहित कर एक ढेर लगा दिया जाय और उसमें एक सेर सरसां मिला दी जाय और एक अशक्त बुढ़िया को उसमें से सरसों अलग करने को कहा जाय तो क्या वह वैसा कर सकेगी? यह नितांत असंभव है। फिर भी कदाचित वह वृद्धा सरसों को अलग कर सके तो भी यह सरसों के सदृश लुप्त हुवा मानव भव फिर से पाना दुर्लभ है।

(४) द्यूत-जूआ—एक राजा वृद्ध हुवा तो उसके पुत्र ने उसे मारकर राज्य गद्दी पाने का विचार किया। राजा ने यह बात जान ली और युक्ति से उसका एक उपाय किया। उसने युवराज को पास बुलाकर कहा कि, "अपने कुल को ऐसी रीति है कि जुआ खेलते हुए जब पुत्र जीत जाय तो उसे तुरंत राज्य दे दिया जाता है, अतः हम जुआ खेलें। राज्य सभा के भवन के १००८ स्तंभ हैं, प्रत्येक स्तंभ के १०८

कोने हैं। खेल में एक बार जीतने को एक कोना जीता जाना कहते हैं। इस प्रकार अखंडपन से लगातार सभी कोने जीते जाने पर तुरंत तुम्हें राज्य मिलेगा। यदि बीच में एक बार भी तुम्हारी हार हो गई तो सभी जीत वृथा होगो।

क्या इस प्रकार खेलते हुए कभी राजकुमार राजा को जीत कर राज्य पा सकता है ? कदापि नहीं। कदाचित ऐसा होना संभव हो परंतु खोया हुवा मानव भव फिर से पाना दुर्लभ है।

(५) रत्न—एक साहसी व्यापारी समुद्र मार्ग में व्यापार के लिए निकला और उसने देश विदेश फिरते हुए बहुत से रत्न प्राप्त किये। पीछे लौटते हुए उसका जहाज टूट गया और सब रत्न समुद्र में जा गिरे। सद्भाग्य से वह तैर कर किनारे आया और दवा सेवन से स्वस्थ हुवा। उसने अपने रत्नों को फिर से पाने की अभिलाषा की। परंतु क्या यह संभव है ? समुद्र में गिरे हुए रत्न क्या उसे फिर से मिल सकते हैं ? नहीं जैसे रत्न मिलने दुर्लभ हैं वैसे ही मानव भव-रत्न मिलना भी दुर्लभ है।

यह कथा ऐसे भी है कि एक सेठ को रत्नों का संग्रह करने का शौक था परन्तु उसके पुत्र को यह पसंद नहीं था। एक दिन सेठ के अन्यत्र जाने पर पुत्र ने उन रत्नों को परदेशी व्यापारियों को बेचकर नकद दाम कर लिए। जब सेठ घर आया और उसने रत्नों की बात सुनी तो वह बहुत दुःखी हुवा और पुत्र को उन परदेशी व्यापारियों से रत्न वापस लाने की

आज्ञा दी। परंतु जैसे उन विदेशियों से फिर रत्न पाना दुर्लभ है वैसे ही खोया हुवा मनुष्य भव फिर पाना दुर्लभ है।

(६) स्वप्न—एक राजकुमार नाराज होकर विदेश चला गया। रात को धर्मशाला में सोते हुए पिछली रात को उसे एक स्वप्न आया कि, "पूर्णिमा के चंद्र ने मेरे मुख में प्रवेश किया।" ठीक उसी समय पास मे सोये हुए एक भिखारी को भी वही स्वप्न आया।

प्रातःकाल दोनों जागे। राजकुमार ने अपना स्वप्न बहुत विनय व भेंट के साथ एक स्वप्न पाठक से निवेदित किया। उस पंडित ने फल बताया कि, "सात दिन के अंदर २ तुझे राज्य की प्राप्ति होगी और उसका तुरत फल स्त्री प्राप्ति होगी" ऐसा कहकर अपनी पुत्री का विवाह उसने उससे कर दिया। सातवें दिन उस गांव का राजा निसंतान ही मर गया और राजकुमार को राज्य मिला।

भिखारी ने भी अपना स्वप्न एक बाबाजी को सुनाया जिसका फल बाबाजी ने बताया कि तुझे आज भीख मांगते हुए लड्डू मिलेगा। वैसा ही हुवा उसे एक चूरमे का लड्डू भीख में मिला।

राजकुमार के स्वप्न व राज्य प्राप्ति की चारों तरफ फैल हुई बात जब उस भिखारी ने भी सुनी तो उसने अपने भाग्य को धिक्कारा और फिर से वैसे स्वप्न आने की आशा से वह उसी धर्मशाला में सोने लगा परन्तु जैसे फिर से वैसा स्वप्न

आना और राज्य मिलना दुर्लभ है वैसे ही फिर से मनुष्य जन्म की प्राप्ति होना दुर्लभ है।

(७) चक्र-राधावेध—इन्द्रपुर नामक नगर में इंद्रदत्त नामक एक राजा रहता था उसके २२ रानियों से २२ पुत्र हुए। उसके मंत्री के भी एक पुत्री थी जो अति सुन्दर थी उससे विवाह कर राजा उसे भूल गया। एकदा घूमने जाते हुए राजा ने उस मंत्री कन्या को देखा और उसने गुप्त रीति से वह रात वहीं बिताई। मंत्री ने सब हाल एक कागज पर लिख लिया। समय जाने पर उस लड़की के एक पुत्र हुवा जिसका नाम सुरेंद्रदत्त रखा गया। उसे एक कलाचार्य के पास पढ़ने भेजा गया वह बहुत विद्वान और धनुर्वेता हो गया। राजा के अन्य २२ ही कुंवर गर्विष्ट होने से पूरा नहीं पढ़ सके न धनुर्विद्या में ही निपुण हुए। मथुरा नगरी के राजा जित शत्रु ने अपनी कन्या निर्वृत्ति का स्वयंवर रचा जिसमें कई राजकुमार बुलाए गए। वे २२ कुंवर भी इन्द्रदत्त राजा के साथ वहां उपस्थित हुए व सुरेंद्रदत्त भी मंत्री के साथ गया। स्वयंबर में राधावेध की शर्त रखी गई थी। यह वेध ऐसा था कि एक स्तंभ की चोटी पर यांत्रिक प्रयोग से एक पुतली फिर रही थी। उस पुतली (राधा) के नीचे ८ चक्र घूम रहे थे चार दाईं ओर से और चार बाईं ओर से। नीचे तेल से भरी हुई कढ़ाई रखी गई थी जिसमें पुतली और चक्रों का प्रतिबिंब पड़ रहा था। स्तंभ के मध्य भाग में एक तराजू टांगा गया था जिसके दोनों पलड़ों में दोनों पैर रखकर खड़ा रहना और कढ़ाई में

प्रतिबिंब देखकर पुतली की बाईं आंख में तीर चलाना था। सभी कुमार असफल रहे। उन २२ का भी यही हाल हुवा। राजा इन्द्रदत्त को बहुत दुःख हुवा तब मंत्री नें सुरेंद्रदत्त का हाल कहकर उसे वेध करने की आज्ञा दी। सुरेंद्रदत्त सफल हुवा और वरमाल उसी को पहनाई गई। सुरेंद्रदत्त जैसा कोई भाग्यशाली प्राणी उस पुतली की आंख में तीर लगा सका यह जितना कठिन है उससे भी कठिन तो यह है कोई भाग्य-हीन प्राणी मानव भव को खोकर फिर पा सके।

(८) कूर्म-चंद्रदर्शन—एक सरोवर में रहने वाले किसी कछुए ने एक बार पानी के ऊपर जमी हुई कांजी में हवा के जोर से छेद होने पर पानी के ऊपर गर्दन निकाल कर पूर्णचंद्र को देखा जिससे उसे अति आनंद हुआ। उस आनंद में सम्मिलित करने के लिए अपने कुटुम्बियों को लेने के लिए उसने पानी में डुबकी लगाई परन्तु जब वह सबको लेकर ऊपर आया तो कांजी के जाड़े स्तर में वह छेद नहीं मिला। पूर्णिमा की रात्री, कांजी का फटना और उस कछुए की उपस्थिति ये सभी योग मिलने मुश्किल हैं। उन सबको चंद्रदर्शन दुर्लभ हो गए। कदाचित इस प्रकार के चंद्र के दर्शन उस कछुए को हो परन्तु जो भाग्यहीन प्राणी मनुष्य भव को हार जाता है उसे फिर से वह प्राप्त नहीं कर सकता है।

(९) युग (समिला)—पूर्व समुद्र में शमी (लकड़े की खूंटी) डालें और पश्चिम समुद्र में युग (जूड़ा—बैलों के

कंधों पर रहने वाला लकड़ा जिससे उनको इधर उधर भागने से रोका जाता है, उसके दोनों कोनों पर छेद होते हैं उन छेदों में शमी फंसाई जाती है। बैलों के गले में पट्टी लपेट कर उस पट्टी को इस शमी (खीलें) में फंसाया जाता है।) डालें और दोनों समुद्रों में दुर्धर तरंगे आती हों तो जैसे उस युग में शमी का प्रवेश दुर्लभ है वैसे ही मानव भव पाना दुर्लभ है।

(१०) परमाणु—अगर कोई देवता एक विशाल पाषाण स्तंभ का वज्र से चूरा चूरा कर दे, पीछे वह मेरू पर्वत पर खड़ा होकर सभी परमाणुओं को एक नली में इकट्ठा कर जोर से फूंक मारकर उस चूर्ण को चारों दिशाओं में उड़ा दे। यदि वह फिर से उसी रजचूर्ण द्वारा पाषाण स्तंभ को बनाना चाहे तो यह कितना असंभव है। एक लाख योजन के ऊंचे मेरूपर्वत से हवा के झपाटे के साथ उड़ा हुवा वह पाषाण परमाणुओं का समूह जबरन फूंक द्वारा कहीं उड़ गया। जैसे उसी चूरे द्वारा फिर से वही स्तंभ बनाना दुर्लभ है वैसे ही महान कठिनता से पाए हुए मानव भव को खोकर फिर से पाना दुर्लभ है।

मानव भव की दुर्लभता का विचार कर इसका सदुपयोग करना चाहिए।

सुभाषित संग्रह

उत्तराध्ययन सूत्र के छायानुवाद

महावीर स्वामी के अंतिम उपदेश से अनुवादित

अपने आपको जीतना चाहिए। अपने आपको जीतना मुश्किल है। जिसने अपने आपको जीता है, वह इस लोक और परलोक में सुखी होता है। (१—१५)

दूसरे मुझे वध-बंधन आदि से पीड़ा दें, उसकी अपेक्षा मैं स्वयं ही अपने आपको संयम और तप द्वारा वश में रखूं यह अधिक उत्तम है। (१—१६)

संसार में जीव को बोधि के ये चार अंग दुर्लभ हैं; मनुष्यपन, सद्धर्म का श्रवण, उसमें श्रद्धा और उसका आचरण। (३—१)

मनुष्यपन पाकर जो प्राणी धर्म सुनकर उसमें श्रद्धा करता है और उसमें पुरुषार्थ कर, तप से पाप कर्म को अपने में आता हुवा रोकता है. वह अपनी मलिनता दूर कर सकता है। (३—११)

टूटने के पश्चात जीवन (आयु) को फिर जोड़ा नहीं जा सकता, अतः प्रमाद नहीं करना चाहिए। वृद्धावस्था आने

के पश्चात दूसरा कोई रास्ता नहीं रहेगा तब प्रमत्त, हिंसक और प्रयत्न नहीं करने वाले मनुष्य की क्या दशा होगी, उसका विचार कर। (४—१)

सोते हुओं के बीच में जागते रहना चाहिए। तीव्र बुद्धिमान पंडित को आयुष्य का विश्वास नहीं करना चाहिए। काल निर्दय है और शरीर निर्बल है अतः भारण्ड पक्षी की तरह अप्रमत्त रहना चाहिए। (४—६)

वाणी की चतुराई (मृत्यु से) बचा नहीं सकती है, विद्या का शिक्षण भी किस तरह बचा सकता है? अपने आपको पण्डित मानने वाले मूर्ख लोग पाप कर्मों में डूबे रहते हैं। (६—१०)

दुर्जय संग्राम में लाखों योद्धाओं को (कोई) जीते, उसकी अपेक्षा अकेला अपने आपको जीते तो यह विजय उत्तम है। (९—३४)

अपने स्वयं के साथ लड़ना चाहिए। (अन्य के साथ) बाहर वालों के साथ लड़ने से क्या लाभ? अपने आत्म बल से अपने आपको जीतने वाला सुखी होता है। (९—३५)

पांच इन्द्रियां, क्रोध, मान, माया और लोभ, तथा सबसे अधिक दुर्जय ऐसा अपना मन; ये जीते गये तो सब जीते गए। (९—३६)

हर महीने महीने लाखों गायों का दान देने वाले की अपेक्षा कुछ भी दान न देने वाले संयमी का संयमाचरण श्रेष्ठ है। (९—४०)

अज्ञानी मनुष्य हर महीने महीने कुश के अग्रभाग पर रह सके उतना अन्न खाकर उग्र तप करे तो भी वह मनुष्य, सत्पुरुषों द्वारा बताए गए धर्म को अनुसरण करने वाले मनुष्य के सोलहवें भाग के बराबर भी नहीं पहुंच सकता है। (६—४४)

विविध पदार्थों से भरा हुवा सारा संसार भी किसी एक ही मनुष्य को दे दिया जाय तो भी इससे उसकी तृप्ति नहीं होगी। मनुष्य की तृष्णाएं ऐसी दुष्पूर हैं। (८—१६)

सोने चांदी के कैलाश जैसे असंख्य पर्वत भी लोभी मनुष्य के लिए पर्याप्त नहीं है कारण कि इच्छा आकाश जैसी अनंत है। (६—४८)

धन धान्य सहित पूरी पृथ्वी भी किसी एक ही मनुष्य को दे दी जाय तो भी वह उसके लिए पर्याप्त नहीं है। ऐसा जानकर निग्रह (संयम) का आसरा लेना ही श्रेष्ठ है। (६—४६)

काम शल्य रूप है, काम विष रूप है, तथा काम जहरी सर्प तुल्य है। इन कामों के पीछे पड़े हुए लोग, उनको प्राप्त किए बिना ही दुर्गति पाते हैं (६—५३)

समय बीतने पर पका हुवा वृक्ष का पत्ता (अचानक) गिर जाता है, वैसी ही मनुष्य का जीवन भी (अचानक) गिर जाता है, (मृत्यु हो जाती है) अतः हे गौतम क्षणमात्र भी प्रमाद न कर। (१०—१)

यह जीवन बहुत चंचल है एवं विघ्नों से परिपूर्ण है; अतः एक क्षण का भी प्रमाद किए बिना हे गौतम; तू पहले के कर्मों को दूर कर दे। (१०—३)

सब संगीत विलाप जैसे हैं, सभी नाट्य विडंबना रूप हैं, सभी आभरण भार रूप हैं, तथा सभी काम दुःख वाहक हैं। हे राजा ! (इनमें) मूर्ख लोगों को (ही) आनंद आता है। वैसे दुःखप्रद कामों में वह सुख नहीं है जो सुख कामों से विरक्त और शील गुणों में रत तपोधन भिक्षु को है। (१३, १६—१७)

कीचड़ में फंसा हुवा हाथी जैसे किनारा देखता हुवा भी उसमें से निकल नहीं सकता है, वैसे ही काम गुणों में आसक्त हुए हम भी सत्य-मार्ग को देखते हुए भी उसका अनुसरण नहीं कर सकते हैं। (१३—३०)

चारों तरफ से कष्ट पाते हुए और (दुःखों से) घिरे हुए लोक में जहां अमोघकाल दौड़ता ही रहता है, वहां घर में रहकर हम रति (शांति) नहीं पा सकते हैं। (१४—२१)

जहां स्वयं को हमेशा रहना नहीं है, ऐसे रास्ते में जो घर बनाता है, वह मूर्ख है। मनुष्य को चाहिए कि जहां स्वयं को सदा के लिए जाना है (मोक्ष में) वहां घर बनावे। (९—२६)

जिसकी मृत्यु के साथ दोस्ती है, जो उसके हाथ में से

भाग सकता है अथवा, "मैं नहीं मरूंगा" ऐसा जो जानता है वही यह विचार करे कि, "यह मैं कल करूंगा"। (१४—२७)

(ब्रह्मचारी), घी-दूध आदि उद्दीपन करने वाले (विकारी) रस पदार्थ अधिक न खाए; कारण कि जैसे स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष की तरफ पक्षियों का झुण्ड भाग कर आता है वैसे ही उस मनुष्य की तरफ काम वासनाएं दौड़ी आती हैं। (३२—१०)

जैसे बहुत काष्ठ वाले वन में पवन सहित लगा हुवा दावाग्नि शांत नहीं होता है वैसे ही इच्छानुसार आहार करने वाले ब्रह्मचारी का इन्द्रियाग्नि भी शांत नहीं होता है। आहार किसी को हितकर नहीं होता है। (३२—११)

यदि कोई मन-वाणी और काया का सम्पूर्ण संयम करने वाला हो तथा सुन्दर एवं अलंकृत देवियां भी जिसे डिगा न सकतीं हों ऐसे मुनि को भी अत्यंत हितकर जानकर स्त्री आदि से रहित एकांतवास ही स्वीकार करना चाहिए। (३२—१६)

जो कामवासनाओं को तर गए हैं उनके लिए दूसरी सभी वासनाएं छोड़ना आसान है। महासागर को तैरने वाले के लिए गंगा जैसी बड़ी नदी भी किस हिसाब में है? (३२—१८)

स्त्रियों से घिरा हुआ घर; मनोरंजक स्त्री कथा; स्त्रियों

का परिचय; उनकी इन्द्रियों का निरीक्षण उनका मीठा स्वर (कूजित), रुदन, गीत, हास्य सुनना; उनके साथ भोजन करना या बैठना, रसीली वस्तुओं का आस्वादन; अधिक मात्रा में आहार; शरीर की शोभा और शब्दादि पाँच विषयों में आसक्ति ये आत्मान्वेषी ब्रह्मचारी के लिए तालपुट विष जैसे हैं। (इनका त्याग ही ब्रह्मचर्य की वाड़े हैं)। (१६, ११—३)

जैसे बगुली, (मादा बकपक्षी) अण्डे में से पैदा होती है और अण्डा बगुली में से पैदा होता है वैसे ही मोह का उत्पत्ति स्थान तृष्णा है और तृष्णा का उत्तपत्ति स्थान मोह है। (३१—६)

जिसे मोह नहीं हैं उसका दुःख गया, जिसे तृष्णां नहीं है उसका मोह गया; जिसमें लोभ नहीं है उसकी तृष्णा गई और जिसका कुछ भी नहीं है उसको लोभ नहीं है। (३२—८)

बुद्धिमान पुरुष क्रिया में रुचि रखता है और अक्रिया का त्याग करता है। श्रद्धालु पुरुष का कर्त्तव्य है कि श्रद्धानुसार कठिन धर्म का भी आचरण करे। (१८—३३)

जब किसी घर में आग लगती है, तब घर का मालिक उसमें से सार वस्तुएं ले लेता है और असार वस्तुओं को छोड़ देता है; वैसे ही बुढ़ापे और मौत से सलगते हुए इस संसार में से मैं आप्त (पूर्व पुरुषों) की आज्ञा से मेरे आत्मा को बचाना चाहता हूं। (१९, २२—३)

हमारा आत्मा ही नरक की वैतरणी नदी है, यही कूट शाल्मली वृक्ष है, हमारा आत्मा ही स्वर्ग की कामदुग्धा धेनु है तथा नंदनवन है। दुःखों और सुखों का कर्ता और विकर्ता भी आत्मा ही है। अच्छे रास्ते पर जाने वाला आत्मा ही मित्र है और खराब रास्ते पर जाने वाला आत्मा ही शत्रु है। (२०, ३७—७)

प्राणियों का वध करने वाला और कराने वाला कभी सब दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता है। इस सुन्दर धर्म के उपदेश देने वाले आर्य पुरुषों ने ऐसा कहा है। (८—८)

मात्र (सिर) मुंडाने से श्रमण नहीं बना जाता है, मात्र ओंकार से ब्राह्मण नहीं बना जाता है, मात्र जंगल में निवास करने से मुनि नहीं बना जाता है और मात्र दाभ के (घास के) वस्त्र से तपस्वी नहीं बना जाता है; परन्तु समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तप से तपस्वी बना जाता है। कर्म से ही मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होता है। (२५, ३०—३)

सब प्रकार के ज्ञान को निर्मल करने से, अज्ञान और मोह को त्यागने से तथा राग और द्वेष का क्षय करने से एकांतिक सुखरूप मोक्ष प्राप्त होता है। (३२—२)

मोक्ष-मार्ग—सद्गुरू और ज्ञानवृद्ध पुरुष की सेवा करना; अज्ञानियों की संगति दूर से ही छोड़ देना; एकाग्रचित्त से सत शास्त्रों का अभ्यास करना; उनके अर्थ का चिंतन करना और चित्त की स्वस्थता रूपी धृति को विकसित करना। (३२—३)

सुभाषित २

श्री सूत्रकृतांग के छायानुवाद

महावीर स्वामीनो संयम धर्म में से अनुवादित

जब तक मनुष्य (कंचन कामिनी आदि) सचित्त या अचित्त पदार्थों में आसक्त है तब तक वह उन दुःखों से मुक्त नहीं होता है। (१, १—२)

जब तक मनुष्य अपने सुख के लिए अन्य प्राणियों की हिंसा करता रहता है, तब तक वह वैर बढ़ाता रहता है। (१, १—३)

ज्ञानी के ज्ञान का सार यह है कि वह किसी की हिंसा नहीं करता है। अहिंसा का सिद्धांत भी इतना ही है। (१, ४—१०)

जागो ! तुम समझते क्यों नहीं हो ? मृत्यु के पश्चात ज्ञान प्राप्त होना दुर्लभ है। बीती हुई रातें पीछी नहीं आती हैं और मनुष्य जन्म फिर से मिलना आसान नहीं है। (२, १—१)

जगत में प्राणी अपने कर्मों से ही दुःखी होते हैं और अच्छी-बुरी दशा प्राप्त करते हैं। किया हुवा कर्म बिना फल दिये कभी अलग नहीं होता है। (२, १—४)

मनुष्य चाहे बहुत शास्त्र पढ़ा हुवा हो, धार्मिक हो, ब्राह्मण हो या भिक्षुक हो; परन्तु यदि उसके कर्म अच्छे न हों तो वह दुःखी ही होगा। (२, १—७)

कोई चाहे नग्नावस्था में विचरे या महीने के अंत में एक बार ही भोजन करे, परन्तु यदि वह मायायुक्त है तो वह बार बार गर्भवास ही पाएगा। (२, १—९)

हे मनुष्य ! पाप कर्म से निवृत्त हो। तेरा आयुष्य अल्प है। जगत के पदार्थों में आसक्त और काम भोगों में मूर्छित, असंयमी लोग मोह पाते ही रहते हैं। (२, १—१०)

जीवन (आयुष्य) फिर जोड़ा नहीं जा सकता है, यह सुज्ञ पुरुष बार बार कहते हैं फिर भी मूर्ख मनुष्य धृष्टता पूर्वक पापों में मग्न रहा करते हैं। यह देखकर मुनि प्रमाद न करे। (२, २—२१)

इस जगत के वंदन-पूजन को कीचड़ के खड्डे के समान जानना चाहिए। यह कांटा बहुत सूक्ष्म है और बहुत ही कठिनाई से निकाला जा सकने वाला हे, अतः विद्वान को उसके समीप ही नहीं जाना चाहिए। (२, २—११)

जैसे दूर विदेश से व्यापारियों द्वारा लाए गए रत्नों को राजा ही धारण कर सकता है वैसे ही रात्रि-भोजन त्याग सहित महाव्रतों को भी कोई विरला ही धारण कर सकता है। (२, ३—३)

निर्बल बैल को उसका हांकने वाला चाहे जितना मार-मार के हांके परन्तु वह तो और भी (गालियां) अशक्त बनता जाता है और अंत में भार खींचने के बदले थककर जमीन पर गिर ही जाता है। वैसी ही स्थिति विषय रस चखे हुए मनुष्य की है। विषय तो आज या कल छोड़ कर जाने वाले हैं यह सोचकर कामी पुरुष को चाहिए कि वह प्राप्त हुए या किसी कारण से न प्राप्त हुए कामों की वासना को छोड़ दे। (२, ३, ५—६)

अंत में पछताना न पड़े अतः अभी से ही आत्मा को भोगों में से अलग कर, समझाओ। कामी पुरुष अंत में बहुत पछताता है और विलाप करता है। (२, ३—७)

वर्तमान काल ही एक मात्र योग्य अवसर है और बोधि प्राप्ति सुलभ नहीं है, ऐसा समझकर अपने कल्याण में तत्पर हो जाओ। अभी के जिन भी यही कहते हैं और भविष्य के भी यही कहेंगे। (२, ३—१६)

जो उचित समय में पराक्रम करते हैं वे ही पीछे से नहीं पछताते ह। वे धीर पुरुष बन्धनों में से उन्मुक्त होकर जीवन में आसक्ति रहित होते हैं। (३, ४—१५)

जो काम भागों और पूजा सत्कार को त्याग सके हैं उन्होंने सब कुछ त्यागा है। वैसे ही लोग मोक्षमार्ग में स्थित हो सके हैं। (३, ४—१७)

यदि सुबह शाम नहाने से ही मोक्ष मिलता हो तो पानी में रहने वाले कितने ही जीव मुक्त हो जायं। (७—१४)

पानी यदि पाप कर्मों को धो डालता हो तो पुण्य कर्मों को भी धो डालता है। अतः उनका सिद्धांत मनोरथ मात्र है। अंधे नेता के अनुकरण की तरह से वैसे मूर्ख लोग जीव हिंसा करते रहते हैं। (७—१६)

मुनि, संयम के निर्वाह के लिए ही आहार ग्रहण करे; अपने में से सभी पाप दूर हों ऐसी इच्छा करे, तथा दुःख आ पड़े तो संयम का शरण लेकर जैसे संग्राम के अग्रभाग में लड़ता हो वैसे अंतर शत्रुओं को दबावे। (७—२९)

प्रमाद ही कर्म है अप्रमाद ही अकर्म है। इन दोनों के होने या न होने से मनुष्य पण्डित या मूर्ख कहलाता है। (८—३)

अपने जीवन के कल्याण का यदि कोई उपाय जानने में आए तो बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह उसे तुरंत सीख ले। (८—१५)

बुद्धिमान पुरुषों से मैंने सुना है कि, सुख वैभव का त्याग करके कामनाओं को शांत करना और निरीह (सर्व त्यागी) होना, यही वीर का वीरत्व है। (८—१८)

जो वस्तु का तत्त्व नहीं समझते हैं, वैसे मिथ्या दृष्टि वाले पुरुष यदि लोगों में पूज्य गिने जाते हों और धर्माचरण

में महावीर जैसे भी हों तो भी उनका सब पुरुषार्थ अशुद्ध है और उससे उनको बंधन ही होता है। (८—२२)

परन्तु जो पुरुष वस्तु का तत्त्व समझते हैं, वैसे ज्ञानी पुरुषों का धर्माचरण शुद्ध है और इसी से वे बंधते नहीं हैं। (८—२३)

ऊंचे कुल में जन्म लेकर जिन्होंने सन्यास लिया हो और जो महा तपस्वी हों, वैसों (मुनियों) का तप भी यदि कीर्ति को इच्छा से किया हुवा हो तो शुद्ध नहीं है। जिस तप को दूसरे नहीं जानते हैं वही सच्चा तप है। आत्म प्रशंसा कभी नहीं करना चाहिए। (८—२४)

सुन्दर व्रत धारण करने वाले पुरुष को थोड़ा खाना चाहिए, थोड़ा पोना चाहिए और थोड़ा बोलना चाहिए; तथा क्षमायुक्त, निरातुर, जितेंन्द्रिय और कामना रहित होकर सदा (मोक्ष की तरफ) प्रयत्नशील रहना चाहिए। (८—२५)

प्राप्त हुए काम भोगों में भी इच्छा न होने देना ही इसका नाम विवेक। अपने आचार हमेशा सुज्ञ पुरुषों से सीखें। (९—३२)

मुमुक्षु, सदा प्रज्ञायुक्त, तपस्वी, पुरुषार्थी, आत्मज्ञान के इच्छुक, धृतिमान तथा जितेंद्रिय गुरु की सेवा सुश्रूषा करे। (९—३३)

शब्दादि विषयों में अलुब्ध रहे और निंदित कर्म न करे;

(यही मुख्य धर्माचरण है) बाकी सब जो विस्तार से कहा है वह सिद्धांत के बाहर का है। (९—३५)

अपने भीतर और बाहर, दोनों प्रकार के सत्य को जानकर जो स्वयं को व पर को तारने में समर्थ है वैसे जगत के ज्योति रूप, तथा धर्म को साक्षात्कार कर उसे प्रगट करने वाले (महात्मा) की संगति में सदा रहना चाहिए। (१२—१९)

सर्वस्व का त्याग करके रूखे सूखे आहार पर जीने वाला बनकर भी जो गर्विष्ठ (अभिमानी) तथा स्तुति की इच्छा वाला होता है; उसका सन्यास उसकी आजीविका (का साधन) है। ज्ञान पाए बिना वह बार बार संसार में भटकेगा।

जो मनुष्य अपनी प्रज्ञा (बुद्धि) के कारण से या अन्य किसी विभूति के कारण से मदमत्त (अभिमानी) होकर दूसरे का तिरस्कार करता है, वह समाधि प्राप्त नहीं कर सकता है। (१३—१४)

शास्त्र सीखने की इच्छा वाला, काम भोगों का त्याग कर, प्रयत्न पूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करे तथा गुरु की आज्ञा का पालन करते करते चारित्र की शिक्षा प्राप्त करे। चतुर शिष्य प्रमाद न करे। (१४—१)

धर्म का साक्षात्कार करके जो ज्ञानी उपदेश देते हैं, वे ही संशय का अंत ला सकते हैं। अपनी और दूसरों की मुक्ति

को साधने वाले वे कई युगों से पूछे जाने वाले प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं। (१४—१८)

बुद्धिमान पुरुष (वस्तुओं के) अंत की सेवा करते हैं इसीलिए संसार का अंत ला सकते हैं। हम धर्म की अराधना के लिए ही मनुष्य लोक में मनुष्य हुए हैं। (१५—१५)

धर्म कहने मात्र से ही दोष नहीं लगता है—यदि उसका कहने वाला क्षांत हो, दांत हो, जितेंद्रिय हो, वाणी के दोषों को त्यागने वाला हो और वाणी के गुणों को आचरने वाला हो। (६—५)

जिस वाणी को बोलने से पाप को उत्तेजना मिलती हो, वैसी वाणी कभी न बोलनी चाहिए। दीक्षित भिक्षु, गुण रहित तथा तथ्य रहित कुछ न बोले। (६—३३)

जो ज्ञानी की आज्ञा के अनुसार मोक्ष मार्ग में मन, वचन और काया, तीनों तरफ से स्थित होकर अपनी इन्द्रियों का रक्षण करता है तथा समुद्र जैसे इस संसार को तरने के लिए जिसके पास सब सामग्री है वह पुरुष (चाहे तो) दूसरों को उपदेश दे। (६—५५)

सुभाषित ३

श्री आचारांग सूत्र के छायानुवाद

"महावीर स्वामीनो आचार धर्म से अनुवादित

जगत के लोगों की कामनाओं का पार नहीं है। वे चलनी में पानी भरने का प्रयत्न करते हैं। (३—११३)

कामों का पूरा होना अशक्य है और आयुष्य बढ़ाया नहीं जा सकता है। तथा कामेच्छु पुरुष विलाप करता हीं रहता है। (२—९२)

हे धीर, तू आशा और स्वछंदता को छोड़ दे। इन दोनों के शल्य के कारण ही तू भटकता रहता है। सुख का साधन, मानी हुई वस्तुएं ही तेरे दुःख का कारण हो जाती हैं। (२—८४)

तेरे सगे संबंधी, विषय भोग या द्रव्य संपत्ति तेरा रक्षण नहीं कर सकते हैं या तुझे बचा नहीं सकते हैं; वैसे ही तू भी उनका रक्षण नहीं कर सकता है या बचा नहीं सकता है। हरेक को अपने सुख दुःख खुद ही भुगतने पड़ते हैं। अतः जहां तक आयु मृत्यु से घेरी नहीं गई है तथा कान आदि इन्द्रियों का बल एवं प्रज्ञा, स्मृति, मेधा, आदि स्थित हैं तबतक अवसर को पहचान कर समझदार पुरुष को अपना कल्याण कर लेना चाहिए। (२, ६८—७१)

जो काम गुणों को जीत लेते हैं वे वास्तव में मुक्त हैं। अकाम से काम को दूर करते हुए वे प्राप्त हुए काम गुणों (भोगों) में भी नहीं लिपटते हैं। (२—७४)

काम भोगों में सदा डूबा रहता हुवा मनुष्य धर्म को नहीं पहचान सकता है। वीर भगवान ने कहा है कि उस महामोह में जरा सा भी प्रमाद न करना चाहिए। शांति के स्वरूप का और मृत्यु का विचार करके तथा शरीर को नाशवान जानते हुए कुशल पुरुष कैसे प्रमाद कर सकता है? (२—८४)

सभी प्राणों को आयुष्य तथा सुखप्रिय है एवं दुःख तथा वध अप्रिय या प्रतिकूल हैं। वे जीवन की इच्छा वाले और जीवन को प्रिय मानने वाले हैं। प्रमाद के कारण से प्राणों को अभी तक जो व्यथा दी है उसे बराबर समझकर फिर से वैसा न करना, इसी का नाम सच्चो समझ है और यही कर्मों की उपशांति है। भगवान के द्वारा दी गई इस समझ को समझता हुवा और सत्य के लिए प्रयत्नशील बना हुआ मनुष्य कोई भी पाप नहीं करता है और न कराता है कारण कि पाप कर्म मात्र में किसी न किसी जीव वर्ग की हिंसा या द्रोह रहा हुवा है। (२, ८०, ९६—७)

जो अहिंसा में कुशल है और जो बंधन में से मुक्ति प्राप्त करने के प्रयत्न में लगा हुवा है, वही सच्चा बुद्धिमान है। (२—१०२)

प्रमाद और उसके फलतः काम गुणों में आसक्ति यही

हिंसा है। अतः बुद्धिमान ऐसा निश्चय करे कि, 'प्रमाद से जो कुछ मैंने पहले किया वह अब नहीं करूंगा" (१, ३४–६)

जो मनुष्य विविध प्राणों की हिंसा में अपना ही अनिष्ट देख सकता है वही उसका त्याग करने में समर्थ हो सकता है।

जो मनुष्य अपना दुःख जानता है वह दूसरों के दुःख को जान सकता है और जो दूसरों के दुःख को जानता है वह अपना दुःख भी जानता है। शांति को पाए हुए संयमी दूसरों की हिंसा करके जीना नहीं चाहते। (१, ५५–७)

मनुष्य अन्य जीवों के विषय में बे परवाह न रहे। जो अन्य जीवों के लिए बे परवाह रहता है वह अपने लिए भी बे परवाह रहता है; तथा जो अपने लिए बेपरवाह रहता है वह अन्य जीवों के लिए भी बेपरवाह रहता है। (१—२२)

हिंसा का मूल होने से काम गुण ही संसार के चक्र हैं। काम गुणों का दूसरा नाम ही संसार चक्र है। चारों तरफ अनेक प्रकार के रूप देखता हुवा और शब्द सुनता हुवा मनुष्य उन सब में आसक्त हो जाता है। इसी का नाम संसार है। ऐसा मनुष्य महापुरुषों के बताए हुए मार्ग पर नहीं चल सकता है; वरन बारबार काम गुणों का स्वाद लेता हुवा, हिंसादि वक्र (विपरीत) प्रवृत्तियां करता हुवा प्रमाद पूर्वक घर में मूर्छित रहता है। (१; ४०—४)

जो मनुष्य शब्दादि काम गुणों में रही हुई हिंसा को

जानने में कुशल है, वह अहिंसा को जानने में कुशल है और जो अहिंसा को जानने में कुशल है, वह शब्दादि काम गुणों में रही हुई हिंसा को समझने में कुशल है। (३—१०९)

विषयों के स्वरूप को जो बराबर जानता है, वह संसार को बराबर जानता है और जो विषयों के स्वरूप को नहीं जानता है वह संसार के स्वरूप को भी नहीं जानता है। (५—१४३)

मैंने सुना है और मुझे अनुभव है कि बंधन में से मुक्त होना तेरे ही हाथ में है। अतः ज्ञानियों के पास से समझ प्राप्त करके, हे परम चक्षु वाले पुरुष ! तू पराक्रम कर। इसी का नाम ब्रह्मचर्य है ऐसा मैं कहता हूं। (५—१५०)

हे भाई ! तू अपने साथ (अपने अंदर) युद्ध कर, बाहर युद्ध करने से क्या लाभ ? युद्ध के लिए इसके जैसी (आत्मा जैसी) वस्तु मिलनी दुर्लभ है। (५—१५३)

हे भाई ! तू ही तेरा मित्र है; बाहर कहां मित्र ढूंढ़ता है ? तू यदि अपने आपको ही वश में रखेगा तो सब दुःखों से मुक्त हो सकेगा। (३, ११७—८)

प्रमादी को सब तरह से भय है; अप्रमादी को किसी प्रकार का भय नहीं है। (३—१२३)

धर्म को ज्ञानी पुरुषों के पास से समझकर या स्वीकार कर मात्र संग्रहित न कर रखना चाहिए परन्तु प्राप्त हुए भोग पदार्थों में भी वैराग्य पाकर, लोक प्रवाह के अनुसार चलना छोड़ देना चाहिए। (४—१२७)

जगत में जहां तहां आराम है ऐसा समझकर वहां से इन्द्रियों को हटाकर, संयमी पुरुष, जितेन्द्रिय होकर चले। जो अपना कार्य साधना चाहता है वैसे वीर पुरुष को चाहिए कि हमेशा ज्ञानी के कथनानुसार पराक्रम करे; ऐसा मैं कहता हूं। (५-१६८)

संयमी को उस वीर पुरुष की उपमा दी जाती है जो युद्ध के मैदान में सबसे आगे प्राणान्त तक लड़ता रहता है। ऐसा ही मुनि पारगामी हो सकता है। किसी भी प्रकार के कष्ट से न डिगता हुवा और चीरे जाने वाले लकड़ी के पाटिए की तरह स्थिर रहने वाला वह संयमी, शरीर के भेद (छेद) तक काल की प्रतीक्षा करता रहता है परन्तु घबराकर पीछे नहीं हटता है ऐसा मैं कहता हूं। (६—१९६)

इन्द्रियों के संबंध में आए हुए विषय का अनुभव न करना यह अशक्य है परन्तु उसमें जो राग द्वेष है उसका भिक्षु त्याग करे। (अ० १६)

जो ज्ञानी है उसके लिए कोई उपदेश नहीं है। कुशल पुरुष कुछ करे या न करे इससे वह बद्ध भी नहीं है और मुक्त भी नहीं है। फिर भी लोक रुचि को सब प्रकार से समझकर और समय को पहचानकर वह कुशल पुरुष पूर्व के महापुरुषों द्वारा न किए गए कर्म नहीं करता है। (२-१०३)

एक दूसरे की शरम से या भय से पाप कर्म न करने वाला क्या मुनि कहला सकता है? सच्चा मुनि तो समता को बराबर समझकर अपनी आत्मा को निर्मल करता रहता है। (३—११५)

जो सरल हो, मुमुक्षु हो और निर्दंभी हो वही सच्चा अनगार (साधु) है। जिस श्रद्धा से मनुष्य घर का त्याग करता है, उसी श्रद्धा को शंका और आसक्ति छोड़कर हमेशा टिकाए रखे। वीर पुरुष इसी महामार्ग में चलते हैं। (१, १८—२०)

सुख दुःख में समान भाव रखकर, ज्ञानी पुरुषों के संग में रहना और अनेक प्रकार के दुखों से दुखी स्थावर जंगम प्राणियों को अपनी किसी भी क्रिया से कष्ट न देना, ऐसा करने वाला तथा पृथ्वी की तरह से सब कुछ सहन करने वाला महामुनि उत्तम श्रमण कहलाता है। (आ० १६)

उत्तम धर्म पद को अनुसरने वाले, तृष्णा रहित, ध्यान और समाधियुक्त तथा अग्नि की शिखा जैसे उस तेजस्वी, विद्वान भिक्षु के तप, प्रज्ञा और यश वृद्धि को पाते हैं। (अ० १६)

इस प्रकार से काम गुणों में से मुक्त रहकर, विवेक पूर्वक आचरण करते हुए उस धृतिमान और सहनशील भिक्षु के पहले के किए हुए तमाम पाप कर्म उसी प्रकार दूर हो जाते हैं जैसे कि अग्नि से चांदी का मैल दूर हो जाता है। (अ० १६)

इस लोक और परलोक दोनों में जिसका कुछ भी बंधन नहीं है तथा जो तमाम पदार्थों की आशंका से रहित, निरालंब और अप्रतिबद्ध है, वैसा वह महामुनि गर्भ में आने जाने से मुक्त होता है, ऐसा मैं कहता हूं। (अ० १६)

सुभाषित ४

श्री दशवैकालिक सूत्र के छायानुवाद

"समीसांभनो उपदेश" में से अनुवादित

धर्म परम मंगल है। अहिंसा, संयम और तपरूपी धर्म में जिसका मन सदा लगा हुवा है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं। (१—१)

जो मनुष्य संकल्पों के वशीभूत होकर, पद पद पर थक कर बैठ जाता है तथा कामों का निवारण नहीं करता है वह श्रमणपन कैसे पाल सकता है ? (२—१)

तप के द्वारा शरीर को कसकर सुकुमारता दूर करो। इस प्रकार से जिसने कामों को जीता है उसने दुःख समुद्र को भी जीत लिया समझना चाहिए। जिसने पदार्थों के प्रति राग द्वेष दूर किया है वह इस संसार में सुखी होता है।

(२—५)

कैसे चलना, कैसे खड़ा रहना, कैसे बैठना, कैसे सोना, कैसे खाना और कैसे बोलना जिससे पाप कर्म न बंधे ?

(५—७)

प्रयत्नपूर्वक (जीवों को बचाते हुए) चलना, प्रयत्नपूर्वक

खड़ा रहना, प्रयत्नपूर्वक बैठना, प्रयत्नपूर्वक खाना और प्रयत्न-पूर्वक बोलना; ऐसा करने से पाप कर्म नहीं बंधते हैं। (५—८)

सब भूत प्राणियों को अपने समान गिनने वाले और देखने वाले तथा इन्द्रिय निग्रह पूर्वक हिंसादि पाप कर्म न करने वाले मनुष्य को पाप कर्म नहीं बंधता है। (५—९)

पहले ज्ञान बाद में दया, यह संयमी पुरुष की स्थिति है। जो अज्ञानी है वह क्या आचरण कर सकता है और भले बुरे को कैसे जान सकता है ? (५—१०)

ज्ञानी से सुनकर पुण्य या पाप जाना जा सकता है। इन दोनों को ज्ञानी से जानकर, जो कल्याणकारी हो उसको आचरो। (५—११)

सुख-आस्वादक, सुख को इच्छा वाले, आलसी (नींद लेने वाले) तथा धो-मांज करते रहने वाले श्रमण को सुगति दुर्लभ है; परंतु तपोधन, सरल बुद्धि, क्षमावान, संयम में परायण तथा कठिनाइयों से न दबने वाले श्रमण को सुगति सुलभ है।

सभी जीना चाहते हैं, मरना नहीं चाहते, अतः निःग्रंथ घोर जीव हिंसा का त्याग करते हैं। (६, २—११)

इस लोक में सभी साधु पुरुषों ने असत्य वचन की निंदा

की है, एवं यह सभी भूत प्राणियों के विश्वास का भंग करता है; अतः असत्य वचन का त्याग करना चाहिए। (६, २—१२)

किसी जीव का दिल दुःखे ऐसी कठोर वाणी नहीं बोलनी चाहिए चाहे वह सत्य भी (क्यों न) हों; कारण कि उससे पाप बंधन ही होता है (७—११)

मैथुन को सर्व प्रमाद का मूल, असेव्य, अधर्म का मूल कारण, महादोषों का समूहरूप, घोर कर्मों का हेतुरूप तथा सर्व प्रकार के चारित्र को छिन्न भिन्न करने वाला जानकर निःग्रंथ उसके पास भी नहीं जाते। (उसे सर्वथा त्यागते हैं)। (६, २, १५—६)

शरीर की शोभा, (टीपटाप) स्त्रो का संसर्ग और रसादार खानपान ये वस्तुएं आत्मगवेषी पुरुष के लिए तालपुट विष (हाथ में लेते ही मृत्यु हो ऐसा विष) जैसी हैं।

जिसके हाथ पैर कटे हुए हों, तथा जिसके नाक-कान बेडौल हो गए हों (कुरुप) ऐसी सौ वर्ष की स्त्री का भी साधु पुरुष संसर्ग न करे। (८—५६)

संयम और लज्जा के निर्वाह के लिए रखी हुई आवश्यक वस्तुओं को ज्ञात पुत्र भगवान ने परिग्रह नहीं गिना, परन्तु आसक्ति या ममता को ही परिग्रह गिना है। (६, २—११)

सभी तीर्थंकरों ने यह हमेशा का तप कर्म बताया है कि निर्वाह जितना ही देह का पालन पोषण और दिन के अंदर अंदर ही (सूर्योदय से सूर्यास्त तक) जीम लेना। (६, २—३)

जब तक वृद्धावस्था की पीड़ा नहीं है, रोग नहीं बढ़े हैं और इन्द्रियों की शक्ति मौजूद है, तबतक धर्म का आचरण करने का प्रयत्न कर लेना चाहिए (८—३६)

उच्छृंखल बने हुए क्रोध और मान तथा बढ़े हुए माया और लोभ ये चार मलिन वृत्तियें पुनर्जन्मरूपी वृक्ष के मूल को सींचने वाली हैं। (८—४०)

क्रोध से प्रीति का नाश होता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रता का नाश करती है और लोभ सर्व का नाश करता है। (८—३८)

शांति के द्वारा क्रोध को मारना चाहिए। मृदुता (नम्रता) से मान को जीतना चाहिए, माया को ऋजुता (सरलता) से जीतना चाहिए और लोभ को संतोष से जीतना चाहिए। (८—३९)

इस लोक और परलोक के हित करने वाले धर्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए शास्त्रज्ञ गुरु की सेवा और विनय आत्मनिग्रह पूर्वक करनी चाहिए; तथा उनको पदार्थों का निर्णय पूछना चाहिए। (८—४४)

शिष्य, गुरु के वचन को कभी निष्फल न जाने दे; वाणी से उसका स्वीकार कर, काया से उसका पालन करे।
(८—३३)

गुणी पुरुष की संगति में रहते हुए उसका विनय करना चाहिए, अपना शील निश्चल रखना चाहिए और कछुए की तरह अपने अंगोपांग का संकोच (नियमन) कर, तप और संयम में पराक्रमी होना चाहिए। (८—४६)

गर्व, क्रोध, माया और प्रमाद के कारण से जो शिष्य गुरु के साथ रहकर विनय नहीं सीखता है, उसकी वह कमी बांस के फल की तरह स्वयं उसके ही नाश का कारण बनती है। (९-१)

सुकुमार शरीर वाले गर्भ श्रीमंत (धनी के पुत्र) भी सांसारिक हुनर या कारीगरी सीखने के लिए मारपीट या अत्यंत कष्ट सहन करते हैं, गुरु की पूजा करते हैं तथा उनकी आज्ञा में रहते हैं, तो फिर अनंत हितरूप मोक्ष तथा उसके साधन रूप शास्त्र ज्ञान की इच्छावाले भिक्षु आचार्य के वचन का उल्लंघन किस प्रकार से कर सकते हैं ?
(९, २, १४—६)

अविनयी पुरुष को विपत्ति है और सुविनयी पुरुष को सब तरह आनंद है, ऐसा जो बराबर जानता है, वही सुशिक्षित हो सकता है। (९, २—२१)

गुणों से ही साधु हुवा जाता है और दुर्गुणों से ही असाधु हुवा जाता है, अतः साधु गुणों का स्वीकार करना चाहिए और असाधु गुणों का त्याग करना चाहिए। इस प्रकार से अपनी आत्मा को समझाकर, तथा रागद्वेष का त्याग कर जो समभाव प्राप्त करता है वह शिष्य सबका पूज्य बनता है। (९, ३—११)

जो साधक रात्री के प्रथम और अंतिम पहर में हमेशा आत्म निरीक्षण करता है कि मैंने क्या किया है, मेरे लिए अभी क्या करना बाकी है और मेरे से बन सकता है वैसा क्या, मैं अभी तक नहीं करता हूं, वह जितेंद्रिय तथा धृतिमान (धीर) पुरुष ही जगत में "जागृत" है और वही संयमी जीवन जीता है ऐसा कहा जाता है। (चूड़ा २, १२—१५)

सुभाषित ५

श्री कुंदकुंदाचार्य के समयसार में से अनुवादित

निर्विकार परमात्म तत्त्व के ज्ञान के बिना इस परमपद (मोक्ष) को चाहे जितने तपसाधन करते हुए भी कोई प्राप्त नहीं कर सकता है। अतः यदि तुझे कर्मबंधन में से मुक्ति चाहिए तो उसी का स्वीकार कर। (२०५)

यदि तुझे पारमार्थिक सुख चाहिए तो इस परमात्म तत्त्व में ही सदा लीन रह, उसी में सदा संतुष्ट रह और उसी में तृप्त रह। (२०६)

यदि किसी मनुष्य को बहुत अधिक समय से किसी बंधन में डाल रखा हो और वह मनुष्य उस बंधन के विषय में चाहे जितने विचार करता रहे इसी से वह उसमें से मुक्त नहीं हो सकता है परंतु यदि वह उस बंधन को काट डाले तो उसमें से छूट सकता है, इसी प्रकार से संसारबद्ध जीव के लिए भी समझना चाहिए। (२९१)

बंधन का तथा आत्मा का स्वरूप जानकर जो मनुष्य बंधन से विरक्त होता है वह अपनी मुक्ति साध सकता है। (२९३)

आत्मा का ज्ञान प्रज्ञा के द्वारा ही हो सकता है; प्रज्ञा

के द्वारा आत्मा को अन्य द्रव्यों में से अलग करना, इसी का अर्थ है उसे (आत्मा को) जानना। (२९६)

प्रज्ञा के द्वारा अनुभव करना चाहिए कि, जो दृष्टा है वही मैं हूं, अन्य सभी जो भाव हैं वे मेरे से परे हैं। (२९८)

शुभ अशुभ रूप आकर तुझे नहीं कहता है कि तू मुझे देख; तथा आंखों के नजर पड़ने से भी उसे रोका नहीं जा सकता, परन्तु तू अहितकारी बुद्धिवाला बनकर उसे स्वीकारने या त्यागने का विचार किस लिए करता है और शांत क्यों नहीं रहता है ? (३७६, ३८२)

भिन्न भिन्न संप्रदाय के संन्यासियों या गृहस्थों के चिन्ह धारण करके मूढ़ लोग मानते हैं कि ऐसा वेष धारण करना ही मोक्ष है। परन्तु बाह्य वेष मोक्ष का मार्ग नहीं है। जिनों ने तो स्पष्ट बताया है कि दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही मोक्ष मार्ग है। (४०८, ४१०)

उसी मोक्ष मार्ग में तेरे आत्मा को स्थापित कर उसी का ध्यान धर और उसी का आचरण कर; अन्य द्रव्यों में विचरना छोड़ दे।

सुभाषित ६

श्री कुंदकुंदाचार्य के प्रवचनसार में से अनुवादित

अनेक प्रकार के सुखों को प्राप्त करने की इच्छा से बहुत पुण्य किए हों तो उनके प्रभाव से देव वर्ग तक के जीवों को (वे वे पदार्थ प्राप्त होते हैं तथा साथ ही साथ उन) विषयों के लिए तृष्णा खड़ी होती है। (१, ७४)

जागी हुई तृष्णा वाले वे जीव, तृष्णा से दुःखी होकर, फिर विषय सुख की इच्छा करते हैं और मृत्यु तक तृष्णा के दुःख से संतप्त होकर उन सुखों का अनुभव करते रहते हैं। (१, ७५)

परन्तु इन्द्रियों से प्राप्त होता हुवा सुख दुःख रूप ही है, कारण कि इन्द्रिय जनित सुख सदा पराधीन, विघ्न युक्त, विनाशी, बंधन का कारण तथा अतृप्तिकर होता है। (१, ७६)

शरीर तो कभी जीव को इस लोक में या देवलोक में सुख नहीं देता है; स्वयं को प्रिय या अप्रिय विषय ग्रहण कर आत्मा स्वयं ही सुख या दुःख के भाव में परिणमित होता है। (१, ६६)

इन्द्रियों के आश्रित रहे हुए प्रिय विषयों के पाकर

स्वभाव से ही सुखरूप में परिणाम पाता हुवा आत्मा ही सुखरूप बनता है; शरीर सुखरूप नहीं है । (१, ६५)

यदि साधक प्रमादपूर्वक आचरण करता है तो उसे निश्चित ही जीवहिंसा लगती है चाहे जीव मरे या न मरे; परंतु यदि साधक अप्रमादी है, यत्नपूर्वक आचरण करते हुए भी उससे जीव हिंसा हो जाय तो उसे उसका पाप नहीं लगता है। (अर्थात उसको लगा हुवा पाप प्रायश्चित आदि से शीघ्र नष्ट होता है) (३, १७)

जो मुनि जीव जंतु मरते हैं या बचते हैं इस बात की परवाह न करते हुए (प्रयत्न न करते हुए) प्रवृत्ति करता है, तो चाहे उसके द्वारा एक भी जीव मरता हो या न मरता हो तो भी उसको छः ही जीव वर्ग मारने का बंधन होता है, परन्तु यदि वह प्रयत्न पूर्वक प्रवृत्ति करता हो और यदि उसके द्वारा जीव मर जाय तो भी वह जल में कमल की तरह निर्लेप रहता है। (३, १८)

शारीरिक प्रवृत्ति करते हुए यदि जीव मर जाय तो बंध हाता भी है और नहीं भी होता है परन्तु परिग्रह से तो बंध होता ही है। अतः विवेकी श्रमण तमाम परिग्रह का त्याग करे। (३, १९)

जहां तक निरपेक्ष त्याग न किया जाय तब तक चित्त शुद्धि नहीं हो सकी है और जब तक चित्त शुद्धि नहीं है तब तक कर्मक्षय कैसे हो सकता है ? (३, २०)

जो परिग्रही है उसमें आसक्ति, आरंभ या असंयम क्यों न होंगे ? वैसे ही जब तक पर द्रव्य में आसक्ति है तब तक आत्मा का साधन किस तरह से हो सकता है ? (३, २१)

जिसकी प्रवृत्तियां जीव जन्तु के न मर जाने में प्रयत्न-शील हैं; जिसके मन-वाणी-काया सुरक्षित हैं; जिसकी इन्द्रियां नियंत्रित हैं; जिसके विकार जीते गए हैं, जिसमें श्रद्धा और ज्ञान परिपूर्ण है तथा जो संयमी है वही श्रमण कहलाता है। (३, ४०)

सच्चा श्रमण शत्रु-मित्र में, सुख-दुख में, निंदा-प्रशंसा में मिट्टी के ढेले में और सोने में, तथा जीवन और मृत्यु में सम वुद्धि वाला होता है। (३, ४१)

श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र इन तीनों में जो एक ही साथ प्रयत्नशील है, तथा जो एकाग्र है, उसका श्रमणपना परिपूर्ण कहलाता है। (३, ४२)

जिसे पदार्थों में राग, द्वेष या मोह नहीं है, वही श्रमण विविध कर्मों का क्षय कर सकता है। (३, ४४)

जिसे इस लोक या परलोक में कोई आकांक्षा नहीं है, जिसके आहार विहार प्रमाणसर है, तथा जो क्रोधादि विकार से रहित है वही सच्चा श्रमण है। (३, २६)

आत्मा में पर द्रव्य की कुछ भी आकांक्षा न होना ही वास्तव में उपवास (तप) है। सच्चा श्रमण इसी तप की

आकांक्षा रखता है। भिक्षा द्वारा मांग कर लाए हुए निर्दोष अन्न को खाता हुवा भी वह अनाहारी ही है। (३, २७)

सच्चे श्रमण को शरीर के अतिरिक्त अन्य कोई परिग्रह नहीं होता है। इस शरीर में भी उसे ममत्व न होने से वह उसका अयोग्य आहारादि के द्वारा पालन नहीं करता है। एवं जरा सी भी शक्ति की चोरी न करता हुवा वह उसे तप में लगाता है। (३, २८)

बालक हो, बूढ़ा हो, थका हुवा हो या रोगग्रस्त हो तो भी श्रमण अपनी शक्ति के अनुरूप ऐसा आचरण करे कि जिससे उसके मूल संयम का भंग न हो। (३, ३०)

आहार या विहार के विषय में श्रमण यदि देश, काल, श्रम शक्ति और (बालवृद्धत्वादि) अवस्था को देखकर विचार कर आचरण करता है तो उसे कम से कम बंधन होता है।

(३, ३१)

मुमुक्षु का सच्चा लक्षण एकाग्रता है। परंतु जिसे पदार्थों के स्वरूप का यथार्थ निश्चय हुवा हो वही एकाग्रता प्राप्त कर सकता है। पदार्थों के स्वरूप का निश्चय शास्त्रों के द्वारा ही हो सकता है; अतः शास्त्र ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न, सभी प्रयत्नों में उत्तम है। (३, ३२)

शास्त्र ज्ञान रहित मुमुक्षु अपना या पराया स्वरूप नहीं समझ सकता है और जिसे पदार्थों के स्वरूप की समझ नहीं है वह कर्मों को क्षय कैसे कर सकता है? (३, ३३)

सभी भूत प्राणियों को इन्द्रियां रूपी चक्षु है; देवों को अवधि ज्ञान रूपीं चक्षु है; केवल ज्ञानी मुक्त आत्माओं को सर्वतः चक्षु है और मुमुक्षु को शास्त्ररूपी चक्षु है। (३, ३४)

सभी पदार्थों का (गुण-पर्यायों सहित) विविध ज्ञान शास्त्र में है। मुमुक्षु शास्त्ररूपी चक्षु के द्वारा उनको देख सकता है या जान सकता है। (३, ३६)

जिसकी श्रद्धा शास्त्रपूर्वक नहीं है, उसके लिए संयमाचरण संभव नहीं है और जो संयमी नहीं है, वह मुमुक्षु कैसे हो सकता है ? (३, ३६)

श्रद्धा के बिना कोरे शास्त्र ज्ञान से मुक्ति संभव नहीं है; उसी प्रकार से आचरण के बिना मात्र श्रद्धा से भी कुछ नहीं होने वाला है। (३, ३७)

जिसे देहादि में अणु जितनी भी आसक्ती है, वह मनुष्य चाहे सभी शास्त्र क्यों न जानता हो फिर भी मुक्त नहीं हो सकता है। (३, ३९)

संकलित

राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार।
मरना सबको एक दिन अपनी अपनी बार ।। १ ।।

आप अकेलो अवतरै, मरै अकेलो होय।
यूं कबहुं इस जीव को साथी सगा न कोय ।। २ ।।

मोह नींद जोर जगवासी घूमे सदा।
कर्म चोर चहुं ओर, सरबस लूटैं सुधि नहीं ।। ३ ।।

पंच महाव्रत संचरन, समिति पंच परकार।
प्रबल पंच इन्द्री-विजय धार निर्जरा सार ।। ४ ।।

सतगुरु देय जगाय मोह नींद जब उपशमै।
तब कछु बनहिं उपाय कर्मचोर आवत रुकै ।। ५ ।।

धनकन कंचन राज सुख सबहि सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसार में एक जथारथ ज्ञान ।। ६ ।।

दाम बिना निर्धन दुखी, तृष्णावश धनवान,
कहूं न सुख संसार में, सब जग देखो छान ।। ७ ।।

दोपै चाम चादर मढ़ी हाड़ पींजरा देह।
भीतर या सम जगत में अवर नहीं घिनगेह ।। ८ ।।

चौदह राजु उतंग तभ, लोक पुरुष संठान ।
तामें जीव अनादि तें भरमत हैं बिन ज्ञान ॥ ९ ॥

ज्ञान दीप तप तेल भर घर शोधे भ्रम छोर ।
या विध बिन निकसें नहीं पैठे पूरब चोर ॥ १० ॥

दलबल देई देवता मातपिता परिवार ।
मरती बिरियाँ जीव को कोई न राखन हार ॥ ११ ॥

जहां देह अपनी नहीं तहां न अपनो कोय ।
घर संपति पर परगट ये पर हैं परिजन लोय ॥ १२ ॥

(१) मन के संबंध में पद्य यशोविजयजी कृत

जब लग मन आवे नहिं ठाम ।
तब लग कष्ट क्रिया सवि निष्फल, ज्यों गगने चित्राम ॥१॥

करनी बिन तू करे रे मोटाई, ब्रह्मवती तुज नाम ।
आखर फल न लहोगें ज्यों जग, व्यापारी बिनु दाम ॥२॥

मुँड मुंडावत सब ही गडरिया, हरिण रोझ बन धाम ।
जटा धार वट भस्म लगावत, रासभ सहतुं घाम ॥३॥

एते पर नहिं योग की रचना, जो नहिं मन विश्राम ।
चित्त अंतर पर छलवेकु चिंतवत, कहा जपत मुख राम ॥४॥

वचन काय गोपे दृढ़ न धरे, चित्त तुरंग लगाम ।
तामे तु न लहे शिव साधन जिऊं कण सूने गाम ॥५॥

पढ़ो ज्ञान धरो संजम किरिया, न फिरावो मन ठाम ।
चिदानंद घन सुजस विलासी, प्रगटे आतम राम ॥६॥

(२) विनय विजयजी कृत

मन न काहु के वश, मन किये सब वश ।
मन की सो गति जाने याको मन वश है ॥ १ ॥

पढ़ौ हो बहुत पाठ तप करो जैने पाहार ।
मनवश किए बिनु तप जप वश है ॥ २ ॥

काहु कुं फिरे है मन काहु न पावेगो चैन ।
विषय के उमंग रंग कछु न दूर सहे ॥ ३ ॥

सोऊ ज्ञानी सोऊ ध्यानी सोऊ मेरे जिया प्रानो ।
जिने मन वश कियो वाही को सुजस है ॥ ४ ॥

विनय कहे सौ धनु याको मन छिनुं छिनुं ।
साईं साईं साईं साईं साईं में तिरस है ॥ ५ ॥

(३) ज्ञानविमल सूरिकृत—वैराग्योपदेश पद्य

वालमिया रे विरथा जनम गमायो ।

परसंगत कर दस दिसि भटका, परसें प्रेम लगाया ।
परसें जाया, पर रंग भाया पर कुं भोग लगाया ॥वाल॥१॥

माटी खाना माटी पीना माटी में रम जाना ।
माटी चीवर माटी भूषण, माटी रंग सो भीना रे ॥वाल॥२॥

परदेशी से नातरा कीना माया में लपटाना ।
निधि संयम ज्ञानानंद अनुभव गुरु बिन नाहिं लहाना रे ॥३॥

श्री आनंदघन पद्य रत्न

(१)

क्या सोवे उठ जाग बाउरे ।। क्या० ।। टेक ।।

अंजलि जल ज्युं आयु घटत है,
देत पहोरिया घाउ रे ।। क्या० ।। १ ।।

इंद्र चंद्र नागिंद्र मुनिंद्र चले, कोण राजा पतिसाह राउरे;
भमत भमत भवजलधि पायके,
भगवंत भजन विन भाऊ नाऊ रे ।। क्या० ।। २ ।।

कहा विलंब करे अब बाउरे, तरो भवजलनिधि पाउ;
आनंदघन चेतन मय मूरति, शुद्ध निरंजन देव ध्याउ रे ।।३।।

(२)

रे घरियारी बाउरे, मत घरीय बजावे;
नर सिर बांधत पाघरी, तू क्या घरीय बजावे ।।रे घरि०।।१।।

केवल काल कला कले, वै तू अकल न पावे;
अकल कला घट में धरी, मुझ सो धरी भावे ।.रे घरि०।।२।।

आतम अनुभव रस भरी, या में और न भावे;
आनंदघन अविचल कला, विरला कोई पावे ।। रे घरि।।३।।

शब्दार्थ—बाउरे = पागल । पहोरिया = पहरेदार । घरिय = घंट, घड़ी । भाउ = भाई । नाउ = नहीं । पाघरी = पाव धड़ी, पगड़ी । अकल = अदृश्य । मावे = समावे ।

(३)

मूलड़ो थोड़ो भाई व्याज घणो रे, केम करी दीधो रे जाय;
तलपद पूंजी में आपी सघली रे, तोहे व्याज पूरूं नवि थाय ॥१॥
व्यापार भागो जलवट थल वटें रे, धीरे नहीं निसानी माय;
व्याज छोड़ावी कोई खंदा पर वठे रे, तो मूल आपूं सम खाय २
हाटडुं माडुं रूड़ा माणक चोक मां रे, साजनीयां नुं मनडु मनाय;
आनंदघन प्रभु शेठ शिरोमणि रे, बांहड़ी झालजोरे ॥३॥

शब्दार्थ—तलपद = जमीन झाड़कर—संपूर्ण । धीरे = उधार देवे । खंदा पर वठे = किस्त करा दे । सम = सोगन—शपथ । हाटडुं = दुकान । साजनीयां = प्रभु । झालजो = पकड़जो ।

(४)

प्रभु भजले मेरा दिल राजी रे ॥ प्रभु० ॥
आठ पोहोर की चोसठ घड़ियां दो घड़ियां जिन साजी रे ॥१॥
दान पुण्य कछु धर्म कर ले, मोह माया कुं त्याजी रे ॥प्र०॥२॥
आनंदघन कहे समझ समझ ले, आखर खोवेगा बाजी रे ॥३॥

गीत-गाले

(तर्ज रिमझिम बरसे बादर वा) श्री केवल मुनिजी कृत

पल पल बीते उमरिया, मस्त जवानी जाये ।
प्रभु गीत गाले गाले, प्रभु गीत गाले ।। टेर ।।
प्यारा प्यारा बचपन पीछे, खो गया, खो गया ।
यौवन पाकर तू मतवाला हो गया, हो गया ।
बार बार नहीं पावेरे ।
बहती गंगा है प्यारे, मौका है न्हाले गाले ।। प्रभु ।।

कैसे-कैसे बांके जग में हो गये हो गये ।
खेल-खेल कर अंत जमीं पर सो गये, सो गये ।।
कोई अमर नहीं आया रे ।
पंछी है फूल रंगीले, मुर्झाने वाले गाले ।। प्रभु ।। २ ।।

तेरे घर में माल मसाले होते हैं, होते हैं ।
भूख के मारे कई विचारे रोते है रोते हैं ।।
उनकी कौन खबर ले रे ।
जिनके नहीं तनपे कपड़ा, रोटियों के लाले, गाले ।।प्रभु।। ३।

गौरा-गौरा देख बदन क्यों फूला है फूला है ।
चार दिनों की जिंदगानी पर भूला है, भूला है।।
जीवन सफल बना लेरे ।
'केवल' मुनि समझावे, ओ जाने वाले गाले ।। प्रभु ।। ४ ।।

सब ठाठ पड़ा रह जावेगा जब लाद चलेगा बनजारा

शायर—नजीर

नज्म में जो १, २ आदि संख्या शब्दों के आगे दी है, उनके अर्थ अंत में हैं

(१)

टुक हिर्सो हवा १ को छोड़ मियां, मत देस विदेस फिरे मारा;
कज्ज़ाक २ अज़ल ३ का लूटे है, दिन रात बजाकर नक्कारा४।
क्या बधिया-भैंसा-बैल शुतर५, क्या गौएं पिल्ला सरभारा;
क्या गेहूं चांवल मोठ मटर क्या आग धूंआ, क्या अंगारा ।।
सब ठाठ पड़ा रह जावेगा, जब लाद चलेगा बनजारा,
कज्ज़ाक अज़ल का लूटे है दिन रात बजा कर नक्कारा ।। सब ठाठ।।

(२)

गर तू है लक्खी बनजारा और खेप भी तेरी भारी है।
अय ग़ाफल ! ६ तुझसे भी चढ़ता एक और बड़ा बेपारी है ।
क्या शक्कर-मिसरी-कंद-गिरी, क्या सांभर-मीठा-खारी है;
क्या दाख-मुनक्का-सोंठ-मिरच, क्या केसर-लोंग-सुपारी है ।।सब ठाठ।।

(३)

यह खेप भरे जो तू जाता है वह मियां मत गिन अपनी;
अब कोई घड़ी पल साअत में यह खेप बदन की है कफ़नी। ७
क्या थाल-कटोरे-चांदी के, क्या पीतल की डिबिया-ढकनी;
क्या बरतन सोने-रोपे के, मिट्टी की हंडिया ढकनी ।। सब ठाठ ।।

(४)

यह धूम धड़ाका साथ लिये क्यों फिरता है जंगल जंगल,
एक तिनका साथ न जावेगा, मौजूद हुवा जब आन अज़ल ।
घर बार-अटारी चौपारी, क्या खासा-ननसुख और मलमल;
क्या चिलमन ८ पर्दे-फर्श नये, क्या लाल पलंग और रंग महल ।।स. ठा.।।

(५)

हर मंजिल में अब साथ तेरे यह जितना डेरा-डांडा है;
ज़र ९ दाम १० दिरमका भांडा है,बन्दूक सिपाह और खाँडा है ।
जब नायक ११ तन से निकलेगा, जो मुल्कों मुल्कों हांडा १२ है;
फ़िर हांडा है न भांडा है, न हलवा है न मांडा है ।। सब ठाठ ।।

(६)

कुछ काम न आवेगा तेरे, यह लाल ज़मुरद १३ सीमोज़र १४ ;
सब पूंजी बाट में बिखरेगी जब आन बनेगी जान ऊपर ।
नौबत-नक्कारे-बान १५ निशां-दौलत१६ हशमत १७ फौज-लश्कर;
क्या मसनद १८ तकिया-मुल्क--मकां, क्या चौकी-कुरसी- तख्त छतर ।।

(७)

क्यों जी पर बोझ उठाता है, इन गोनों १९ भारी भारी के;
जब मौत लुटेरा आन पड़ा, फिर दूने है बेपारी के ।
क्या साज़ जड़ाऊ-ज़र-जेवर, क्या गोटे थान-किनारी के;
क्या घोड़े जीन सुनहरी के, क्या हाथी लाल अमारी के ।।७।। सब ठाठ

(८)

मग़रूर २० न हो तलवारों पर मत भूल भरोसे ढालों के;
सब पटा तोड़के भागेंगे मुह देख अज़ल के भालों के ।
क्या डब्बे मोती-हीरों के क्या ढेर खजाने मालों के,
क्या बुग़ाचे २१ तार-मुशज्जर २२ के, क्या तख्ते २३ शाल-दुशालों के ।।

(९)

क्या सख्त मकां बनवाता है, खम २४ तेरे तन का है पोला;
तू ऊंचे कोट उठाता है, वहां तेरी गोर २५ ने मुह है खोला ।
क्या रेती-खंदक-रूंद बड़े, क्या बुर्ज-कंगूरा अनमोला;
गढ़-कोट-रहनला २६ तोप-किला, क्या सीसादारू और गोला ।। सठा-।।

(१०)

हर आन नफे और टोटे मे क्यों मरता फिरता है बन बन;
अय. गाफिल दिल में सोच जरा, है साथ लगे तेरे दुश्मन।
क्या लौंडी-बाँदी-दाई-दादा, क्या बंदा-चेला-नेक चलन;
क्या मंदिर-मस्जिद-ताल-कुएं, क्या घाट-सरा क्या बाग चमन ।।सब ठाठ।।

(११)

जब चलते-चलते रस्ते में यह गौन २७ तेरी ढल जावेगी;
फ बधिया २८ तेरी मिट्टी पर, फिर घास न चरने आवेगी।
यह खेप जो तूने लादी है, सब हिस्सों में बट जावेगी;
धी २९ पूत-जंमाई-बेटा क्या, बन राजी, पास न आवेंगी ।। सबठाठ ।।

(१२)

जब मुर्ग ३० फिरा कर चाबुक को, यह बैल बदन का हाँकेगा,
कोई नाज समेटेगा तेरा कोई गौन सिये और टांकेगा।
हो ढेर अकेला जंगल में, तू ख़ाक लहद ३१ की फांकेगा:
उस जंगल में फिर आह ! "नजीर" एक तिनका आन न झाँकेगा ।।

शब्दार्थ नंबरों से=१--आशातृष्णा, २—डाकू, ३—मौत,—४ नगारा, ५—ऊंट, ६—बेपरवाह, ७—कफ़न, मुर्दे को ओढ़ाने का कपड़ा ८—छत, ९—धन, १०—सिक्का, ११—आत्मा, १२—सूना, १३—पन्ना, १४—चान्दी सोना, १५—ध्वजा, १६—सपत्ति, १७—इज्जत, १८—गादी १९—माल असबाब, २०—अभिमानी, २१—गठरी, २२—जरी-गोटा, २३—थान, २४--हड्डियां-ढांचा, २५—कब्र-स्मशान, २६—सुरक्षिक, २७—देह, २८—बछड़ी-केरड़ी, २९—बेटी, ३०—प्राण पंखेरू, ३१—कब्र।